

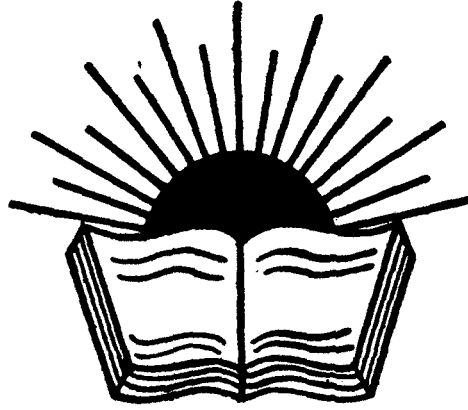
अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध-सार

★

(१९७८ ई०)

संस्कृत साहित्य में लोकतत्त्व  
( FOLK ELEMENT IN SANSKRIT LIT. )



निर्देशक :  
डा० परमानन्द शास्त्री  
रीडर, संस्कृत-विभाग,  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय,  
अलीगढ़ ।

प्रस्तोता :  
सत्यप्रकाश शर्मा

## संस्कृत साहित्य में लोक तत्त्व

### शोध-प्रबन्ध-सार

संस्कृत साहित्य की सामान्यतः या तो लोक परम्परागत शैली में सामन्ती संस्कृति का चित्रण करने वाला साहित्य समझा जाता रहा है, या फिर उसे ज्ञान-वैराग्य-धर्म की त्रिवेणी से सम्बन्धित किया गया है। केवल मेक्डॉनल और विन्टरनिट्ज़ जैसे एक दो विद्वानों ने अवश्य इसमें लोक जीवन के दर्शन किये हैं। किन्तु उन्होंने भी केवल संस्कृत कथा साहित्य के ही परिप्रेक्ष्य में लोकागम (फोकलॉर) की महत्ता और उसकी विश्व व्यापकता को स्वीकारा था। लेकिन वास्तविकता यह है कि संस्कृत साहित्य की प्रत्येक विधा में लोक अवश्य मौजूद मिला। संस्कृत साहित्य का अधिकांश राज-दरबारों में ही रचा गया, यह बात सही है, किन्तु इससे भी यथार्थ सत्य तो यह है कि उसकी प्रेरणा का मूल स्रोत लोक रहा है। लोक में उसकी आत्मा निवास करती है, लोक ही उसका लक्ष्य भी रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हमने संस्कृत साहित्यकी इस द्विपी हुई किन्तु सर्वाधिक मूल्यवान् निधि को ही उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

यह शोध प्रबन्ध विषय प्रवेश के अतिरिक्त आठ परिच्छेदों में विभक्त है। विषय प्रवेश के अन्तर्गत साहित्य और जीवन के सम्बन्धों पर सामान्य चर्चा के उपरान्त संस्कृत साहित्य के भारतीय समाज के प्रति दृष्टिकोण की समीक्षा की गई है। संस्कृत कवि जीवन के प्रति निराश कभी नहीं रहा, इसी लिये उसके साहित्य में दैन्य नहीं है। जीवन से फ्लायन-वादी प्रवृत्ति नहीं है, वह इस लोक के जीवन में गहरी आस्था रखता है और भावी जीवन के प्रति सचेष्ट रहता है।

संस्कृत साहित्य की पावन धारा उत्तर वैदिक काल से लेकर आज तक निर्बाध गति से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस बीच यह देश अनेक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रांतियों का अखाड़ा बना रहा है। परिणामतः इन परिस्थितियों का प्रभाव संस्कृत साहित्य पर भी पड़ना स्वाभाविक था। साहित्य में पुरानी प्रवृत्तियों का लोक और अनेक नवीन प्रवृत्तियों की उद्भावना का भी संक्षिप्त

परिचय प्रवेश के ही अन्तर्गत दिया गया है ।

विषय प्रवेश की उत्तर पीठिका में लौक-विषय<sup>१</sup> अध्ययन के सैद्धान्तिक पक्ष पर चर्चा करते हुए श्रीजी के (" फौक लौर " शब्द के लिये संस्कृत शब्द " लौकागम " निश्चित किया गया है । अभी तक हिन्दी में फौक लौर के लिये लौक-वार्ता शब्द का ही प्रचलन है जिसका सांस्कृतिक संपन्न किया गया है । अन्त में संस्कृत साहित्य में लौकागम की परिव्याप्ति पर भी विचार किया गया है ।

संस्कृत साहित्य की अधिकांश विधाएं मूलतः लौक साहित्य की विधायें हैं जिन्हें संस्कृत कवियों ने उसी नाम और रूप के साथ अपनाने का प्रयत्न किया है । उनमें इस प्रयत्न से संस्कृत साहित्य की गति, प्रेरणा एवं जीवन मिला है । यह निश्चित है कि यदि संस्कृत साहित्य ने अपने समसायिक साहित्य से समायोजन न किया होता तो न तो संस्कृत साहित्य का रूपात्मक विकास होता और न प्रवृत्त्यात्मक ही । शोध प्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में संस्कृत साहित्य की अनेक विधाओं की लौक-मूलता पर प्रकाश डाला गया है । संक्षेप में यह लौक विधायें हैं - कथा, गाथा, गीति, रूपक - माहा, प्रबन्ध, छिन्, छंदमूलक आदि । इनमें अतिरिक्त संस्कृत साहित्य ने दोहा चर्चरी, गाथा आदि लौकिक शब्दों को अपनाने के साथ साथ अनेक लौक-मूलक प्रवृत्तियों को भी अपनाया है ।

द्वितीय परिच्छेद प्रथम बार संस्कृत साहित्य में प्रतिदिशित जन-जीवन की रूप रेखा प्रस्तुत करता है । इससे पूर्व जितने भी संस्कृत काव्यों का सांस्कृतिक अध्ययन हुआ, उनमें लौक जीवन की उपेक्षा कर दी गई थी, समाज का सांस्कृतिक वर्गीकरण में परम्परागत शैली में ही होता आ रहा था । किन्तु यहाँ प्रथम बार समाज का वर्गीकरण भी आर्थिक समाज शास्त्रीय आदि दृष्टियों से किया गया है जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का चित्र प्रस्तुत किया जा सका है ।

लौक मानस में धर्म का अस्तित्व अनादि काल से चला आ रहा है । उसमें अनेक देवी-देवताओं की मान्यता की जड़ें हतनी गहरी हैं कि आज के विज्ञान के युग में भी मानव उससे मुक्त नहीं है । तृतीय परिच्छेद लौक धर्म के स्वरूप और लौक में पूजे जाने वाले विभिन्न देवी-देवताओं का परिचय तथा मन्त्र - तंत्र - यन्त्र आदि

कै विषय में लोक दृष्टि से पर्याप्त साक्षिणी प्रस्तुत करता है । हर परिच्छेद में प्रथम बार विष्णु, ब्रह्मा, इन्द्र जैसे वैदिक देवताओं का भी लोक धर्म से सम्बन्धित दिखाया गया है और मन्त्र - तन्त्र - यन्त्र का लोक के धार्मिक साहित्य की कौटि में परिगणित किया गया है ।

मानव समाज में लोकाचार एवं रीति-रिवाज कानून का काम करते हैं । प्रत्येक समाज में कुछ विशिष्ट आचारों-विचारों और रीति-रिवाजों की मान्यता होती है । संस्कृत का <sup>साहित्य</sup> सस्त्वि-यद्यपि शिष्ट जनों द्वारा प्रणीत साहित्य है तथापि उसमें अनेक दैर्घ्याचारों और रीतियों का उल्लेख मिलता है । विभिन्न धर्म शास्त्रीय ग्रन्थ भी स्पष्ट रूपसे संस्कारों में भी अनेक लोकाचारों का पालन आवश्यक मानते हैं । चौथे परिच्छेद में इन्हीं का वर्णन किया गया है ।

लोक मानस अन्ध-विश्वासों का दास होता है । शिष्टातिशिष्ट और प्रबुद्ध वर्ग में भी अनेकों ऐसे विश्वास अथवा जट्टे जमाये हैं जिन्हें अन्ध विश्वास कहा जायेगा । संस्कृत साहित्य में कुछ तो अन्ध-विश्वास पुराणों की देन हैं और कुछ लोक मानस की आदिम परम्परा के । पाँचवाँ परिच्छेद इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालता है ।

छठा परिच्छेद लोकात्सवों का विवरण प्रस्तुत करता है । उत्सव मानव जीवन का आवश्यक अंग है, उनके अभाव में जीवन नीरस एवं बौधिल बन जाता है। शृंगार के अधिष्ठाता देव काम का प्रिय मित्र वसन्त संस्कृत कवियों का भी प्रिय पात्र रहा है इसी लिये संस्कृत साहित्य में वसन्त ऋतु और उसमें मनाये जाने वाले उत्सवों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है । कुछ अन्य लोकात्सवों का भी उल्लेख मिलता है ।

मनुष्य की वासनात्मक प्रवृत्ति शृंगार को जन्म देती है और शृंगार की भावना कला को । फलतः कला केवल शिष्ट वर्ग की ही सम्पत्ति नहीं है । जन सामान्य में भी कला-प्रियता उसी स्तर पर होती जा सकती है जितनी की किसी शिष्ट वर्ग में । प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का सातवाँ परिच्छेद कला के प्रयोजनों की चर्चा के अनन्तर विभिन्न लोक कलाओं का वर्णन करता है ।

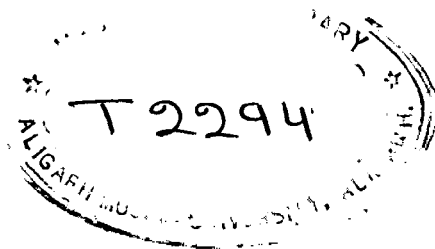


भाषा का प्रवाह नदी के उस प्रवाह के समान होता है जो अपने में अनेक नदी-नालों के पानी को समेटता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता रहता है । संस्कृत भी इसका अपवाद नहीं है। उसमें विभिन्न देशी भाषाओं के अनेक शब्द या तो ज्यों-की-त्यों ग्रहण कर लिये गये हैं या फिर उनका संस्कृत रूपान्तर कर लिया गया है । अनेक विदेशी भाषाओं के शब्द भी विदेशी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के कारण संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं । ऐसे अनेक देशी-विदेशी शब्दों का अर्थ कहीं-कहीं कवियों ने मन माने ढाँ से कर लिया है । भाषा विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में इस प्रक्रिया को लोक निरुक्ति कहते हैं । आठवें परिच्छेद में इसी विषय पर सञ्क्षिप्त चर्चा की गई है ।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में प्रारम्भ से अन्त तक संस्कृत साहित्य का एक नये दृष्टि कोण से मूल्यांकन करने का विनम्र प्रयत्न किया गया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को देखने से संस्कृत साहित्य में उपलब्ध लोकागम विषयक सामग्री की विप्लुता का अनायास ही बोध हो जायेगा । वस्तुतः यह सामग्री हतनी विप्लु मात्रा में है कि उस पर कहीं पीढ़ियाँ अपना जीवन सपा सकती हैं । अतः यह शोध प्रबन्ध इस कार्य का प्रवेश-द्वार ही है ।

2063



127 02 1981



T2294

4  
CHECKED-2002

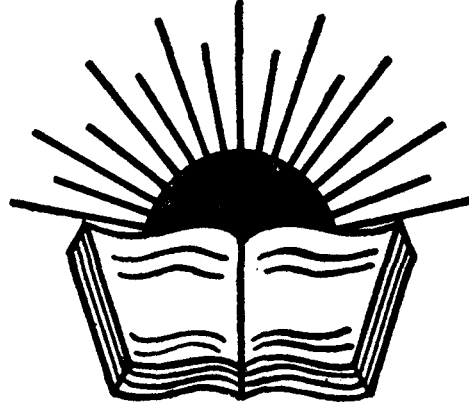
अलीगढ़ मुस्लिम विश्व विद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

★

(१९७८ ई०)

संस्कृत साहित्य में लोकतत्त्व  
( FOLK ELEMENT IN SANSKRIT LIT. )



निर्देशक :

परमानन्द शास्त्री  
डॉ०, संस्कृत-विभाग,  
मुस्लिम विश्व विद्यालय,  
अलीगढ़ ।

प्रस्तोता :

सत्यप्रकाश शर्मा

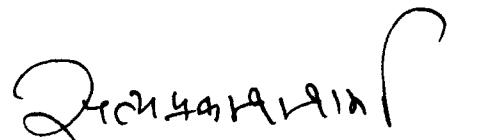
आचार्य मम्मट ने शक्ति निष्ठाता और अभ्यास के समवाय को काव्य का हेतु घोषित किया है। शक्ति सहज प्रातिम संस्कार है किन्तु निष्ठाता और अभ्यास प्रयत्नोपलभ्य परिष्कार । काव्य मर्मज्ञों के क्राये "गुरु" अभ्यास के समग्रता की और अग्रसर करते है किन्तु निष्ठाता लोकशास्त्रादि के अवैक्षण से ही प्राप्त हो सकती है । मनुष्य का सबसे बड़ा गुरुकुल संसार, पाठ्यग्रन्थ जीवन और सबसे महान् शिक्षक लोक है । यही कारण है काव्य के प्रयाससाध्य हेतुत्व में लोक को सर्वोपरि स्थान मिला है, शास्त्र ज्ञान उसके पश्चात् ही आता है । अतः लोक (आचार्य) विवर्जित पण्डित हास्य के ही आरूप बना करते हैं । साथ ही यह कि लोकतत्त्व साहित्य का विशेषक ही नहीं अपितु प्राणप्रद भी है ।

संस्कृत साहित्य को सामान्यतः लोक जीवन से अलग-थलग समाज के एक विशिष्ट वर्ग का दर्पण समझा जाता रहा है किन्तु गहरे पैठने पर यह प्रान्ति दूर हो जाती है । मम्मट के काव्य हेतु प्रतिपादक सूत्र में लोक शब्द के साक्षु समावेश की और उचित करते हुए मेरे निदेशक से पूज्य गुरुवर डॉ० परमानन्द शास्त्री ने जब मुझे अपने शोध कार्य के लिये संस्कृत साहित्य में लोकतत्त्व विषय सुझाया तो मुझे जैसे कोई अपनी ही मूली = विसरी वस्तु मिल गई क्यों कि नागर कृत्रिमता से दूर गाँव में जन्मा और पला = पोसा होने के कारण मुझे लोक से अपेक्षाकृत अधिक लगाव होना स्वाभाविक है । इस द्ये योग्य भी उपदेश लेना

संस्कृत साहित्य का इस दृष्टि से व्यवस्थित अध्ययन एक नये क्षेत्र की द्वाह लेना जैसा प्रीति हुआ और मैं इस कार्य में जुट गया । मेरे ज्ञान साधन और समय की अनुदार सीमाओं में आबद्ध होने पर भी इस कृति की सामयिक ज्येष्ठता स्वीकृति हो सकी यह मेरा विश्वास है । गुणों की दृष्टि से इसका मूल्यांकन "विह्वलन परिष्कृत विज्ञाता" विद्वान् ही कर सकेंगे । क्यों कि अनजाने और अक्षुण्ण विद्याम मार्ग से लक्ष्य तक पहुँचने की प्रक्रिया में पहुँचने वाले पाठों की कन्टक व्यथा को उन्होंने फोला है । मेरी दृष्टि तो अपने स्वतन्त्र पर ही अधिक जाती है प्रारम्भ में जो सहज संग्राह्य लगा उसका अन्तरी बड़ा व्यापक सिद्ध हुआ । लगा कि इस विषय के एक = एक की पर स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है

“ज्या ज्यों मेरे ढ़ेन लखे रूप अगाध <sup>अमर</sup> अमर ।” अतः व्यास शैली से बिये हुए प्रारम्भ की परिणति क्रमशः समाप्त में परिणत हो गई अव्यापन कार्य एवं अनेक अन्य आकस्मिक व्यस्तताओं के कारण विश्व विद्यालय द्वारा निर्यत अवधि के साथ सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा में बहुत कुछ काट <sup>काट</sup> काट <sup>काट</sup> हुआ है । और टफण की अशुद्धियाँ भी । विश्वास है सुधीजन उनकी अनदेखा करके समाविष्ट तत्त्व पर दृष्टि जमायें और कुछ न कुछ सार अवश्य पायें ।

प्रस्तुत शोध कार्य को सम्पादित करने की प्रेरणा, प्रोत्साहन और निर्देशन पूज्य गुरुवर डा० परमानन्द शास्त्री का प्राप्त हुआ है । कथं उनके चरणों में अज्ञात समर्पित करने के अतिरिक्त अन्य कोई शाब्दी अभिव्यक्ति उचित नहीं होगी । श्रेय प्रोफेसर डा० राम सुरेश त्रिपाठी (अव्यक्त संस्कृत विभाग अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपने अनेक अमूल्य सुझावों से निर्देशित किया है । डा० रमेश चन्द्र शुक्ल, डा० श्री निवास मिश्र, डा० आचार्य वल्लभ उपाध्याय पद्म मूषण, डा० कृष्ण देव उपाध्याय, डा० वृज मोहन क्षुर्वेदी का भी मैं हृदय से आभार स्वीकार करता हूँ जिन्होंने समय समय पर अनेक अमूल्य सुझाव एवं अमूल्य - दुर्लभ पुस्तकों उपलब्ध कराकर मेरी सहायता की है ।

  
(सत्य प्रकाश शर्मा)

दिनांक ८

५-७-१९७८

## विषयानुगुणिका

### विषय-प्रवेश (पूर्व पीठिका)

साहित्य जीवन एवं समाज का प्रतिपक्ष, संस्कृत साहित्य और  
आरतीय समाज, संस्कृत साहित्य के विज्ञान में विभिन्न राजनीतिक  
एवं सांस्कृतिक प्रान्तियों का योगदान ।

### (उत्तर पीठिका)

लोक, लोक का स्वरूप और उसकी परिभाषा, लोक का महत्त्व,  
कौपी के फोक लोर उद्गार का अर्थ, फोक लोर के लिए संस्कृत रूप,  
फोक लोर का क्षेत्र, साहित्य और लोकनगम की प्राचीनता और  
उसकी परिवर्धना ।

### परिच्छेद -१ : संस्कृत साहित्य में लोक साहित्य के तत्त्व

संस्कृत साहित्य में प्रचलित लोक साहित्य के विभिन्न रूप- कथा-संस्कृत  
का कथा साहित्य का, आख्यान और आख्यायिका, जातों का कर्ण-  
करण, नाया, नायाजों के नायक, संस्कृत नाया साहित्य, नायाजों  
का कर्णकरण, गीत एवं गीति, गीतों का कर्णकरण, -पद, उपपद,  
छन्द एवं लोक लब्ध विचार, लोकलियाँ, लोकिक न्याय, मुद्रावरा,  
संस्कृत में लोक साहित्य के उद्भव, लोकलियों के उद्भव, लोकलियान, लोकलियार  
पात्र योजना, संस्कृत साहित्य में लोकलियों प्रवृत्तियाँ ।

### परिच्छेद -२ : संस्कृत साहित्य में प्रतिनिधित्व जनसमाज

समाज, समाज का कर्णकरण- सति के आधार पर - निवास स्थान  
के आधार पर - सांस्कृतिक आधार पर, वर्ग के आधार पर, ज्ञान-पान,  
पैसा भूजा, लौती, गालियाँ, प्रणय चिह्न

### परिच्छेद -३ : लोक पर्व

लोक पर्व का स्वरूप, उसके उपादान- भेद, संस्कृत साहित्य में उल्लिखित  
विभिन्न पार्ष्णिक समुदाय, वैयता- उनका स्वरूप और कर्णकरण,

संस्कृत साहित्य में उल्लिखित देवी-देवता, षड्-पूजा, पितृ पूजा,  
का, अग्नि विमान, वृक्षोपचार, तीर्थयात्रा, रूप-रूप-सिद्धि, मंत्र, तंत्र-  
कर्म, टौना-टौटका, सुगोष्ठि ।

परिच्छेद-४ : लोकचार एवं रीति-रिवाज

लोकचार, रीति-रिवाज, बात को संस्कार में किए जाने वाले  
लौकिक दृश्य विचार के अवसर पर किए जाने वाले लौकिक विधान,  
भूतक संस्कार पर लोकचार, यह अन्य प्राकृतिक रिवाज ।

परिच्छेद-५ : जन विश्वास

धार्मिक विश्वास, पर नैक सम्बन्धी विश्वास, भूत-प्रेत सम्बन्धी  
विश्वास, राक्षस, उष्ण, वरदान एवं वाणीवादि, मविष्य ज्ञान, भाग्य-  
वाच, लौकिक घटनाएं, लक्षापकृत, अप्राकृतिक जन्म, अन्य लोक  
मान्यताएं ।

परिच्छेद-६ : उत्सव

उद्घोष, उत्सव का ली-रूप, सामूहिक उत्सव, पारिवारिक उत्सव,  
यह अन्य उत्सव ।

परिच्छेद-७ : लोपकला

कला का प्रयोग, कला के भेद, सज्जित कलाएं, क्रीडा एवं मनोविनोद,  
क्रीडन, भेद-उत्तारे, प्रतिकला ।

परिच्छेद-८ : संस्कृत में लोपनामाओं के रूप और लोक निरुक्ति

संस्कृत का धादि श्रोत वैदिक भाषा, संस्कृत के समानान्तर वैदिक भाषाएं-

પ્રાકૃત માધ્યમનું હોઈ અને વૃત્તિત ઉત્તર, ગિરીતી માધ્યમનું હોઈ  
તેમને લેખન થી વૃત્તિત ઉત્તર । ગૌરવિદ્યાર્થિ ।

### વર્ણના

### વૈષ્ણવી મુદ્રા

વૈષ્ણ, વર્ણનાત્મક હોઈ સ્થાપના, લેખન થી વૈષ્ણ, લેખન થી લેખ  
વૈષ્ણ વૈષ્ણ, લેખન વૈષ્ણ મુદ્રા , વૈષ્ણ લેખન મુદ્રા, વૈષ્ણ વૈષ્ણ,  
વૈષ્ણવવૈષ્ણવી મુદ્રા, લેખ મુદ્રા, વૈષ્ણવ લેખ લેખ મુદ્રા, લેખવૈષ્ણ  
વૈષ્ણવવૈષ્ણવી મુદ્રા, લેખવૈષ્ણ લેખ મુદ્રા, લેખવૈષ્ણ લેખવૈષ્ણ મુદ્રા,  
લેખવૈષ્ણ લેખવૈષ્ણ, લેખવૈષ્ણ લેખવૈષ્ણ ।



**-: वि षा य - प्र वै श :-**  
oooooooooooooooooooooooo

**( पूर्वपीठिका )**  
= = = = =

- :: साहित्य जीवन एवं समाज का प्रतिरूपण
  - :: संस्कृत साहित्य और भारतीय समाज
  - :: संस्कृत साहित्य के विकासक्रम में विभिन्न राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रान्तियों का योगदान
- oooooooooooooooooooooooo

**( उत्तरपीठिका )**  
= = = = =

- :: लोक
- :: लोक का स्वरूप और उसकी परिभाषा
- :: लोक का महत्व
- :: लौकी के फौकलौर शब्द का अर्थ
- :: फौकलौर के लिए संस्कृत शब्द
- :: फौकलौर का क्षेत्र
- :: साहित्य और लौकागम
- :: लोक साहित्य और उसका महत्व
- :: संस्कृत साहित्य और लौकागम
- :: भारत में लौकागम की प्राचीनता और उसकी परिव्याप्ति

जजजजजजजजजजजजजजजजजज

-- : वि ष य - प्र वै श : --

(पूर्वपीठिका)

=====

साहित्य जीवन एवं समाज का प्रतिष्पण

जन-मैक्स के मुखर वाङ्मय-चित्र का ही पारिभाषिक नाम साहित्य है। यह बड़ा ही व्यापक शब्द है। व्याकरण की दृष्टि से इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है - सङ्कितस्य भावः साहित्यम्<sup>१</sup>। अलंकारशास्त्रियों की दृष्टि में यह सम्भाव शब्द और अर्थ का है।<sup>२</sup> किन्तु आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में रमणीयार्थ का प्रतिपादन करता हुआ शब्द (या काव्य) जब द्वन्द्वात्मक जीवन से अपना तादात्म्य स्थापित करता है तो शब्दार्थ और जीवन के उस सम्भाव को साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है। अनेक आश्चर्यों और रहस्यों से भरे विशाल ब्रह्माण्ड के प्रतिष्प मानव हृदय के भावों की अभिव्यक्ति का वाणी-विलास भला उससे असम्भूत कैसे रह सकता है? साहित्य वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति है<sup>३</sup> और व्यक्ति तथा समाज में अंगानिभावसम्बन्ध है। अतः साहित्य और समाज में भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है। जीवन की प्रेरणार्थ ही साहित्य की प्रेरणार्थ है और समाज की मूल प्रवृत्तियाँ ही साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। साहित्य शब्द भी इसी सम्भाव का बीतक है। क्लौन्ड खौन्ड ने साहित्य के इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए

१- द्रष्टव्य - किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः ।  
- शृंगारप्रकाश (स०-राक्षस), पृ० ८७

साहित्यमनयीः शोभाशालितां प्रतिकाप्यसी ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमतीवारिण्यस्थितिः ॥ व०जी०, १। १७

परस्परसंप्रदायां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रिययान्वयित्वं साहित्यम् । आ०वि०, पृ० १८  
आदि ।

२- तुलनीय - आस्तां तावत् काव्यकरणम्, विषयान्तरऽपि सर्वस्य कस्यचिदनादिवासना-  
म्यासाधिवसितवत्सः स्वभावानुसारिण्य व्युत्पत्त्यम्यासी प्रवर्तते । तौ च स्वभा-  
वाभिव्यञ्जनेनैव साफल्यं भजतः । व०जी०, पृ० ४७

लिखा है - 'सहित' शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है, अतएव घातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। यह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यही नहीं अपितु यह बतलाता है कि मनुष्य का मनुष्य के साथ, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का, मिलन कैसे होता है ?<sup>१</sup> इस 'व्यापक सम्भाव' की अभिव्यक्ति का सर्वोच्च साधन 'शब्द' है और और उसकी सृष्टि जीवन तथा समाज के लिये ही हुई है किन्तु उसे व्यावहारिक अर्थ भी समाज ने ही दिया है अतः व्यावहारिक शब्द और अर्थ का जीवन और समाज के साथ अटूट सम्बन्ध है। इस प्रकार 'मानव' ने आदि से लेकर आज तक जो देखा-सुना है, जो अनुभव किया है तथा अपने वा अपने पार्श्ववर्ती समाज के हित के लिये जो मनन किया है, साहित्य उन सब विचारों वा अनुभूतियों का एक महत्वपूर्ण लेखा है।<sup>२</sup>

साहित्य का उत्स लौक है। वह जीवन और ज्ञात् से ही चेतना एवं प्रेरणा ग्रहण करता है। 'उसमें' वर्णित आश्रय और आलम्बन इस लौक के प्राणियों से ही साम्य रखते हैं। जीवन की प्रमुख इच्छाएँ और मनीविकार ही साहित्य के स्थायी और संचारी भाव हैं। साहित्यशास्त्र में वर्णित सम्पूर्ण इस आदि मनीविकार मानव-जीवन के ही विकार हैं। साहित्यकार स्वयं मानव है, अतः वह मानव-व्यापारों की उपेक्षा अपनी रचना में नहीं कर सकता<sup>३</sup>। जब साहित्यकार सामाजिक जीवन से दूर रहकर अपने साहित्यिक कर्तव्य की पूर्तिमात्र करता है, तब उसकी रचनाओं में एक आन्तरिक असंगति का साम्राज्य छा जाता है और तब उसकी रचनाएँ शरत्कालीन गुणाहीन लौकी के समान दूर से ही त्याज्य समझी जाती हैं।

१- रवीन्द्र : साहित्य, पृष्ठ ८ से हिन्दी अनुवाद।

२- स्रन्त, धर्मचन्द ; सिद्धान्तालोचन ; पृ० ३८

३- त्रिगुणायत, गोविन्दः शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त ; पृ० २१

साहित्यकार स्वतन्त्र है। उसे समाज और साहित्य के बारे में खर, विरोधी और व्यंग्यात्मक विचार रखने और उन्हें व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता है, पर उसका कुछ उत्तरदायित्व भी है। उसकी स्वतन्त्र रचना में सामाजिक बुराईयाँ, वैषम्य और अन्यायों का वस्तुचित्रण परमावश्यक है ताकि उन्हें दूर करने की प्रेरणा मानवमात्र को मिले। किन्तु जब साहित्यकार कुण्ठावश आत्मकेन्द्रित हो, सामाजिक जीवन की उपेक्षा कर, कुंठित भावों को मूर्तरूप देता है तब वह रूप 'शिव' न रह कर 'शव' हो जाता है।

साहित्यकार का व्यक्तित्व सदैव समाज का प्रतिनिधित्व करता है। वह समाज का मस्तिष्क भी होता है और मुख भी। समाज के विचारों, भावों और समस्त क्रियाकलापों को आत्मसात्कर उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने के साथ साथ वह अपनी वैयक्तिक विचारसरणी से समाज को बहुत कुछ प्रभावित भी करता है।

साहित्य और समाज दोनों कानिर्माण आत्मकल्याण की भावना की आधारशिला पर होता है। अतः दोनों के उद्देश्य समान कहे जा सकते हैं। साहित्य सृजन सदा ही सामाजिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में सम्पन्न होता है। इस गुण के अभाव में उसे समाज द्वारा आदर प्राप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः साहित्य समाज और व्यक्ति की चेतना में साँस लेता है। वह समाज का परिधान और व्यक्ति के जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जीवन के सुख-दुःख, राग-द्वेष, उत्थान-मग्न जैसे द्वन्द्वों के ताने-बाने से बुना जाता है। साहित्य और समाज का सम्बन्ध माला के मनका और धागे के समान है। कालिदास के शब्दों में 'सूत्रे मणिगणाश्च'।

संस्कृत साहित्य और भारतीय समाज :-

भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष अतिविशाल देश है। यहाँ प्रकृति के नानाविध विलासों का एक विचित्र चित्र देखने में आता है। संसार में सबसे अधिक वर्षा वाला प्रदेश चेरापुंजी (आसाम), सर्वाधिक तापमान से सन्तप्त जैकीबाबाद (अब पश्चिमी पाकिस्तान में), सदैव हिम से आच्छादित रहने वाला संसार का सर्वोच्च पर्वत शिखर गीरीशंकर (स्वरेस्ट), धार की विस्तृत मरुभूमि, नद्यियाँ और शैलों से भरे आसाम के घने जंगल, समतल एवं उर्वर उच्चरी भारत का विशाल मैदान, इस पृथ्वी का स्वर्ग काश्मीर-आदि प्रकृति के विलास भारतीय समाज के ही विविध रूप हैं। प्रत्येक समाज का खान-पान, रहन-सहन, दर्शन-मनन, आचार-विचार, रीति-रिवाज एवं रुचियाँ

मिन्न-मिन्न हैं। संस्कृत के साहित्यकारों ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए देश, काल और पात्र के औचित्य की महत्ता को न केवल स्वीकृति प्रदान की है अपितु अपनी रचनाओं में उसे पूरी तरह निभाया भी है। सब तो यह है कि स्वयं कार्य की प्रवृत्ति भी बाह्य प्रकृति से असम्पृक्त नहीं रह सकती। यही कारण है कि कालिदास का मन या तो देव-कुली अलका में रमा है या फिर मधुमास और प्रमदाजी विलासों में। किन्तु भवभूति भीषाणगभी से सन्तप्त दण्डकारण्य में भी तन्मय दीखते हैं। वास्तविकता है कि कालिदास प्रकृति के कोमल क्रीड में पड़े थे जबकि भवभूति का जीवन मध्य देश के बीहड़ जंगलों के अंचल में बीता था। एक की प्रवृत्ति जीवन के मनोरम यज्ञ से प्रभावित थी तो दूसरे ने प्रणय के बीच कटुसत्य की स्थापना की।

महर्षि व्यास ने महामारत में इस भारत को 'कर्मभूमि' कहा है। मगवान् कृष्ण ने इसी भारत में पर उदासीने अर्जुन को योगस्थ होकर अनासक्तिभाव से कर्म करने का उपदेश दिया था। उनके द्वारा प्रस्तुत योग की परिभाषा (योगः कर्मसु कौशलम्) भी नितान्त व्यावहारिक है। न केवल नीतिक उन्नति के लिये अपितु आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए भी 'कर्म' अत्यावश्यक है। कर्म की उपादेयता प्रतिपादित करते हुये गीता में श्री कृष्ण ने कहा है<sup>१</sup> - 'कर्मणो विद्मः सिद्धिमास्थिता जनकादयः।' इसीलिए तो देवगण भी पुनः मनुष्य के रूप में यहाँ आने की लालायित दीख पड़ते हैं<sup>२</sup>। राजा नल के उदात्त गुणों को सुन-सुन कर उन्हें अमृत भी फीका लगने लगा है<sup>३</sup>। न जाने कितने वार युद्ध में सहायता के लिए उन्हें इन 'कर्मवीरों' का मुँह ताकना पड़ा है? यह सब कुछ 'कर्मवीरों' के 'कर्मों' का ही फल है। इसीलिए महर्षि व्यास ने उनके को चोट कहा था - 'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।' संस्कृत साहित्य 'मनुष्य और उसके कर्म' की कहानी है। वह न केवल मनुष्य की भावभूमि और उसकी विचारभूमि के घरातल पर पैदा हुआ है वरन् समृद्ध भी हुआ है। उसका एकमत्र लक्ष्य मानव और उसका कल्याण रहा है।

प्रत्येक मनुष्य की तीन प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हैं - भोजन, वस्त्र और सुरक्षा। सुरक्षा की भावना उसे परिवार बसाने की बाध्य करती है और तब उसकी आवश्यकताएँ रक्षाणाजी में बदल जाती हैं। पुत्र, धन और किसी वस्तु अथवा स्थान पर अधिकार की भावना का अंकुर उसके हृदय में जमने लगता है। काम और अर्थ का जीवन में प्राधान्य हो

१- गीता, ३। २०

२- भवन्ति मयः पुरुषाः सुरत्वात् (विष्णु०)

३- भेषाद्यः १। १९

जाता है। यद्यपि आनन्द उसका चरम लक्ष्य होता है। जिज्ञासा की भावना प्रबल हो उठती है। वह अनेकता में एकता और एकता में अनेकता देखने की चेष्टा करता है। फलतः अनजान में ही आनन्द के मूल में धर्म की प्रतिष्ठा हो जाती है। इस प्रकार धर्म से अम्युदय और निःश्रेयस् उपलब्ध होता है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्षा मानव जीवन के चरम लक्ष्य बन जाते हैं। संस्कृत साहित्य का उद्देश्य इसी पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि है<sup>१</sup>।

कवि क्रान्तिदर्शी होता है। वह समाज को 'सामाजिक' की आखों से देखता है। समाज सुधार कामगान् उत्तरदायित्व उसके कंधों पर ही है। वैसे इस कार्य में अनेक धार्मिक आचार्य और राजा भी उसके सहायक होते हैं किन्तु उनके शुद्ध उपदेशों और कुर नियमों का प्रभाव इतना सशक्त नहीं होता कि वह मानव हृदय पर अपनी स्थायी छाप छोड़ सके। साहित्य अपने 'कान्तासम्मित' उपदेश से यश, अर्थ, व्यवहारज्ञान, अमंगलनिवारण और परमानन्द की प्राप्ति के लिये मानव के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करता है। काव्य के सहारे मन्दबुद्धि भी मानव जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य समाज के प्रति सदैव सजा रहा है।

संस्कृत का विशाल साहित्य न केवल मानवसमाज के प्रति अपितु समस्त चराचर के प्रति मंगलमयी भावना से ओतप्रोत है। संस्कृत का कवि समाजसुधार के लिये भी अपने काव्य में धृष्टित, क्रूर, उग्र जैसे दृश्यों की रचना नहीं देता, उसे दुःखान्त न बनाकर सदैव कल्याणमयी भावनाओं से सक्त 'भरतवाक्यों' के साथ समाप्त कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के महान् आदर्श को प्रस्तुत करता है। 'सत्' की यह विजय विशाल जनमानस को अनेक मन्दों के बीच भी दृढ़ता और विश्वास के साथ सत्कर्म के प्रति प्रेरित करती है।

संस्कृत साहित्य का उद्देश्य समाज में केवल भैतिक मूल्यों की स्थापना तक ही सीमित नहीं रहा। वह समाज को सदाचार से मुक्त, आध्यात्मिक एवं भौतिक शिक्षा से समन्वित, धन-धैर्य से परिपूर्ण, भौतिक विलासों से विलसित तथा दुःखरहित जीवन पथ पर अग्रसर देखना चाहता है। इस दृष्टि से समाज में भैतिक मूल्यों की स्थापना के लिये स्मृतियों और पुराणों का प्रणयन हुआ, आध्यात्मिक खोज में दर्शन बहुत आगे तक बढ़ा व्याकरण-रुन्दादि लौकिक शिक्षार्थ संहिताओं ग्रन्थों की रचना हुई, हस्तिशास्त्र-गजशास्त्र-आयुर्वेदशास्त्र जैसे अर्थोपादक शास्त्रों की सृष्टि हुई, समारणसूत्रमानसार-कामशास्त्र जैसे

मीतिक विलास के धीतक ग्रन्थ लिख गये । जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक संस्कृतकवि के लिए संस्कारी के महत्व को समझा गया और उन संस्कारों की विधि के प्रतिपादन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन हमारे कृषि-मुनियोंने किया । प्रत्येक संस्कृत काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरणा और प्रत्येक संस्कृत नाटक के अन्त में प्रयुक्त 'भरतवाक्य' इसके साक्षी हैं ।

आचार्य विष्णु शर्मा ने 'काव्य और शास्त्र' की विद्वानों के विनीद का साधन माना है । किन्तु मेरा विचार है कि 'शास्त्र' में ही विद्वानों के विनीद का साधन ही पर जनसामान्य उसमें रसावगाहन नहीं कर सकता । तभी तो भरत मुनि ने 'नाट्य' को 'पंचमवेद' की संज्ञा देकर उसकी उपयोगिता बताते हुए लिखा है -

धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ॥३/१०५॥

निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया ।

कलीवानां धार्ष्ट्यकरणमुत्साहः शूरमानिनाम् ॥३/१०६॥

अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि ।

ईश्वराणां विलासश्च स्त्रीयुः दुःखादितस्य च ॥३/१०७॥

अर्थोपजीविनामर्थो वृत्तिरुद्विग्नचेतसाम् ।

दुःखातीनां श्रमातीनां शोकातीनां तपस्विनाम् ॥३/१११॥

विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भक्षिष्यति ।

धर्मो यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ॥ ३/११२ ॥

कवि सर्वश्रेष्ठतन्त्रस्वतन्त्र होता है । उसकी विचारशक्ति, विचार-प्रक्रिया, वर्णन-शैली और अभिव्यक्ति सब कुछ समाज के परिप्रेक्ष्य में भी स्वतन्त्र है । वह अपने साहित्य में प्राचीन आदर्शों की स्थापना करे या तत्कालीन समाज में व्याप्त प्रष्टाचार आदि कुत्सित कर्मों का यथार्थ चित्रण कर मानव जाति का, उसके विरोध में खड़ा होने की आव्हान करे, वह स्वतन्त्र है । कालिदास ने अपनी रचनाओं में सदैव श्रुति-स्मृतिनिहित आदर्शों को सुललित शैली में प्रस्तुत किया है । उन्होंने अक्सर रहते भी युद्ध के भीमत्स दृश्यों के स्थान पर सामान्य वर्णनों से काम चलाया है । लेकिन शूद्रक ने यथार्थवाद का आश्रय लेकर समाज में व्याप्त कुरी-तियों पर तीखा प्रहार किया है । मास-मर्तुहरि, बाण, दण्डी आदि कवि साहित्यकारों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है । जबकि माघ, भारवि और कलहणा की रचनाएँ समाजसुधार

के लिए राजनीति को प्रधान साधन के रूप में स्वीकार करती प्रतीत होती है<sup>(७)</sup>।

संस्कृत साहित्य का या तो धर्म से सीधा सम्बन्ध रहा है या फिर राजपरिवार से। लेकिन इसका तात्पर्य यह कदापि न लेना चाहिए कि उसमें लोक जीवन उपेक्षित रहा है। भारतीय समाज अपने विविध पहलुओं के साथ संस्कृत साहित्य में स्पष्ट मौजूदगी मिली है। हाँ, साहित्य में युगीन-प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं की नज़र अन्दाज़ कर काम नहीं चलाया जा सकता। इसीलिए संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित भारतीय जन जीवन का स्वरूप देखने के लिए अपनी आँखों पर तब युगीन प्रवृत्तियों और मान्यताओं का चश्मा चढ़ाना होगा।

संस्कृत साहित्यकारों पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि उनकी दृष्टि सामन्ती जीवन की संकीर्ण परिधि को छोड़कर सामान्य जन जीवन तक नहीं पहुँच सकी। मेरी दृष्टि में यह आरोप नितान्त असंगत है। यह ठीक है कि संस्कृत साहित्य में राज-परिवारों का ही चित्रण प्रमुखता से हुआ है, किन्तु यह भी अद्वारशः सत्य है कि उसने कभी युग जीवन की उपेक्षा नहीं की। साहित्य अपने युग के समाज से अस्पृक्त रह ही नहीं सकता। क्योंकि धार्मिक और सामाजिक वर्गों की युगीन मान्यताओं के अनुरूप ही तो साहित्य में प्रदर्शित किया जाता है। प्राचीन भारत में दात्रिय संस्कृति और आश्रम संस्कृति का सम्बन्ध में समान महत्व था। राजा और आश्रमवासियों का सम्बन्ध उन गृहस्थियों से था जिनके घरों में अनेक रीतिरिवाजों, विविध धार्मिक मान्यताओं, व्यवसायों और व्यवहार-विधानों का पालन किया जाता है। संस्कृत साहित्यकार ने सदा ही समाज के निम्न-के विशुद्ध वातावरण में विहार किया है, उसने समाज में दीन-दुखियों की दीनता पर आँसू बहाये हैं और सुखियों के सुख में मिल कर जश्न भी मनाये हैं। वह भारतीय समाज का ही एक प्राणी था, जिसका हृदय सहायुभूति की भावना से नितान्त सिन्धु होता था। वह अपने कवि-काव्यों में जनता के हृदय की बातों का, प्रवृत्तियों का जितना वर्णन करता था उतना ही अपने देश की संस्कृति के मूल्यवान् आध्यात्मिक विचारों का भी अपनी रचनाओं में चित्रण करता था<sup>१</sup>।

पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि संस्कृत का प्रायः प्रत्येक काव्य सुखान्त है। इसे न केवल साहित्यकार का अपितु भारतीय समाज का जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। धीरोदात्त, धीरललित, धीमृशान्त और धीरोद्धत के रूप में नायकों, स्वर्गीय और परकीया के रूप में नायिकाओं का और उत्तम, मध्यम तथा अधम के



रूप में पात्रों और काव्यों का वर्गीकरण अपने समय की सामाजिक व्यवस्था को प्रस्तुत करता है। यही नहीं नाटकीय पात्रों की वेश-भूषा और भाषा संबंधी मान्यताएँ भी युगीन मान्यताओं की अभिव्यंजक हैं। चरित्र और व्यक्तित्व के मूल स्रोत सामाजिक संघर्षों को संस्कृत साहित्य ने नज़र अन्दाज़ नहीं किया। यह दूसरी बात है कि कहीं कहीं काव्य संघर्षों के स्थान पर अन्तर्द्वन्द्व से ही काम ले लिया गया है।

संदीप में संस्कृत साहित्य में शकुनापशकुन सम्बन्धी मान्तरें, अलौकिकता भाग्यवाद, प्रकृति के साथ तादात्म्य, आश्रमों और तपोवनों के साथ-साथ राजसूय गृहकानन, केलिकानन आदि के वर्णन तत्कालीन मायात्मक और विलासात्मक वातावरण के परिचायक हैं। धर्म की गति संस्कृत साहित्य में 'सूत्रमणिगणा इव' है।

संस्कृत साहित्य के विकासक्रम में विभिन्न राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्रान्तियों का योगदान

उत्तर वैदिक काल में जब वैदिक संस्कृत केवल पुरोहितवर्ग की धार्मिक भाषा रह गयी थी, तब सामान्य शिष्ट जनों की बोलचाल की भाषा में आदिकवि प्रचेता ने रामायण का प्रणयन कर इस भाषा के साहित्य को सर्वप्रथम काव्य की कौटिम्भ में प्रतिष्ठित किया। तत्कालीन शिष्टवर्ग की बोलचाल की भाषा में निबद्ध यह काव्य इतना जनप्रिय हुआ कि अपने प्रणयकाल से ही आज तक यह हिन्दू जाति के मस्तिष्क और मानस - दोनों पर छाया हुआ है। आदि कवि ने अपने काव्य के माध्यम से राम की जनता के समक्ष मयादापुरुषोत्तम के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया कि परवर्ती साहित्य में, विशेष कर पुराणों में उन्हें खी अवतार घोषित कर दिया गया। फलतः राम के उदात्त चरित्र को लेकर न केवल संस्कृत में अपितु अन्य भारतीय भाषाओं में भी असंख्य काव्यों की रचना हुई।

वाल्मीकि का आदिकाव्य लौकिक संस्कृत के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उसकी उपयोगिता और सफलता से प्रभावित हो अनेक मनीषियों ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए वैदिक संस्कृत को, जो अब केवल पुरोहितवर्ग की धार्मिक भाषा रह गयी थी, छोड़ लौकिक संस्कृत का आश्रय लिया। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की भी रचना अब लौकिक संस्कृत में ही होने लगी। यह युग उपनिषदों की अध्यात्मवादी प्रवृत्ति का अनुयायी था। अतः इस युग में धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की ही रचना हुई। हाँ, कुछ लोकानुरागी समाजसुधारक मनीषी अपनी काव्यकृतियों के

माध्यम से अपना सन्देश जनसामान्य तक पहुँचा रहे थे । 'देवर्षिचरित' नामक ऐतिहासिक लौकिक संस्कृत काव्य का महाभारत में नामोल्लेख प्राप्त होता है और भी ऐसे काव्यों सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । महाभारत स्वयं एक काव्य है । इन काव्यों की प्रवृत्ति महापुरुषों के जीवन-चरित्र को समाज के सम्मुख रख, उसे आदर्श रूप देने में परिलक्षित होती है ।

महाभारत का युग निश्चय ही राजनैतिक उथल-पुथल, अशान्ति और अव्यवस्था का युग था । अतः वह काव्यरचना के अधिक उपयुक्त नहीं था । तत्कालीन मनीषियों की भेषा का सारा प्रयास मानव के धर्म एवं कर्तव्यों के निश्चयीकरण तक ही सीमित रहा । हाँ, इस कार्य के लिए भी उन्होंने काव्यात्मक शैली का ही आश्रय लिया । कुल मिलाकर महाभारत धर्मोपदेशों, दार्शनिक प्रवृत्तियों और विचारों, राजनैतिक मान्यताओं और आचार-विचारों की इतिहास और काव्य की मिश्रित शैली में प्रस्तुत करने वाला इतिहास-काव्य ही है । महाभारत का साहित्यिक अनुशीलन यह स्पष्ट कर देता है कि उन दिनों तक पशु-पक्षियों की कथाएँ, परियों की कहानियाँ, सुरासुरों के वैमनस्य की किंवदन्तियाँ, उदारचिन्ता राजाओं, साधुओं और सामान्य गृहस्थियों के महान् कृत्यों से सम्बन्धित धर्माख्यान, प्रेमाख्यान आदि भी काव्य के अंग बन चुके थे ।

महाभारतीय युद्ध के बाद भी भारत की राजनैतिक स्थिति स्थिर न हो सकी । निःसन्देह इस युद्ध के फलस्वरूप पाण्डव भारत में सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरे थे, पर उन्का सार्वभौम प्रभुत्व निश्चय ही अल्पकालिक रहा । महान् राजनीतिज्ञ भगवान् कृष्ण अपने ही कुल के आपसी फगड़ की शान्त न कर सके और स्वयं भी इसी फगड़ में मारे गये । उधर, पाण्डव राज्य के संस्थापक युधिष्ठिर भी राज्य त्याग कर अपने भाईयों के साथ जंगल की ओर चले गए। उनके बाद अर्जुन के

१: शाण्ड०, २१०।२१.

२: महा० १।१।६७

३: द्रष्टव्य-कृष्णचिन्तन, संस्कृत सा० का नवीन इतिहास (हिन्दी संस्करण), पृ० २१७

४: मञ्जुमदार, रमेशचन्द्र, प्रवर्तमान भारत, पृ० २५

पौत्र जनमेजय ने राजकाय अपने हाथ में लिया। जनमेजय भी अपने पिता-पितामह के समान शक्तिशाली था। उसने अपने विरोधी नागों को समूल नष्ट कर राज्य को निष्कण्टक बनाया। उसके बाद पाण्डव-साम्राज्य की परम्परा यद्यपि लगभग पाँच सौ वर्षों तक चलती रही, पर उसमें कोई ऐसा उल्लेखनीय राजा नहीं हुआ जिसने इतिहास के सन्निर्माण में कोई विशेष भूमिका निभाई हो।

ईस्वी पूर्व ७ वीं शताब्दी के लगभग सारा देश अनेक छोटे-छोटे गणराज्यों में विभक्त था। तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थों में ऐसे प्रमुख दस राज्यों के नाम मिलते हैं।<sup>१</sup> इनमें भी मगध, कोसल, कोशाम्बी और अवन्ति प्रमुख राज्य थे। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में कोशाम्बी और अवन्ति राज्य भी शिथिल पड़ गये। प्रभुसत्ता की प्रति-

द्विद्धता में कोसल भी मगध से पीछे रह गया। अक्षतशत्रु के शासनकाल में मगध भारत के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में चमका। अग्रे चलकर भारत के राजनैतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक निर्माण में इस साम्राज्य का सर्वाधिक योगदान रहा।

रामायण-महाभारत की संस्कृति के संक्रमणकाल में ही ब्राह्मण-पुरोहितों का ध्यान परम्परागत वैदिक वाङ्मय की अतुल सम्पत्ति की सुरक्षा की ओर गया। उन्होंने वेदों की व्याख्या के निमित्त ब्राह्मण ग्रन्थों, वैदिक भाषा की दुरुहता को समाप्त करने के लिए प्रातिशाख्यों और निघण्टुओं की रचना कर व्याख्यानों द्वारा व्याख्यान की शैली, व्याकरण, कौष, निरुक्ति आदि शास्त्रीय शैली को जन्म दिया। रामायण-महाभारत दोनों ही युद्धों के परिणाम स्वरूप परम्परागत आर्य-संस्कृति में विभिन्न संस्कृतियाँ तैजो के साथ आकर मिल रही थीं। अतः कट्टर वैदिक ब्राह्मण अपना रक्त और संस्कृति शुद्ध रखने के प्रयासों में लग गये। वर्णधर्मों का निर्माण किया गया। स्मृतियों की भी रचना हुई। वर्णों के अधिकार, कर्तव्य, वृत्तियाँ और सीमाएँ स्पष्ट कर दी गयीं। समाज पर ब्राह्मणवर्ग का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। क्षत्रिय, जो उत्तर वैदिक युग में तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणों से टक्कर लेते थे, अब विलासी होकर पीछे पड़ गये। ब्राह्मणों की भाषा भी जनसामान्य की भाषा से भिन्न थी। अतः ब्राह्मण और अन्य वर्णों में भेद बढ़ता ही गया और

अन्ततः ब्राह्मण इस 'देवता' के रूप में पूजे जाने लगे ।

ब्राह्मणों के इस 'देवत्व' के विरोध में चिरकाल से प्रसुप्त ब्राह्मण विरोधी भावना दात्रियों में पुनः जाग उठी । महावीर और गौतम- जो दोनों ही जात्या दात्रिय थे और तत्कालीन सामन्त भी थे, ने ब्राह्मणों के बाहुम्बलपूर्ण धर्म, संस्कृति और भाषा के विरोध में अपने स्वर ऊँचे किये, विशेषकर पुरोहिता और उनके अधिकारों पर तीखे प्रहार किये । इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप मुण्डकोपनिषद्<sup>१</sup> में पुरोहिता और साथ ही उनके यजमानों को भी 'देवताओं' का पशु घोषित किया गया । बौद्ध और जैन क्रान्तियों के फलस्वरूप समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचा । संस्कृत उपेक्षित रही, पालि और प्राकृत धार्मिक भाषाएँ बनकर राजकायों में भी प्रयुक्त होने लगीं । दात्रियों को एक बार पुनः सर्वोच्च प्रतिष्ठा मिली । तथागत ने अनेक स्थलों पर दात्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ उद्घोषित किया ।<sup>२</sup> शूद्रों की स्थिति में अभूतपूर्व सुधार हुआ । इसी धार्मिक क्रान्ति के फलस्वरूप कालान्तर में शूद्र महापद्म नन्द मगध जैसे साम्राज्य का अधिपति बन बैठा । ब्राह्मण-दात्रिय संघर्ष का असली लाभ उसी ही हुआ । पुराणों में उसी दात्रिय वंश का संक्षेप बताया गया है । इक्ष्वाकु, पांचाल, काशी, हह्य, कलिंग, अशमक, कुरु, मिथिला और शूसेन राज्यों पर भी उसने अधिकार कर लिया था । उत्तर पश्चिमी सीमा प्रदेश में गणराज्यों की स्वतन्त्र सत्ता थी । सिकन्दर महान ने उन्हें आसानी से जीत लिया । पूर्व में नन्दों की अपरिमित शक्ति से भयभीत हो कर जब सिकन्दर की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया तब उसे विवश होकर जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से लौटना पड़ा । मैलम नदों के जलमार्ग से लौटते समय उसने दण्डक, मालव, आग्निायन, मूषिक आदि राज्यों को नष्ट कर दिया । इन लड़ाइयों की विशेषता यह रही कि इनमें हजारों ब्राह्मणों ने लेखनी छोड़कर तलवार उठाई और वीरगति की प्राप्ति हुई । मगधों के एक ही नगर में पाँच हजार ब्राह्मण सिकन्दर के विरुद्ध लड़ते हुए मारे गये, ऐसा इतिहासकारों का कथन है ।<sup>३</sup> इस प्रकार पश्चिमीतर प्रदेशों में सिकन्दर के सशक्त आक्रमणों के कारण और पूर्व में शूद्र साम्राज्य के कारण ब्राह्मण और दात्रिय- दोनों की महान् दांति उठानी पड़ी । अतः खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने के लिए

१: मुण्डकोपनिषद्, १। २। ७

२: द्रष्टव्य, महावस्तु २। १३६। ५, ललित विस्तर, २। २०, १३६। २०

३: मञ्जुवदार, प्राचीन भारत, पृ० ८१

आपसी वैमनस्य भुलाकर ब्राह्मण-दात्रिय एक हो गये। ब्राह्मण चाणक्य की भेषा और दात्रिय चन्द्रगुप्त की शक्ति ने न केवल नन्दों को ही सकल नष्ट किया अपितु मगध का साम्राज्य अपने अधीन कर विदेशी आक्रान्ता सिल्यूक्स से काबुल, हरात, कन्धार तथा बिलीचिस्तान में अपने कब्जे में कर लिया।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में केवल चाणक्य के कारण संस्कृत की पुनः प्रतिष्ठा मिली। आचार्य चाणक्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना संस्कृत में ही की। लेकिन चाणक्य की मृत्यु के अनन्तर मौर्यों का बौद्ध धर्म की ओर अधिकधिक मुकाबल होता गया। मौर्यवंश का तृतीय सम्राट् अशोक पूरी तरह बौद्ध बन गया। बौद्धों की तीसरी संगीति का समायोजन उसी के प्रयासों के फलस्वरूप हुआ। उसने बौद्ध धर्म की राजकीय धर्म घोषित कर दूर-दूर तक उसका प्रचार कराया तथा अपने समस्त धार्मिक सन्देश बौद्धों की धार्मिक भाषा पालि में ही उत्कीर्ण करायें। अतः संस्कृत भाषा का विकास पुनः अवरूढ़ हो गया और परम्परागत वैदिक धर्म की भारी क्षाति हुई।

मौर्यों के बौद्ध हो जाने पर दात्रिय और बौद्ध दोनों एक प्रकार से एक दूसरे के पर्याय समझे जाने लगे। ब्राह्मण धर्म और संस्कृति के विरोध में दात्रियों ने बौद्ध बनकर ही अधिक कुचक्र चलाये। यही नहीं जनों के प्रति भी उनकी धार्मिक असहिष्णुता उग्र थी। दिव्यादान में एक स्थान पर 'जो व्यक्ति निग्रन्थ का शिर लायेगा उसे दोनों से पुरस्कृत किया जायेगा' की मयावह घोषणा मिलती है।

उपर कलिंग विजय के बाद अशोक द्वारा धर्मविजय की नीति अपना लेने पर पड़ोसी राज्य निर्भय होकर चैन की वंशी बजाने लगे थे। अशोक की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों में आपसी वैमनस्य के कारण साम्राज्य का बंटवारा हो गया।

अतः केन्द्रीय संगठन टूट गया और साम्राज्य में विघटकारी तत्वों की सिर उठाने

१: अग्रवाल, रामचन्द्र, प्राचीन भारत का स्तनैतिक राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास पृ० २२३

२: भगवतशरण उपाध्याय, गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ४१

३: दिव्यावदान, २७१। २१-२४

तथा विदेशी आक्रमणकारियों को पुनः आक्रमण करने का अवसर मिल गया। सीरिया के सम्राट् एण्टीओकस तृतीय ( Antiochus III ) बेक्ट्रिया के शासक डेमेट्रियस ( Demetrius ), यूक्रेटाइडस ( Eucratides ) तथा हेलिओक्लीज ( Heliocles ), के आक्रमण उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर हुए<sup>१</sup>। ग्रीक सम्राट् मिनाण्डर ने ती शकल में अपनी राजधानी स्थापित कर राजस्थान में माध्यमिका (चित्तौड़ के पास) और उत्तर प्रदेश में साकेत तक अपने आक्रमण किये। पतंजलि के महामाष्य में उसके इन आक्रमणों का उल्लेख मिलता है<sup>२</sup>।

१५० ई० पू० के लगभग अन्तिम मौर्य शासक बृहद्रथ को मारकर शुङ्गवंश की स्थापना करने वाले ब्राह्मण सेनानी पुष्यमित्र ने मगध साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। जब उसके विरोध में बौद्ध कुचाल चलकर यवन सम्राट् मिनाण्डर को चढ़ा लये तब उसने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर न केवल यवन सम्राट् को पराजित हो किया, अपितु बौद्धों के प्रति उसकी असहिष्णुता और भी प्रखर हो उठी। उसने पाटलीपुत्र से जालन्धर तक के समस्त संघारामों को अग्नि के समर्पण कर यवन सम्राट् की राजधानी शकल (स्यालकीट) में ही<sup>३</sup> यी में श्रमणाशिरों दास्यति, तस्माहं दोनारशतं दास्यामि<sup>४</sup> की रोमान्कारी घोषणा के साथ पुनः वैदिक धर्म की स्थापना की। उसने यवन आक्रान्ताओं को उन्हीं के प्रदेश से खदेड़ कर सीतान तक अपना साम्राज्य बढ़ाया। दक्षिण में नर्मदा तट तक उसके राज्य का विस्तार था। उसके शासन काल में संस्कृत राजभाषा पद पर आसीन हुई। संस्कृत व्याकरण के गौरव ग्रन्थ महामाष्य की रचना उन्हीं के शासनकाल में हुई<sup>४</sup>। संस्कृत की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को देखकर ही अश्वघोष और मातृवृत्त जैसे बौद्ध कवियों को भी संस्कृत की ही शरण में जाना पड़ा।

१: अश्वाल, रामचन्द्र, वही, पृ० २६६-३०३

२: अरुणसूयनः साकेतम्, अरुणसूयनः माध्यमिकाम् (महामाष्य)

३: दिव्यावदान, सू० १५-१६

४: वामी, सत्यकाम, संस्कृत उद्भव और विकास, पृ० १६८

उधर दक्षिण में कृष्णा तट पर सात्वाहनवंशीय आन्ध्रों का साम्राज्य था। वे ब्राह्मण होते हुए भी प्राकृत के प्रेमी थे। इनमें से केवल वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी ही संस्कृत प्रेमी सम्राट् हुए। वह उज्जैन के शकदात्रय रुद्रदामन् का दामाद था। रुद्रदामन् महान् संस्कृतानुरागी था। सम्भवतः उसी से प्रभावित होकर वाशिष्ठीपुत्र पुलुमायी ने भी संस्कृत को अपनी राजभाषा बनाया, उसका नासिकशिलालिख इसका साक्ष्य है। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व में माघ से लेकर उत्तर पश्चिममें स्यालकोट तक एकबार संस्कृत का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो गया। पुष्यमित्र ने संस्कृत की जिस विभ्रंशित परम्परा को नया जीवन प्रदान किया था, उसके शकदात्रयों ने दृढ़तापूर्वक प्रदान की। यह आश्चर्य की बात है कि विदेशी होते हुए भी शकों ने अपने को पूरी तरह भारतीय घोषित कर भारतीय धर्म, संस्कृति और संस्कृत को भरपूर संरक्षा ही नहीं दिया अपितु उसके विविधान्तरों का संवर्धन भी किया और अपने प्रतिद्वन्द्वी विदेशियों आमीरों से लोहा लेते रहे। शकदात्रय रुद्रदामन् का गिरनार शिलालिख लौकिक संस्कृत गद्य का प्रथम साहित्यिक अभिराम निदर्शन प्रस्तुत करता है। मास, अश्वघोषा, मातृष्ट, कालिदास, शुद्रक जैसे उच्चकोटि के साहित्यकार इसी युग की देन हैं। सात्वाहनों के शासनकाल में शर्ववर्मन् ने कातन्त्रव्याकरण की रचना की।

ईसापूर्व ५ वीं ६ वीं शताब्दी से पहली-दूसरी शताब्दी तक का समय विभिन्न धार्मिक क्रान्तियों का युग रहा है। परम्परागत वैदिक धर्म के विरोध में बौद्ध और जैन धर्मों का जन्म हुआ था। यह धर्म अपनी विरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण सभी को अधिक दिनों तक अपनी ओर आकृष्ट न रख सके। दूसरी ओर एक ऐसा भी वर्ग था जो वैदिक जटिल कर्मकाण्ड पद्धति और वेद विरोधी धर्मों के मध्य का मार्ग मनाना चाहता था। ऐसे लोगों का वेद और वैदिक देवताओं में तो पूरा विश्वास था, पर वेदों की जटिल कर्मकाण्ड पद्धति से वे घबराते थे। विष्णु, शिव, शक्ति आदि के रूप में ईश्वर की कल्पना कर उसी के आराधन-प्रसादन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति उनका लक्ष्य था। इस प्रकार भक्ति की धारा पर अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का जन्म हुआ। इनमें भागवत(विष्णव) और शैव विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी तक ये दोनों धर्म इतने महत्वपूर्ण बन चुके थे कि विदेशी भी इनको

और आकृष्ट होने लगे। यवन राजदूत होलियीडोर का वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर ब्रह्मचर्य में गुरुद्वय की स्थापना करना और कुषाण सम्राट् विम्वदफिसस के द्वारा शैवधर्म की राजकीय धर्मीयौषित कर अपने सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव एवं नन्दी का अंकन कराना इसके प्रबल सन्ध्य प्रस्तुत करते हैं। सौर, शाक्त, गाणपत्य आदि और भी छोटे छोटे अनेक धर्म-सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव इस युग में हुआ। परिणामतः इस युग का साहित्य भी धर्म और धर्मशास्त्रीय बन्धनों से मुक्त न रह सका। धार्मिक आन्दोलनों की कम्पा में तत्कालीन कवि को अपने कथानक का चयन धर्मानुकूल ही करना पड़ा। अश्वघोष और मातृष्ट जैसे कवियों ने बौद्धधर्म के प्रवर्तक मगवान् बुद्ध और उनके धर्म को अपने काव्य का विषय बना तो भास और कालिदास जैसे कवियों ने पुराणों से कथानक चुनचुन कर ब्राह्मण धर्म और संस्कृति का चित्रण किया। धर्मशास्त्रीय बन्धनों के कारण इस युग के काव्य में प्रेम और शृंगार का क्षेत्र अत्यधिक सीमित है। उन्मुक्त शृंगार का तो प्रायः अभाव ही है। शिष्टाचारानुरोध से कवियों को अपने पूर्ववर्ती कवियों और उनकी रचनाओं के प्रति कृतज्ञ और श्रद्धालु होना आवश्यक था। परिणामतः आलोचना का नितान्त अभाव रहा। आदेशवाद की धुन सवार होने के कारण तत्कालीन काव्य यथार्थ से बहुत दूर रहा और कविगण जीवन की अन्य समस्याओं के प्रति जागरूक नहीं रह सके।

शुङ्गी के बाद कण्व और उनके बाद आन्ध्र माघके अधिपति रहे। यह सभी संस्कृत प्रेमी ब्राह्मण राजा थे। लेकिन ईस्वी प्रथम शती के अन्तिम चतुर्थश में कुशान सम्राट् कनिष्क ने आन्ध्रों को पराजित कर पूर्व में मगध से लेकर पश्चिम में बुरासाब्द तक तथा उत्तर में खोतान लेकर दक्षिण में कोंकण तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। यद्यपि कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर उसी को अपना राजकीय धर्म घोषित किया था किन्तु शुङ्गी के काल से ही संस्कृत की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ चुकी थी कि अश्वघोष और नागाजुन जैसे बौद्ध दार्शनिकों को भी संस्कृत का आश्रय लेना पड़ा। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता की रचना भी इसी के शासनकाल में संस्कृत में हुई। वस्तुतः कनिष्क का आग्रह धर्म पर था, भाषा पर नहीं। इसीलिए उसे संस्कृत का महान् संरक्षक माना जाता है। उसी के शासन काल में बौद्ध धर्म में भी संस्कृत का प्रवेश हुआ। हाँ, बौद्ध लेखकों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पालि आदि परिमार्जित लोक भाषाओं से बहुत से शब्द लेकर संस्कृत को सरल बनाने का प्रयास किया। उनके इस प्रयास के फलस्वरूप संस्कृत की एक नई धारा चल पड़ी जिसे आज



गाथा संस्कृत \* के नाम से जाना जाता है । इसी प्रकार जैन कवियों ने भी संस्कृत को अपनाया । उन्होंने संस्कृत में देशी शब्दों का अधिक प्रयोग किया है । बौद्ध और जैन संस्कृत कवियों का लेखन क्षेत्र केवल अपने अपने धर्मों तक सीमित होने के कारण हल्लौकिक जीवन से सामान्यतया दूर है और धर्म एवं सम्प्रदायानुगत आदर्शों से परिपूर्ण है ।

कुशानों के बाद भारत पुनः छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया । यौधेय, मालव, कुबिन्द, नाग(भारवि), मौखारि, अहिच्छत्र, अयोध्या, कौशाम्बी, वाकाटक, वाङ्मनायन, लिच्छिवि, शिवि, कुल्लुट, औदुम्बर आदि उस समय के छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे <sup>१</sup> । इन सभी में प्रभुसत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था । अतः साहित्य साधना के लिए उचित वातावरण न था । यही कारण है कि कनिष्क के बाद गुप्ती के उदय तक के लम्बे अन्तराल में किसी विशेष साहित्यकार के अस्तित्व का पता आज हमें नहीं है । हाँ, यह अवश्य है कि इन छोटे-छोटे राज्यों में अधिकांश राजा ब्राह्मण धर्मानुयायी और संस्कृतप्रेमी थे । अतः संस्कृत का अस्तित्व बना रहा, उसकी महत्ता कम नहीं हुई और दरबारी कवि निश्चय ही उसे अपनी सामन्ती रचनाओं द्वारा समृद्ध करते रहे होंगे । तभी तो गुप्त काल में आते ही सत्सत्ता हम संस्कृत की उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पाते हैं ।

गुप्ती के शासककाल में भारत की राजनैतिक एकता के पुनः दर्शन होते हैं । समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त इस वंश के वै प्रतापी और महत्वाकाङ्क्षी सम्राट् थे जिन्होंने दिग्विजय की नीति अपना कर भारतीय राज्य-शास्त्र में प्रतिपादित \* चक्रवर्ती राज्य \* के आदर्श को साकार करने का प्रयास किया । उन्होंने देश से विदेशी शासन का पूरी तरह अन्त कर शक्तिशाली हूणों के बर्बर आक्रमणों को विफल कर और अपने सीमान्त प्रदेश के राजाओं को भी अधीन कर अपने साम्राज्य के विस्तृत एवं निरापद बनाया । सभी गुप्त सम्राट् वैष्णवधर्मानुयायी, परधर्महिष्णु और संस्कृतप्रेमी थे । राज्य के भीतर और बाहर भी उनके पराक्रम की घाक जमी हुई थी । अतः न तो आन्तरिक कलह की अवकाश था और न विदेशी आक्रमणों का भय ही । इसलिए उनके युग में दर्शन, विज्ञान, शिल्प, साहित्य आदि की इतनी

उन्नति हुई कि भारतीय साहित्य में गुप्तयुग • स्वर्णयुग • कहा जाता है । वस्तुतः संस्कृत साहित्य का भी यह स्वर्णयुग था । हरिषेण, वीरसेन, विशाखदत्त, कन्निक, कालिदास, भारवि, माघ, दण्डी, वात्स्यायन, दिङ्नाग आदि अनेक प्रसिद्ध संस्कृत के विद्वान् और कवि इसी युग की देन हैं । वस्तुतः यदि संस्कृत साहित्य से गुप्तयुगीन कवियों को निकाल दिया जाय तो हमें उस विशाल और उच्चकोटि के साहित्य से हाथ धोना पड़ेगा जिसके बल पर हम गर्व का अनुभव करते हैं ।

ईस्वी छठी शताब्दी तक गुप्तों के सितारे झुलन्द रहे । उनके बाद पुनः भारत की राजनैतिक एकता क्षिन्न-भिन्न हो गयी और अनेक छोट-छोट स्वतन्त्र राज्य उठ खड़े हुए । गुप्तीचर संस्कृत साहित्य इन्हीं छोट छोट राजाओं के दरबार में पलता रहा । स्थाण्डीश्वर का राजा हर्षवर्द्धन महान् संस्कृतज्ञ और विद्वानों का आश्रयदाता था । उसने स्वयं रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द संस्कृत नाटकों की रचना की थी । संस्कृत का प्रसिद्ध गद्यलेखक बाणभट्ट उसी का आश्रित कवि था । ७वीं से १२ वीं शताब्दी तक का संस्कृत साहित्य बंगाल, विदर्भ, कालंजर, माहिष्मती, धारा राष्ट्रकूट, कल्याण, कोंकण, कान्यकुब्ज और कश्मीर के गुणग्राही सम्राटों की छाया में समृद्ध हुआ । इनमें भी कान्यकुब्ज और कश्मीर संस्कृत के प्रमुख केन्द्र थे । सच तो यह है कि यदि मध्यकालीन संस्कृत साहित्य के इतिहास में से इन दोनों केन्द्रों को निकाल दिया जाय तो हमें संस्कृत की विपुल सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ेगा । भवभूति, विशाखदत्त, और राजशेखर जैसे नाटककार तथा प्रवरपाण्डित्य से परिपूर्ण श्री हर्ष जैसे महाकवि कान्यकुब्ज नरेशों के ही आश्रित कवि थे । सोमदेव, मातृगुप्त, दामोदर, अमरक, रत्नाकर, शिवस्वामी, अभिनन्द, शंकुक, मंसक, आनन्दवर्धन, विलहण, कलहण, वामन, दामोदर गुप्त, मम्मट और भट्टोजिधर जैसे महान् साहित्यकारों के लिए हम कश्मीर के नृत्यतियों के भूषणी हैं । कश्मीर के राजाओं ने किस प्रकार संस्कृत विद्वानों को संरक्षण देकर संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि की, इसका यत्किंचिद् उल्लेख राजतरङ्गिणी में हुआ है । ८ वीं शताब्दी में होने वाले राजा जयपीड के संबंध में कलहण का कहना है कि " जिस प्रकार पूर्वकाल में लुप्त वितस्ता नदी को महर्षि कश्यप ने कश्मीर में पुनः प्रकट किया था उसी प्रकार राजा जयपीड ने सभी विद्याओं के उद्गम स्थान कश्मीर में सभी लुप्तप्राय विद्याओं को पुनराज्जीवित किया ।

उसने खीज खीज कर संसार भर के उत्तम विद्वानों को अपने यहाँ रख लिया था इसलिए अन्य राज्यों में विद्वानों का अकाल सा था । --- प्रतिदिन एक लाख दीनार पाने वाला भट्टोद्भट्ट उसका समापति था । कुट्टिनीमत का लेखक दामोदरगुप्त उसका मन्त्री था । इसी प्रकार मनोरथ, शंखदत्त, चटक एवं सन्न्यमान्न जैसे कवि और वामन जैसे उसके मन्त्री थे । वह सर्वथा विद्वानों के अधीन था । इसलिये विद्वानों के घर (राजदरबार) में नहीं) उसके दर्शनाभिलाषी सामन्तों की भीड़ लगी रहती थी<sup>१</sup> । संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में कश्मीर की धाक १२ वीं शताब्दी तक बनी रही । कश्मीर के विद्वानों द्वारा प्रशंसित ( अर्थात् *certified* ) काव्यों का उन दिनों बड़ा आदर होता था । तभी तो कान्यकुब्ज के विदग्ध कवि श्रीहर्ष को भी अपने अमर काव्य त्रैलोक्य-चरित को कश्मीर में शारदापीठ से प्रमाणित कराना पड़ा ।

इस युग के साहित्य में शृंगार की प्रवृत्ति अधिक दिखायी देती है । इसका मूल कारण यही प्रतीत होता है कि तत्कालीन नरेशों में आपसी वैमनस्य के कारण एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति बलवती थी, अतः वे सदैव आपस में भागड़ते रहते थे और यदाकदा विश्रान्ति मिलने पर अपने द्वन्द्वात्मक जीवन से उाब कर सुरा और सुन्दरी के सेवन में समय बिताते थे । कुछ वीर राजाओं के आश्रित कवियों ने वीर रस प्रधान नाटकों और चरितकाव्यों का भी प्रणयन किया । किन्तु राजसी वातावरण इतना शृंगारिक हो चुका था कि काव्य में कामिनी के नखशिख वर्णन के साथ-साथ नायक-नायिका के रतिविलासों का चित्रण आवश्यक माना जाने लगा था । वीररस प्रधान नाटक वेणीसंहार में दुर्गम और भाग्यमती के असामयिक रति-प्रणय को इसके उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है । जैसे भी काव्य में उन्मुक्त शृंगार को जितना प्रश्रय इस युग में मिला उतना और किसी युग में नहीं ।

१३ वीं और १४ वीं शताब्दियों का संस्कृत साहित्य के इतिहास में कोई विशेष महत्व नहीं है । किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि इन शताब्दियों में साहित्य स्रोतस्विनी बिल्कुल सूख ही गयी थी । दूतांगद का प्रणीता सुभट, विश्वनाथ कविराज, रामचन्द्र, यशपाल आदि साहित्यसाधक अपनी सारस्वत-साधना में लगे रहे और सुरभारती के विशाल भाण्डार को अपनी सरस रचनाओं से भरते रहे ।

१४ वीं से १८ वीं शताब्दी तक का समय भारतीय इतिहास में मुगल बादशाहों का समय था । देश में सर्वत्र मुगलों का आधिपत्य होने के कारण संस्कृत के द्रुतप्रवाह में अवरोध उत्पन्न हो गया । बूँकि मुगलों को इस देश में स्थायी शासन करना था, अतः उन्होंने यहाँ के विद्वद्गण और सामन्तों को उचित सम्मान देकर अपनी न्यायप्रियता, सहिष्णुता और उदारता का परिचय देना प्रारम्भ कर दिया । सम्भवतः प्रथमवार शहाबुद्दीन के दरबार में संस्कृत कवि अमृतदत्त को सम्मान प्राप्त हुआ । अमृतदत्त की कोई कृति आज हमें उपलब्ध नहीं है, केवल एक दो श्लोकों श्लोक सदुक्तिकणामृत और काव्यप्रकाश में उद्धृत पाये जाते हैं । मानुदत्त और गीविन्द-मदट अमरनाम अकबरीय कालीदास प्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर के दरबारी कवि थे । पण्डितराज जैबाननाय, हरनारायणमिश्र और वंशीधरमिश्र के साथ शाहजहाँ के दरबार की शोभा थी । खान देश का नवाब बुरहानशाह रागमंजरी और रागमाला के लेखक पुण्डरीक का आश्रयदाता था । औरंगजेब का सेनापति शाहस्तखाँ के कृपापात्र चतुर्भुज वै रसकल्पद्रुम की और औरंगजेब के पुत्र मुहम्मदशाह के सभाकवि लक्ष्मीपति ने लिपिमालिकाचम्पू की रचना की । उन दिनों दक्षिण और बंगाल में मुगलप्रभाव कम होने के कारण वे ही संस्कृत के प्रमुख केन्द्र थे । दक्षिण में चम्पूओं तथा उपरूपकों के विशाल साहित्य की रचना हुई । गौड़ीय वैष्णवों ने वृन्दावन को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया । रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी, सनातनगोस्वामी, कविकर्णपूर और मित्रमिश्र जैसे वैष्णवमते कवियों ने अपनी भक्ति प्रधान रचनाओं से संस्कृत के विशाल भण्डार को इस मुगल युग में भी समृद्धतर किया ।

इस युग के साहित्य में उत्तरी और दक्षिणी प्रवृत्तियाँ अत्यधिक स्पष्ट हैं । उत्तर में मुगल प्रभाव व्यापक होने के कारण संस्कृत कवि उनके द्वारा सम्मानित होने पर भी अन्दर ही अन्दर एक विशेष प्रकार की छुटन का अनुभव करते रहते थे । अतः उनकी रचनाओं में संसार से विरक्ति और आराध्य के प्रति आत्मसमर्पण की भावना प्रबल हो उठी है । पण्डितराज जै स्वामिमानों कवि भी अपने आश्रयदाता की जी-हुजुरी करते दिखायी देते हैं । दक्षिण में अभी भी सामन्तों का स्वतन्त्र आधिपत्य था । अतः उनके दरबारी कवियों ने उनकी प्रशंसा में चम्पूओं की और उनकी कामलिप्सा की तृप्ति के लिए माण्ड जै साहित्य की विशाल पैमाने पर रचना की ।

---

१: विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य रामचौधुरीकृत मुस्लिम पैदावेज़ टू संस्कृत लर्निंग्स (कलकत्ता)

हाँ, एक बात अवश्य है कि शिष्ट साहित्य के बीच भाषाओं की मूल ही उचित सम्मान न मिल सका, पर लोक से सन्निकटता उसका सर्वोत्तम गुण है और इसलिये लोकसाहित्य के अध्ययन में भाषाओं का विशेष महत्व है ।

औरों के शासनकाल में संस्कृत के मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन कम और टोका-टिप्पणियाँ अधिक हुईं । वस्तुतः ब्रिटिश युग संस्कृत में आलोचना का युग है । फिर भी कुछ मौलिक रचनाएँ इस युग में भी हुईं । निबन्ध, व्यङ्ग्य और उपन्यास -- संस्कृत में इन विधाओं के प्रादुर्भाव का श्रेय इसी युग को है । पं० हृषीकेश मट्टाचार्य, रघुनाथ, मथुरानाथ, अम्बिकादत्त व्यास के नाम इस दौर में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

बीसवीं शताब्दी में विशेषतः स्वातन्त्र्य प्राप्ति के बाद संस्कृत विद्वानों ने विशाल पैमाने पर संस्कृत में मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और करते जा रहे हैं । लेकिन हमारा यह दुर्भाग्य है कि राजकीय संरक्षण के अभाव में इनमें से अधिकांश रचनाएँ अप्रकाशित ही रह जाती हैं । कुछ थोड़ी सी रचनाएँ जो प्रकाश में आ सकी हैं, उनके आधार पर कहा जा सकता है कि इस युग का साहित्य राष्ट्रीय चेतना से आपूरित है । निबन्ध, पत्रकारिता, उपन्यास और चरितप्रधान खण्डकाव्य -- इस युग के साहित्य की समृद्ध विधायें हैं । पण्डितादामाराव की 'सत्याग्रहीता' महात्मा गान्धी के सत्याग्रह को साहित्यिक रूप प्रदान करती है । भारत के राष्ट्रीय नेताओं -- महात्मा गान्धी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री और इन्दिरा गान्धी के जीवन को लेकर अनेकों काव्यों की रचनाएँ हुई हैं । इनमें आचार्य ब्रह्मानन्द शुक्ल का 'नेहरूचरितम्' महाकाव्य परम्परा से हटकर एक नवीन प्रयोग है । इसी प्रकार किसी देश के मुक्तिसंग्राम की घटना को लेकर लिखा गया डॉ० रमेशचन्द्र शुक्ल का 'बंगालदेश' खण्डकाव्य संस्कृत का प्रथम काव्य माना जायेगा । इसी प्रकार डॉ० परमानन्द शास्त्री का जनविजय महाकाव्य भी राजनैतिक घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया प्रथम महाकाव्य है । हिन्दी, औरों आदि भाषाओं से संस्कृत में अनुवाद की प्रवृत्ति भी इस युग की विशेषता है । शैलसपीयर के मिक्समरद्दीम, प्रसाद की कामायनी, डॉ० नगेन्द्र के रससिद्धान्त आदि का अनुवाद संस्कृत में हो चुका है ।

## ( उत्तरपीठिका )

-----

लोक

संस्कृत व्याकरणों की दृष्टि में दर्शनायक लोक धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'लोक' शब्द निष्पन्न होता है। अतः इसका व्युत्पत्तिमय अर्थ हुआ 'देखने वाला'। हरिनामार्कृत व्याकरण में यह धातु दीप्त्यर्थक भी है। माणा-विज्ञानवैद्या दीप्त्यर्थक रुच् धातु से इस शब्द की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं।<sup>१</sup> ऐसा मानने पर लोक शब्द का अर्थ होगा 'जो प्रकाशित हो' अर्थात् 'प्रकाशसम्पन्न'। किन्तु वैदिक काल से ही यह शब्द अपने व्युत्पत्तिमय अर्थ से भिन्न अर्थों अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। ब्रह्माण्ड के विभिन्न भाग यथा भूः, भुवः, स्वः इत्यादि, संसार, जीव, जनसामान्य जैसे अर्थों में लोक शब्द का प्रयोग वैदिक और लौकिक--दोनों ही प्रकार के संस्कृत साहित्य में आम है। कुछ स्थानों पर यह शब्द केवल 'समूह' अथवा 'स्थान' का भी वाचक प्रतीत होता है, यथा-मनुष्यलोक, सर्पलोक। काव्यलोक,<sup>२</sup> प्राकृतलोक,<sup>३</sup> कामुकलोक<sup>४</sup> जैसे शब्दों में 'लोक' शब्द बहुत ही संकुचित अर्थ को प्रकट करता है।<sup>५</sup> लोकवैदेच<sup>६</sup> वेदान्तो वैदिक शब्दों लोकान्तो लौकिक। वाक्यों में 'लोक' से अभिप्राय वैदिकेतर संस्कृति, माणा और साहित्य से है। किन्तु लोकसंग्रह, लोकीपचार, लोककाव्य, लोकसाहित्य, लोकसंस्कृति जैसे शब्दों में 'लोक' का अर्थ कुछ और ही है।

१: तिवारी, मौलानाथ, लोकायन और लोकसाहित्य (संस्कृत पत्रिका, लोकसंस्कृति-विशेषांक, पृ० ४३४)

२: नाट्यशास्त्र, १७। ५६

३: वही, २१। ११४

४: सम्यमात्मिका, ४। १२०

५: गीता, १५। १८

६: महामाष्य, पस्पशाह्निक।

## लोक \* का स्वरूप और उसकी परिभाषा

\* लोकवैद्व \* की दो विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं में \* लोक \* शब्द वैदिकीतर वर्ग को ध्येय<sup>१</sup> तित करता है। लोक के इस विस्तृत आयाम में वेद से भिन्न सम्पूर्ण वाङ्मय और वैदिकीतर समग्र समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, दार्शनिक परम्पराएँ आ जाती हैं। किन्तु ऐसा मान लेने पर रामायण, महाभारत, विभिन्न दर्शनों और धर्मों से सम्बन्धित विशाल वाङ्मय, माघ, भारवि और हर्ष के अलंकृत महाकाव्य तथा कपिल, कणाद, दिङ्नाग जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक भी लोक ही कह जायेंगे। किन्तु हमें यह अभीष्ट नहीं है।

\* लोक \* के स्वरूप के सम्बन्ध में अतिप्राचीन काल से ही विद्वान् विचार करते आये हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में \* लोक \* का स्वरूप प्रायोजनिकदृष्टिकोण के आधार पर विभिन्न प्रकार से निश्चित किया गया है। व्याकरणशास्त्र शब्द प्रयोग में जिस लोक को प्रमाण मानता है वह लोक शिष्टवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है<sup>२</sup>। इसके ठीक विपरीत वामन लोक में ग्राम्यत्व के दर्शन करते हैं। उनके अनुसार ग्राम्यत्व की परिभाषा ही \* लोकप्रयुक्तमात्रं \* ग्राम्यम् \* है। स्पष्ट है, वामन के मत में शिष्टीतर लोग अर्थात् ग्राम्यजन ही \* लोक \* हैं। एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्थावरजंगमात्मक लोक और उसके वृत्त को \* लोक \* कहा है<sup>३</sup>। दुण्डी ने भी चराचर मूतों की प्रवृत्ति को \* लोक \* नाम से अभिहित किया है<sup>४</sup>। मम्मट और हम्पन्न<sup>५</sup> का भी यही मत है। इस प्रकार संस्कृतकाव्यशास्त्रियों की दृष्टि में लोक से अभिप्राय

१: लोकशब्देन शिष्टव्यवहारी गृह्यते (म०भा०)। लोक्येति चात्र शब्दार्थो लोकस्तैन स उच्यते। व्यवहारोऽथा वृद्धव्यवहृतिरम्परा। म०भा० ४। १। १ पर प्रदीपीकृत।

२: लोकवृत्तं लोकः। लोकः स्थावरजंगमात्माव। काव्या० १३२।

३: चराचराणां मूतानां प्रवृत्तिरिह संज्ञिता। - काव्यादर्श ३। ६६३

४: काव्यप्रकाश १। ३ पर \* लोकस्य स्थावरजंगमात्मकस्य लोकवृत्तस्य \* स्वीपज्ञृत्ति।

५: काव्यानुशासन १। ८ पर \* लोकं स्थावरजंगमात्मकं लोकवृत्तेव \* स्वीपज्ञृत्ति।

- शास्त्रीय चेतन्य से मुक्त सम्पूर्ण चराचरात्मक जात और उसका समग्र वृत्त<sup>१</sup> है । शास्त्रीय चेतन्य से मुक्त होना<sup>२</sup> लोक<sup>३</sup> का प्रथम गुण है । शास्त्रीय नियमों में आबद्ध होने पर<sup>४</sup> लोक<sup>५</sup> लोक न रहकर<sup>६</sup> शास्त्र<sup>७</sup> हो जाता है और तब वह उद्यान के उस कुरङ्क के समान केवल सुपरिष्कृत रुचिवाले समृद्ध लोगों के मनोविनोद का साधन रह जाता है जिसे माली अपनी रुचि के अनुसार काट-काट कर गोल-मटोल बना देता है<sup>८</sup> । इसलिये आचार्यों ने लोक और शास्त्र में<sup>९</sup> लोक<sup>१०</sup> को ही प्रथम स्थान दिया है । शास्त्रीय चेतन्य से आपूरित मस्तिष्क वाली<sup>११</sup> ने शास्त्रज्ञान से शून्य मस्तिष्क को<sup>१२</sup> गवार<sup>१३</sup> कहा है । इसीलिये ग्राम्यता की परिभाषाएँ<sup>१४</sup> लोकप्रयुक्तमात्रं ग्राम्यम्,<sup>१५</sup> अविदग्ध्यं ग्राम्यत्वम्,<sup>१६</sup> अस्मभ्याथैविकन्धनं हि ग्राम्यता<sup>१७</sup> आदि दी गयीं ।

आज के साहित्य-मनीषी भी लोक से कुछ ऐसा ही अभिप्राय ग्रहण करते हैं । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार<sup>१८</sup> लोक शब्द का अर्थ<sup>१९</sup> जनपद<sup>२०</sup> या<sup>२१</sup> ग्राम्य<sup>२२</sup> नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पौरुषार्थ नहीं है<sup>२३</sup> । डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय के शब्दों में<sup>२४</sup> जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन स्थिति में वर्तमान हैं उन्हें<sup>२५</sup> लोक<sup>२६</sup> की संज्ञा प्राप्त है । डॉ० सत्येन्द्र ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है<sup>२७</sup> लोकमनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है

१: काव्यशास्त्रविनोदेन कालौगच्छति धीमताम्<sup>२८</sup> विष्णुशर्मा के इस वाक्य से उपर्युक्त कथन सत्यापित हो जाता है ।

२. उदाहरणार्थ- लोकशास्त्रकाव्यविदाणात्<sup>२९</sup> -काव्य० ३।१

• लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः<sup>३०</sup> -काव्यानु० १।८

• लोकविद्वत्<sup>३१</sup> - गीता १५। १८

• अथ शब्दानुशासनम्, केषां शब्दानां, लौकिकानां, वैदिकानां<sup>३२</sup> महामाथ्य, प्रथमाह्निक ।

३. वामन, काव्यानु० । ४. काव्यानुशासन ३।७ पर वृत्ति

५. काव्यानु० ४।१ पर विकल्प । ६. जपद, वर्ण १, अंक १, पृ० ६५

७. लोकसाहित्य की भूमिका, पृ० १३ ( द्वितीय संस्करण )



और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है<sup>१</sup>। कुंजबिहारीदास का भी कुछ ऐसा ही विमर्श है।

### लोक साहित्य

विश्व के सांस्कृतिक गुरु भारत ने इस 'लोक' की कभी उपेक्षा नहीं की। हमारे ऋषियों-मुनियों की कुर्वन्नेह कर्मणि जिजीविषेच्छं समा<sup>३</sup> के साथ परस्पर भावयन्तः परमं श्रेयमवाप्स्यथ<sup>४</sup> के द्वारा इस लोक को सभी तरह से सुख और समृद्धि से परिपूर्ण बनाते हुए परलोक<sup>५</sup> को भी उसी तरह का बनाने की भावना और तदनुकूल प्रयत्न कोई कलौकिक न थे। वे सच्चे अर्थों में पृथिवीपुत्र थे। माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या<sup>६</sup> उनके जीवन का मूलमन्त्र था और हमें किसी अन्य स्वर्ग की तलाश नहीं करनी है, अपितु अभी और यही इसी पृथिवी को स्वर्ग बनाना है। यह थी उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा। वे भलीभांति जानते थे कि इस पृथिवी पर विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले और भिन्न भिन्न धर्मों को मानने वाले जन निवास करते हैं<sup>७</sup> किन्तु यह जन था बड़ा महत्वपूर्ण।.....

इसी जन का दूसरा नाम था 'लोक'। यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। बहुत ही व्यापक है। कौन प्रयत्न करके भी इसे पूरी तरह से जान सकता है? लोक के सम्बन्ध में यह मान्यता थी महान् तत्त्वचिन्तक महर्षि जैमिनि की।

१: लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३ (प्रथम संस्करण)।

२: "दि पीपुल व्ट लिख इन मीर बार लैस प्रिमिटिव कंडीशन वाउटसाइड दि स्फियर आफ सोफिस्टिकेटेड इन्फ्लुएन्स" - दास, कुंजबिहारी, ए स्टडी आफ वीरीसन फौकलोर।

३: ईशोपनिषद्, २

४: गीता, अध्याय ३

५: अर्थ० १२१ १२

। ६: द्रष्टव्य- ऋ० ६।८४। १, अर्थ०, ५।३०। १७

७: जनं विभ्रती बहुधा विवाक्सं नानावर्माणं पृथिवी यथीक्षप्र-अर्थ० १२१ १४५

८: बहु व्याहितो वा अयं बहुलो लोकः।

क एतद् अस्य पुनरीहितो अयात्। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, ३।२

महर्षि व्यास की दृष्टि में 'लोक' का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाला मनुष्य 'सर्वद्रष्टा' होता है। कदाचित् 'लोक' का प्रत्यक्ष दर्शन करने के कारण ही ईश्वर को 'सर्वद्रष्टा' कहा गया होगा। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए 'कर्म' के साथ साथ 'लोकसंग्रह' को कार्यसिद्धि का मूल बताया है। 'कर्म' का अनित्य या अनित्य 'लोकव्यवहार' पर ही आश्रित होता है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि में 'लोकसंग्रह' इतना आवश्यक है कि अनासक्त विद्वान् को भी 'लोकसंग्रह' के लिए कर्म करने का उपदेश उन्होंने दिया है।

'लोक' सम्पूर्ण शास्त्रों का 'उत्स' है। सम्पूर्ण शास्त्रों ने अपनी अपनी सामग्री का संचयन 'लोक' से ही किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि जब शास्त्रकारों ने इस लौकिक सामग्री के स्वरूप को नियन्त्रित करने का प्रयास किया तो वह 'शास्त्रीय' कह जाने लगी और हम उसके मूलस्वरूप को मूल ही बैठे। वस्तुतः शास्त्र 'लोक' को प्रमाण मान कर चलता है और वह स्वयं भी 'लोक' के लिए 'प्रमाण' बन जाता है। इस प्रकार संसार का सम्पूर्ण व्यवहार 'लोक' से शास्त्र और फिर शास्त्र से 'लोक' के वृत्त में केन्द्र बिन्दु 'लोक' के चारों ओर घूमता रहता है। यह केन्द्र बिन्दु पृथ्वी के उस किसी भी बिन्दु के समान है जिसकी सभी कोणों से दूरी बराबर होती है और जिससे किसी भी दिशा में निरंतर चलते रहकर उसी बिन्दु पर लौट आते हैं। अब हम अपने उपर्युक्त मत की पुष्टि में विभिन्न शास्त्रों के उन मतों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जिनमें 'लोक' की महत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार की गयी है।

१: प्रत्यक्षादर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवन्नरः । महामा० उद्यो० ४३। ३६

२: कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ गीता, ३। २०।

३: सक्तः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद् विद्वास्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ वहीं, ३। २५

महामारतकार ने सभी प्रकार के ज्ञानार्जन के लिए परम्परा को सर्वोत्तम साधन माना है--<sup>१</sup> पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन ।<sup>२</sup> कहने की आवश्यकता नहीं है कि यहाँ 'परम्परा' का अभिप्राय ज्ञान की 'लोकपरम्परा' से है। इसी परम्परा को जानने वाले व्यक्तियों को निरुक्त (१३।१२) में 'पारोवर्यविद्' कहा गया है।

'वार्ता' अर्थात् वाणीविका के समस्त साधनों की जानकारी और उक्त उक्त प्रयोग 'लोकव्यवहार' से ही सीखना चाहिए, यह मनु का अभिमत है। लोकव्यवहार को जानने वाले व्यक्तियों को कौटल्य ने लोक्यात्राविद्<sup>३</sup> कहा है। लोकतन्त्रविज्ञाण<sup>४</sup>, लोकवृत्तान्तनिष्णात<sup>५</sup>, लौकिकज्ञ, लोकज्ञ<sup>६</sup> जैसे शब्द भी 'लोक-व्यवहारज्ञ' अर्थ और विषय की महत्ता को प्रकट करते हैं।

वात्स्यायन प्रणीत काम्मुत्र के टीकाकार यशोधर ने 'लोकज्ञान' को भी एक कला माना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कलाओं में वैज्ञान्य प्राप्त करना भी एक उपलब्धि थी।

गौतम ने बहुश्रुत की परिमाणा देते समय वेद, वेदांग, वाक्योवाक्य और पुराण के साथ-साथ सर्वप्रथम 'लोकज्ञान' को आवश्यक बताया है<sup>७</sup>।

इतिहास-पुराण के विस्तृत वाङ्मय का विषय ही 'लोकवृत्त' है<sup>८</sup>। इतिहास पुराण का विषय एक होने पर भी दोनों को केवल लोकप्रसिद्धि<sup>९</sup> के कारण अलग अलग कहा गया है।

१: शा० प०, ४८।३३३

। २: मनु०, ७।४३

३: अर्थशास्त्र, १।१।३

४: महामारत, आर०प०, १५६।१, शा०प० १७४।४

५: अभिज्ञान शाकु०, पंचम अंक,

६: वहीं, पृ० १५०

। ७: धूर्तवित्सवाद, पृ० ७५

८: काम्मुत्र १।३।१५ पर ज्यमाला।

९: गौतमधर्मसूत्र ८।४।६

१०: 'लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य विषयः' -न्यायसूत्र ४।१।६२ पर वात्स्यायन।

११: 'इतिहासपुराणानि भिद्यन्ते लोकगीरवात्' - स्कन्दपुराण, कुमारि० ४०।१६८

व्याकरण जैसा शास्त्र भी सर्वथा लौकानुसारी है। वह हमेशा लोक की प्रमाणा मात्र चलता है<sup>१</sup>। उसका लिंगानुशासन सर्वथा लौकान्वित है<sup>२</sup>। यही बात शब्दप्रयोग के संबंध में भी है। व्याकरण केवल पद की शुद्धि करता है, पद का प्रयोग लौकाधिकार है। महामाष्यकार ने च्यौथ और प्लदा शब्दों का उदाहरण कर इसे स्पष्ट किया है। उनके अनुसार च्यौथ और प्लदा में अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है किन्तु लोक में दोनों का प्रयोग भिन्न भिन्न वृत्तों के लिए होता है। यह बात निरुक्त में और भी स्पष्ट है जहाँ शब्दों का निर्वचन लोक प्रचलित अर्थ के आधार पर किया गया है। लोक की इसी व्यापकता को देखकर महर्षि पतंजलि ने घोषणा की थी कि शास्त्र हमेशा लौकिक व्यवहारों का अनुसरण करता है, जो लोक में व्यवहृत होता है, शास्त्र में उसी का अनुसरण किया जाता है<sup>३</sup>।

राजनीतिशास्त्र में 'लोकव्यवहार' की विशेष महत्त्व दिया गया है। स्मृतिकारों ने स्पष्टरूप से आदेश दिया है कि राजा को देश, कुल, जाति आदि की परम्पराओं की ध्यान में रखकर ही शासन करना चाहिये<sup>४</sup>। शुक्राचार्य ने तो उनके की चीट कहा है -- 'अस्वर्ग्य स्याद् धर्ममपि लोकविहितं तु यत्'<sup>५</sup>।

और फिर धर्मशास्त्र ही लोक विरोधी क्यों होगा? सभी धर्मशास्त्रों ने लोक परम्पराओं की विशेष महत्त्व दिया है। विवाह, नामकरण, ब्रह्मकर्म, मृत्यु आदि संस्कारों में लौकाचारों के निर्वह को धर्मसूत्रकारों ने आवश्यक माना है। अपराध के अनुसार नामकरण संस्कार अपने-अपने गृह्यसूत्रों के अनुसार ही करना चाहिये<sup>६</sup>।

१: लोकविज्ञानात्सिद्धम् १। १। ६५, असिद्धं बहिरंगमन्तरे एषा लोक्तः सिद्धा १। १। ५७  
आदि वाक्यों से यह स्पष्ट है।

२: २। १। ३ पर महामाष्य ।

३: १। २। २ पर महामाष्य । और भी च्यौथ लोकः शब्दान् प्रयुज्जत तदर्थमिधायिन  
एव शास्त्रेणा<sup>अविधी</sup> नियन्ते प्रयोगमूलत्वाद् व्याकरणास्मृतः ५। १। १६ प्रदीपीयते ।

४: शास्त्रं हि लौकिकव्यवहारान् अनुसरति । यल्लोकं व्यवह्रियते तच्छास्त्रेऽपि अनुस्रियते ।

महामाष्य (प्रस्पष्टा०)

५: शुकनीति, ४/८-१०

६: शुकनीति, ३। ६५

७: दृष्टव्य, काणौ, धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी) प्रथम भाग, पृ० १६६

आश्वलायन, आपस्तम्ब और पारस्कर ने ब्रूडाकर्म के अवसर पर कुलधर्म के अनुसार चौटी कौड़न की बात कही है। बौधायन का भी यही मत है। काठकगृह्यसूत्रकार ने विस्तृत वर्णन देते हुए बताया है कि वसिष्ठगौत्रिय सिरके दायीं और, मार्गव पूरे सिर में, अत्रिय तथा काश्यप दोनों और, आंगिरस पाँच और आस्त्य तथा विश्वामित्र गौत्र वाले बिना किसी स्पष्ट संस्था के शिखा रखते हैं, क्यों कि वही शुभ और कुलधर्मानु-कूल है<sup>१</sup>। विवाह के अवसर पर किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में आश्वलायन का कहना है कि विभिन्न देशों और ग्रामों में विभिन्न आचार हैं, उन्हीं का अनुसरण करना चाहिये<sup>२</sup>। इसी प्रकार आपस्तम्ब ने विवाह की विधि स्त्रियों एवं अन्य जनों से जानने की बात कही है<sup>३</sup>। विवाह में शिष्टाचार की जाकारी के लिए वेद या शास्त्र नहीं, 'स्त्रियाँ' प्रमुख मानी गयीं हैं<sup>४</sup>। इस प्रकार विभिन्न गृह्य-सूत्रों एवं धर्मसूत्रों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की विभिन्नता का कारण 'लोक-परम्परा' ही है।

जैन धर्म में श्रमणों के लिए भी लोकव्यवहार का ज्ञान आवश्यक बताया गया है। उनके लिए यह स्पष्ट विधान था कि लोकविरोधी कोई भी क्रिया मले हो वह धार्मिक अथवा शास्त्रीय दृष्टिकोण से परमशुद्ध हो, नहीं करनी चाहिये -

‘यद्यपि शुद्धं लोकं विरुद्धं नाकरणियं नाचरणियम् ।’

सहित्य के क्षेत्र में भी 'लोक' उपेक्षा नहीं रहा। आचार्य जिज्ञान ने तो 'लोकजीवन के विश्लेषण' को 'कविकौशल' की संज्ञा दी है। वामन ने काव्य के तीन अंगों में लोक को प्रथम स्थान दिया है<sup>५</sup>। 'लोक' शब्द का अर्थ बन्नों के शब्दों में 'लोकवृत्तं लोकः । लोकः स्यात्वरजमात्मा च । तस्य वर्तनं वृत्तमिति' है। राजर्षि ने काव्यमीमांसा के द्वैत अध्याय में लोक (प्राकृत और व्युत्पन्न मनुष्य) को काव्यार्थ के सोलह मूलों में गिना है।

१: अथैकं एकाशिस्त्रिशिखः पञ्चाशिक्षी वा यथैषां कुलधर्मः स्यात् । गृष्म० २४

२: काठकगृह्यसूत्र, ४०। २-८ ।

। ३: आश्वलायन गृष्म० १।७। १-२

४: आप० गृ० सू० २।१५

५: आश्व० गृ० १।१४। ८, मनु० २।२२३, वैश्वान्सस्मृति० ३।२१

६: आदित्युराण, ३१। १००

७: लोकौ विद्या प्रकीर्णौ काव्यांगानि-- काव्या० १३१

काव्य में किसी वस्तु का लोकविरुद्ध वर्णन 'लोकविरुद्धदोष' कहा गया है<sup>१</sup>। भोज ने इस दोष की गणना अपने सरस्वतीकण्ठाभरण नामक ग्रन्थ में 'विरुद्ध' नामक दोष के अन्तर्गत की है। डॉमिन्ड्र द्वारा निर्दिष्ट अनौचित्य के सत्ताईस प्रभेदों में से काल, देश, कुल और व्रत सम्बन्धी अनौचित्यों का सीधा संबंध 'लोक' से है। इसी लिए उन्होंने 'लौकाचारपरिज्ञान' की कवि के लिए आवश्यक शिक्षा माना है<sup>२</sup>।

संस्कृत के प्रथम काव्यशास्त्री भरतमुनि ने नाट्यप्रयोग में 'लोक' की ही प्रमाणा माना है<sup>३</sup>। अनेक लोकवर्गी प्रवृत्तियों का परिगणन कराने के उपरान्त भी उन्होंने स्पष्ट आदेश दिया है कि और अधिक विस्तृत एवं व्यापक जानकारी लोक से ही प्राप्त करनी चाहिये -- 'नीलानि च मया यानि लोकास्त्राणि तान्यपि'। यह बात केवल दशरूपकों के ही सम्बन्ध में नहीं है, अपितु सम्पूर्ण काव्य के सम्बन्ध में एक तथ्य है। अभिनवगुप्त ने सम्पूर्ण काव्य को प्रधानतः दशरूपकात्मक ही माना है<sup>४</sup>। यही नहीं, काव्य में रस की प्रतीति भी 'नाट्यायमान' ही होती है। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने गुरु भट्टकौत का मत बड़े आदर के साथ उद्धृत किया है --- 'काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यायै विषये हि प्रत्यदाकल्पसर्वदानीदये रसोदयः इत्युपाध्यायाः'<sup>५</sup>।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे यहाँ अति प्राचीन काल से ही लोक के महत्त्व और उसके स्वतन्त्र अध्ययन की विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। किन्तु उसके अध्ययनाथे किसी शास्त्र की रचना नहीं की गई। यह दूसरी बात है कि

१: दण्डी, काव्यादर्श, ३। १६२-६४ । २: कविकण्ठाभरण, २६

३: लोकसिद्धं भवत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।

तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ॥ रू। ११३२

नानाशीलाः प्रकृतयः शीलनाट्ये प्रतिष्ठिताः ।

तस्माल्लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोजनमिः ॥

४: ना० शा०, २४। २१४

५: काव्यं तावन्मुख्यतः दशरूपात्मकमेव । अभि०, पृ० २२

६: वही, पृ० २१

काव्यशास्त्रियों में काव्य के अनेक प्रयोजनों में 'व्यवहारज्ञान' भी एक प्रयोजन माना है। यहाँ तो लोक ज्ञान के लिए 'सम्पूर्णलोक' ही प्रस्तुत था, उसे शास्त्रीयता के शिकंजे में जकड़कर 'असहाय' नहीं बनाया गया। लोक का प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष करने के उपरान्त ही लोक का सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु आज की 'शॉर्ट-कट' संस्कृति में 'लोकज्ञान' के लिए भी 'शॉर्ट-कट' मार्ग ही अपनाया गया है। अतः लोक के अध्ययन के लिए भी एक शास्त्र का जन्म हुआ जिसे अंग्रेजी में फोल्क्लोर और हिन्दी में लोकवाता या लोकसंस्कृति कहा जाता है।

### अंग्रेजी के फोल्क्लोर शब्द का अर्थ

असुक्ति युग में इस शास्त्र के व्यवस्थित अध्ययन की ओर सर्वप्रथम यूरोप का ध्यान गया। पुरातत्व, नृविज्ञान, भाषाविज्ञान और धर्मशास्त्र जैसे विषयों की सही जानकारी प्राप्त करने के लिए यूरोपीय देशों में बहुत पहले से ही 'लोक-साहित्य' का वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन पापुलर एन्टीक्यूटीज के नाम से किया जाता रहा है। १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जनजीवन का अनुशीलन करने वाले शास्त्र का यही नाम प्रचलित था। आस्त, १८४६ ई० में विलियम जॉन थॉमस ने इस शास्त्र को नया नाम ( Folklore ) दिया। उस समय उसके मत में पापुलर एन्टीक्यूटीज और पापुलर लीडेचर में कोई विशेष अन्तर न था। तभी से यूरोप की प्रायः सभी भाषाओं में थोड़े-बहुत ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ यह शब्द प्रस्तुत अर्थ में गृहीत कर लिया गया है।

'फोल्क्लोर' शब्द Folk और lore दो शब्दों के संयोग से बना है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'फोल्क' शब्द एंग्लो-सैक्सन शब्द Folc का विकसित रूप है। Old English, Old Saxon और Old High Germanic.

- 1- The word folklore was introduced into English usage by W.J. Thomas in a letter written under the pseudonym of Ambrose Merton which appeared in the Athenaeum in August 1846. In this he suggested that "a good saxon compound Folklore" could be more aptly used to describe "what we in England designate as popular Antiquities or popular literature."

भाषाओं में Folc रूप ही पाया जाता है। यही शब्द Germanic में Folkam और Old Norse में Folk हो गया है। जर्मन में इसका रूप Volk है, किन्तु उच्चारण की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पुरानी अंग्रेजी में कहीं कहीं इसका Fouk भी दोख पड़ता है। इस शब्द का मूल अर्थ है पापुलर इन जनरल जैसे संस्कृत की परम्परा में जन अथवा लोक कहा जा सकता है। किन्तु Folklore आदि के सन्दर्भ में इसका अर्थ 'असंस्कृतलोक' लिया जाता है। अंग्रेजी विश्वकोष में 'फोक' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि 'एक आदिम जाति में वे सभी व्यक्ति 'फोक' होते हैं जिसे वह समुदाय बना है और यदि शब्द का विशद अर्थ लिया जाय तो इसका प्रयोग सम्य राष्ट्र की समग्र जनता के लिए भी किया जा सकता है। फिर भी पाश्चात्य प्रकार की सम्यता की दृष्टि में इस शब्द का साधारण प्रयोग संकुचित अर्थ में प्रमुखतया केवल उन्हीं के लिए आता है जो नागर-संस्कृति की धाराओं तथा विधिवत् शिक्षा से बाहर पड़ जाते हैं, जो निर्दार हैं अथवा कम पढ़े हैं और गाँवों अथवा जनपदों में निवास करते हैं'। डॉ० वाकर के अनुसार 'फोक' से किसी सम्यता से दूर रहने वाली पूरी जाति का बोध होता है या यदि इसका विस्तृत अर्थ लिया जाय तो संस्कृत राष्ट्र के भी सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं। पर 'फोकलोर' के सन्दर्भ में फोक का अर्थ असंस्कृतलोक है<sup>१</sup>। दूसरा शब्द *lore* एंग्लो-सैक्सन *lor* से निकला है जिसका अर्थ है जो सीखा जाय अर्थात् ज्ञान। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ परम्परा-गतज्ञान लिया जाता है। इस प्रकार यद्यपि 'फोकलोर' शब्द का अर्थ असंस्कृत लोगों का ज्ञान है तथापि इस शब्द को जन्म देने वाले विद्वान् डब्ल्यू० जे० थॉम्स के अनुसार इस शब्द का अर्थ है-- 'सम्यजातियों में मिलने वाले असंस्कृत समुदाय की प्रथाओं और रीति-रिवाजों का परम्परागतज्ञान'<sup>२</sup>।

१: इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द ६ (फोकलोर) ३

२: लोकसंस्कृति विशेषांक, पृ० ४३३।

३: इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, जिल्द ६ (फोकलोर)



फौकलौर के लिए संस्कृत में शब्द -

वैसे तो लोक विषय<sup>पूर्ण</sup> सम्पूर्ण तथ्यों का अध्ययन संस्कृत साहित्य में 'लोक' शीर्षक के अन्तर्गत ही किया जाता रहा है, फिर भी अति प्राचीन काल से ही इस विषय के लिए लोकसंग्रह, लोकागम, लोकवाता, लोकवृत्त, लोकवृत्तान्त, लोकव्यवहार, लोकतन्त्र, लोकचरित, लोकौपचारज्ञान, लोकज्ञान, लोकप्रवृत्ति, पुराण, लोकयात्रा आदि पारिभाषिक शब्द प्रचलित हो चले थे और इस विषय में निष्णात<sup>लोकज्ञ</sup> (ना<sup>०</sup>शा<sup>०</sup> ३३। १७६, धृतीवित्सवाद, ७५ आदि), लौकिकज्ञ (शाकुन्तल १५०) लोकवृत्तान्त-निष्णात (शाकु० पंचमं), लोकतन्त्रविन्नायक (महा० शक्ति० ६। ७। १२२), लोकयात्रा-विद्<sup>१</sup> कहे जाते थे। इन शब्दों में से 'फौकलौर' के वर्तमान अर्थ में कौनसा शब्द सर्वाधिक उपयुक्त हो सकता है? इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है।

सर्वप्रथम 'लोकसंग्रह' शब्द ही लीजिए। यह शब्द 'फौकलौर' के वर्तमान विस्तृत अर्थ को अभिव्यक्त करने में पूर्णतया सक्षम है, यदि इसे आज भी संस्कृत की ही परम्परा में गृहीत किया जाय। जन एवं देश का वाक्क 'लोक' शब्द लक्षणा से तज्जनीन एवं तद्देशीय विशेषताओं को भी प्रकट करता है। इन विशेषताओं का सम्यक् ग्रहण ही 'लोकसंग्रह' है। 'संग्रह' का विकसित अर्थ 'संकलन' है। गुरुपरम्परा से चले आ रहे ऐसे अनेक तथ्यों का संकलन जो लिपिबद्ध नहीं किये जा सके थे, 'संग्रह' नाम से जाने जाते थे। कालान्तर में ऐसे 'संग्रह' जब लिपि-बद्ध होकर 'ग्रन्थरूप' में विद्वज्जात में अवतरित हुए तो उन्हें प्रमाणस्वरूप स्वतन्त्र 'अथारिटी' के रूप में मान्यता दी जाने लगी। पतंजलि ने महामाष्य में, - अनेक संग्रह श्लोको<sup>१</sup> और संग्रहकार का उल्लेख किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र एवं आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक आदि में भी संग्रहश्लोको<sup>२</sup> की उल्लेख मिलता है। रामायण<sup>३</sup> महामारत और पुराण भी 'संग्रह' से परिचित हैं। अतः निष्कर्ष निकाला जा

१: संग्रह तावत्प्राधान्येन परीक्षितव्यम्-- नित्यो वा स्यात् कार्या वा । -म०भा०  
संग्रह के कुछ श्लोक वाक्यपदीय की स्वोपज्ञेयिका ( २। ४७६, ८१ ) में तथा  
महामाष्य ( १। १। १ ) की त्रिपदी टीका में भट्टहरि ने भी उद्धृत किए हैं।

३: रामायण, पृ० ६६३,

सकता है कि परम्परागत ज्ञान का संकलन 'संग्रह' और लोक की उन परम्पराओं विश्वासों, प्रथाओं आदि के संकलन का अध्ययन, जो लिपिबद्ध या ग्रन्थस्थित नहीं थे, ही 'लोकसंग्रह' कहा जाता था। किन्तु आज हिन्दी में 'संग्रह' शब्द का अर्थ मात्र 'संकलन' प्रचलित होने के कारण हिन्दी के विद्वान् 'फौकलौर' के संस्कृत हिन्दी पर्याय के रूप में 'लोकसंग्रह' शब्द को ग्रहण करने में हिचकें।

दूसरा शब्द 'लौकवाती' है जिसे स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'फौकलौर' का सही पर्याय माना है। आज के हिन्दी ज्ञात में यह शब्द 'फौकलौर' के अर्थ में लगभग प्रतिष्ठित हो चुका है। यद्यपि डा० कृष्णदेव उपाध्याय एवं डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी 'लौकवाती' शब्द के स्थान पर 'लौकसंस्कृति' शब्द का प्रयोग उचित समझते हैं। डा० सत्येन्द्र का कहना है कि डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी वैष्णवमक्ति साहित्य में प्रचलित 'चौरासी-वैष्णवन की वाती' आदि शब्दों के आधार पर 'लौकवाती' शब्द का निर्माण किया है<sup>१</sup>। पर संस्कृत में अनभिज्ञ होने के कारण ही डा० सत्येन्द्र ने ऐसा कहा है। सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि सभी लोकसाहित्य के हिन्दी विद्वानों ने डा० सत्येन्द्र के कथन को ही प्रमाण मानकर अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। डा० अग्रवाल न केवल संस्कृत साहित्य के अपितु सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य के मनीष थे। उन्होंने 'लौकवाती' शब्द का अर्थ निश्चय ही प्रचलित संस्कृत शब्दकोषों से न कर भरतमुनि<sup>२</sup> नाट्यशास्त्र से किया होगा। वहाँ 'लौकवाती' शब्द 'लौकव्यवहार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है<sup>३</sup>। किन्तु वर्तमान संस्कृत शब्दकोषों में 'लौकवाती' का अर्थ प्रवाद, अपवाह, किंवदन्ती, लोकप्रिय समाचार दिया गया है<sup>४</sup>। 'लौकवाती' शब्द दशकुमारचरित में भी आया है और वहाँ भी इसका

१: डा० कृष्णदेव उपाध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका (द्वितीय संस्करण) पृ० २१

२: डा० सत्येन्द्र, ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन (आगरा), पृ० १

३: 'एवं लौकस्य वाती नानावस्थान्तरात्मिका' ना०शा० १५७० सं० १६

• लौकवातीकियापितमंगलीला विवर्जितम् ना०शा० १५७०

४: वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत-कोश शब्दकोष, पृ०

अर्थ लोकावहार<sup>१</sup> ही है। इस प्रकार लोकवाता<sup>२</sup> शब्द में लोक शब्द तो अंग्रेजी के Folk का सही पर्याय है किन्तु वाता<sup>३</sup> शब्द में Job का भाव व्यक्त करने की दायता नहीं है। नाट्यशास्त्र में ही वाता<sup>४</sup> शब्द का स्काधिकार्थों में प्रयोग मिलता है। भरतमुनि के अनुसार वाता<sup>५</sup> चारविधान का एक भेद है। उन्होंने उसकी परिभाषा भी दी है। गृहवाता<sup>६</sup> शब्द में वाता<sup>७</sup> से अमिप्राय धेरु व्यवहार अर्थात् धेरु गोष्ठी है। दशकुमारचरित में देशवाता<sup>८</sup> शब्द लोकिकगोष्ठी के ही अर्थ में आया है। नाट्यशास्त्र में ही एक स्थल पर वाता<sup>९</sup> का अर्थ आजीविका प्रतीत होता है। कौटिल्य के अनुसार कृषि, पशुपालन और वाणिज्य-इन तीनों का सम्मिलित नाम वाता<sup>१०</sup> है। भागवत में कृषि वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद को वाता<sup>११</sup> कहा है। ज्यमंगलाकार के मत में अर्थविद्या का ही अपरनाम वातशास्त्र है। मनु के अनुसार यह वाता<sup>१२</sup> लोकव्यवहार से सीखनी चाहिये।<sup>१०</sup>

योगदर्शन में गन्धज्ञान को वाता<sup>१३</sup> कहा जाता है। महाभारत में अनेक स्थानों पर समाचार को तीन बात के अर्थ में वाता<sup>१४</sup> शब्द का प्रयोग हुआ है। वाता<sup>१५</sup> का एक अर्थ सन्देश भी है। अमरकोष में वाता<sup>१६</sup> प्रवृत्ति-वृत्तान्त उदन्तः स्यात् अर्थात् प्रवृत्ति, वृत्तान्त और समाचार को वाता<sup>१७</sup> कहा गया है।

१: दशकुमारचरित (जीवानन्द संस्करण), पृ० १२१

२: ना०शा०, ११८ । ३: ना०शा०, ११।१५

४: ना०शा०, १३।२१२, २०।५५, ३३।२६ । ५: दशकुमारचरित (जीवानन्द सं०) पृ० १६६

६: नानादेशविषामाषामाचारवाताः स्थापयतीति प्रवृत्तिः । - ना०शा० १४।३६

७: कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वाता । - अर्थ०, १।३--

८: कृषिवाणिज्यगौरवात् कुसीदं तुर्यमुच्यते । वाता चतर्विधातत्र वयं गोवृत्त्यो निश्चमः ॥ १०।२४।२१

९: अर्थविद्यावातशास्त्रम् । कामसूत्र १।३१ पर ज्यमंगलटीका ।

१०: मनु० ७।४३ । ११: वातगन्धसंविद् योगसूत्र ३।३६ पर मीमांसिका ।

१२: इह वाता बहुविधा धर्माधर्मस्यकारिणाल- - शा०प०, मीमांसिका, १६।२।६

१३: दे० मृच्छ० पृ० ३०५ पर राज्ञातापहारी ।

अमर कोश के रामायणी टीकाकार ने वृत्तिलोकवृत्तम्, तदस्त्यस्यास् (वृत्तश्चेति वातिकेन पा. ) वाती शब्द की व्युत्पत्ति दी है । इस प्रकार संस्कृत में ज्ञान के अर्थ में वाती शब्द का प्रयोग कहीं नहीं मिलता ।

साहित्य के क्षेत्र में मामह में वक्तातिहीन उक्ति की वाती कह कर इसका अवलोकित उदाहरण दिया है -

गतीऽस्तमकीं मातीन्दुः यान्ति वासाय पदिाणाः ।

इत्येवमादि किं काव्यं ? वातीमिनां प्रवृत्तौ ॥ (२१८७)

किन्तु दण्डी ने औपचारिक वचन की वाती की संज्ञा देकर उसे कान्तिगुण के अन्तीत रखा है । यह वाती केवल वर्णनामात्र है और उपचारवचन होने के कारण लौकसीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाती । इस प्रकार संस्कृत साहित्य में वाती या तो केवल कान्तिगुण का एक प्रभेद मात्र है या फिर अधिक से अधिक उसे लोक लोक विशेषण के साथ लोकसाहित्य अर्थात् ग्राम्यकवि की रचना माना जा सकता है । भैरव विचार में तो लोकवाती शब्द किसी पर्व आदि के सम्बन्ध में जनप्रचलित वाती के भाव को ही वहन करने को दामता रखता है । आज भी जनसामान्य सम्बन्ध में बात जो वाती का ही अपभ्रष्ट शब्द है, कहानी अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह कहानी मनीरञ्जनात्मक तथा धार्मिक भेद से दो प्रकार की होती है । करकचतुर्यी, गणेश चतुर्यी, श्रावणी आदि की पूजा के अवसर पर घरों में स्त्रियों द्वारा जो कहानियाँ कही जाती हैं, वे पौराणिक व्रत कथाओं के ही परिवर्तित या अवशिष्ट रूप हैं और भैरव मत में लोक वाती, से इन्हीं कथाओं का ग्रहण होना चाहिए । इस प्रकार लोक वाती शब्द लोकलोक का भाव प्रकट करने में नितान्त असमर्थ है ।

लोक वृत्त, लोकवृत्तान्त और लोक व्यवहार- ये तीनों ही समानार्थी शब्द हैं और लोकलोक के विशिष्ट भाव को अभिव्यक्त नहीं कर सकते । क्योंकि ये शब्द लोक के सामान्य व्यवहार, लोकाचार एवं लौकिक समाचारों को तो अभिव्यक्त करते हैं किन्तु लोकलोक का लोकसाहित्य जैसा महत्वपूर्ण अंग इन शब्दों की परिधि से बाहर ही रह जाता है । लोक चरित शब्द भी लोक के आचरण को ही भाव वहन करता है<sup>२</sup> लोकयात्रा<sup>३</sup> से इस लोक की सामान्य जीवन पद्धति का बोध होता है<sup>४</sup> । लोक प्रवृत्ति शब्द अपेक्षाकृत व्यापक है । भारत में प्रवृत्ति की परिभाषा नानदिशैश्चैषामाचारा वातीः स्थापयतीति प्रवृत्ति दी है ।

१- काव्यादेश, १।८५

४-

कवि - नाट शब्द, १४/२६

२- मालविकाग्निमित्र, १।४

३- रामायण, कण्ठ अर्थो, १०६। २९  
कामसूत्र १। २। १६, ३१ पर जयमलालाचार्य ने लोक यात्रा शब्द का अर्थ वर्णश्रमाचार लक्षणों लोकयात्रा किया है ।

किन्तु इस शब्द की अधिक व्यापकता ही इसे कौक्लीर का भाव प्रकट करने में बाधक है ।

पुराण का मूलविषय यद्यपि लोकविरत ही है किन्तु वह एक विशिष्ट क्रम में निबद्ध होने के कारण कौक्लीर का प्रयोग नहीं माना जा सकता । यद्यपि कौक्लीर के मूलभाव को प्रकट करने वाला तथा पुराण-परम्परा से प्राप्त बुद्धियाँ पुराण शब्द ब्रज भाषा में उपलब्ध है तथापि इसे कौक्लीर की अपेक्षा संकुचित अर्थ में ही ग्रहण किया जाता है । लोकतन्त्र शब्द कौक्लीर के स्थान पर अपनाया जा सकता था किन्तु कालिदास के युग से ही वह राजनीतिशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में प्रवेश कर चुका है <sup>१</sup> । अतः कौक्लीर का स्थानापन्न कोई अन्य ही संस्कृत शब्द निश्चित करना पड़ेगा ।

लोकज्ञान शब्द कौक्लीर का शब्दशः अनुवाद है और इसका संस्कृत ग्रन्थों में प्रयोग भी मिलता है किन्तु वहाँ यह शब्द कौक्लीर की अपेक्षा अधिक विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ मिलता है । अपने सीमित अर्थ में यह शब्द केवल कलाविशेष का वाचक है । २ इस प्रकार लोकज्ञान शब्द कौक्लीर के शब्दार्थ के समीपतम होने पर भी उसके पूर्ण भाव को अभिव्यक्त नहीं कर पाता । इसी प्रकार लोक शास्त्र शब्द भी विद्वानों को केवल इसलिए पसन्द नहीं आयेगा क्योंकि उसमें शास्त्रीय अनुशासन की गन्ध आती है और यह स्पष्ट है कि लोक किसी शास्त्र का अनुशासन सहन नहीं करता ।

हमारी दृष्टि में कौक्लीर के अर्थ में लोकागम शब्द का प्रयोग सर्वाधिक समीचीन होगा । यह कोई नया शब्द नहीं है, रामायण में इसका प्राचीनतम प्रयोग उपलब्ध होता है <sup>३</sup> । अद० + गम् से प्रेरणार्थ में णिच् प्रत्यय करने पर आगम शब्द निष्पन्न होता है । गम् के ज्ञान, गमन और प्राप्ति- ये तीन अर्थ हैं । इस प्रकार आगम्यति ज्ञानं प्रापयति, इति आगमः अथवा आसमन्ताद् गमयति वीक्षयति अर्थम् आगम शब्द की व्युत्पत्ति होगी । अर्थ शब्द से वस्तु, अभिधेय, धन, प्रयोजन और निवृत्ति का वीध होता है । अतः लोकागम शब्द की व्युत्पत्ति होगी - लोकानामर्थः, लोकार्थः, लोकार्थस्य आगमः, लोकागमः ( मध्यमपदलौपी बहुव्रीहिसमास ) । आगम शास्त्रवत् अनुशासक नहीं होता और न निगम के समान एक निश्चित धारणा एवं पद्धति से प्रतिबद्ध । उसका उत्स लोक होता है और वहीं से उसे सन्जीवनी शक्ति प्राप्त होती है ।

१- अविश्रान्तोऽयं लोकतन्त्राधिकारः - अमि० शा०/

२- कामसूत्र, १।३।१५ परजयमंगल ।

३- रामायण, पृ० २०० (गीताप्रेस्)  
४- तत्त्वटीका, पृ० १।४।५५ से १।४।५६, और अनुमति च ३।१।२६ से णिच्

अतः लोकम्यः आगमः इस अर्थ में भी लोकागम शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। लोकार्थः आगमः, लोकप्रयीजनों वा आगमः यह अर्थ भी लोकागम से प्राप्त किया जा सकता है।

### फोल्क्लोर का क्षेत्र -

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर आये हैं कि फोल्क्लोर शब्द के जन्मदाता विलियम जॉन थॉमस के मत में इस शब्द से पापुलर एन्टीक्यूटीस का बोध होता था और पापुलर एन्टीक्यूटीस तथा पापुलर लिटरेचर में वह कोई अन्तर नहीं सम्मता था। किन्तु धीरे-धीरे इस शब्द का प्रयोग बदल गया। फलतः, इसका अर्थ भी क्रमिक विकास को प्राप्त हुआ। आज सामान्य जन-जीवन से सम्बन्धित सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों और परम्पराओं का समावेश इसकी परिधि में हो चुका है। प्रारम्भ में मानवीय विश्वासों और प्रथाओं को ही फोल्क्लोर की परिधि में स्थान मिल पाया था, किन्तु बाद में इसकी परिधि के विशाल धैर में लोकगीतों, लोक कथा और लोक-कृतियों आदि के भी जन्म में संभूत लिया। श्री मती सी० एस० वर्न का विचार है कि यह एक आतिथेय शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, नीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के घैतन तथा जड़ जात के सम्बन्ध में, मानव स्वभाव तथा मनुष्यकृत पदार्थों के सम्बन्ध में, मृत-प्रेतों की दुनियाँ तथा उसके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषय में, जादू, टोना, सम्पौहन, ब्रह्मोन्मेष, ताबीज़ माग्य, शकुन, योग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असम्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, अशुभ, मत्स्य-व्यवसाय, पशुपालन आदि विषयों के भी रीति रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं।

- 1- The term is normally confined to the spoken or written traditions of people, to traditional asthetic expressions. Even within this definitions/ Folklore approaches ~~anthropology~~ anthropology at many points, both in subject matter and in method..... there would seem to be no disagreement about its use to include all kinds of folksongs, folktales, superstitions, local legends, proverbs and riddles.

(Dicuionary of world literature P.242)

तथा धर्माचार, अवदान, लोक कहानियाँ, सकि (कौटिल्य), गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लीरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है, वे सभी इसके क्षेत्र में हैं। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो फौकलौरिस्ट की अपनी और आकृष्टित करता है, किन्तु वे उपचार अथवा अनुष्ठान हैं जो किसान हल से भूमि जीतने के काम में लाने के समय करता है, जाल अथवा वंशी को बनावट नहीं, वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है, पुल अथवा निवास का निर्माण नहीं, वरन् वह बलि जो उसके बनाते समय दी जाती है। फौकलौर वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा भाषादि के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में सम्पन्न हुई हो।<sup>१</sup> सोफियावन के इस अभिमत का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए डा० कृष्ण देव उपाध्याय लिखते हैं कि सोफियावन ने फौकलौर के विषय को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है -

(१) लोक विश्वास और अन्य परम्पराएँ,

(२) रीति-रिवाज तथा प्रथाएँ

(३) लोक साहित्य

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत पृथ्वी तथा आकाश, वनस्पति जगत्, पशुजगत्, मानव, मनुष्य निर्मित वस्तु, आत्मा तथा परलोक, परामानवी शक्ति, शकुन, अपशकुन, मन्त्रिष्यवाणी आकाशवाणी, जादू-टोना आदि में सम्बन्धित लोक विश्वास और परम्पराएँ आती हैं। दूसरी श्रेणी में सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ, व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय, उद्योग धन्धे, व्रत- त्यौहार आदि के सम्बन्ध में प्रचलित रीति रिवाजों का समावेश है। तीसरी श्रेणी में लोकगीत, लोक कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ, वच्ची के गीत, खेल के गीत आदि अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार समस्त लोकसंस्कृति उपर्युक्त तीन विभागों में विभक्त की गयी है।<sup>२</sup> डा० सत्येन्द्र ने भी यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।<sup>३</sup>

१- सोफियावन, ए हेण्डबुक आफ फौकलौर, पृ० ४ से डा० सत्येन्द्र द्वारा ब्रजलीक साहित्य का अध्ययन पृ० ४-५ पर अवदित।

२- डा० कृष्णदेव उपाध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका (द्वितीय संस्करण, पृ० २२-२३)

३- डा० सत्येन्द्र, लोकसाहित्य विज्ञान, पृ० ३३-३४, ब्रजलीक साहित्य का अध्ययन, पृ० ५

किन्तु आज फौकलौर का क्षेत्र और भी विस्तृत हो चुका है। स्वयं का० सत्येन्द्र ने फौकलौर के क्षेत्र की परिधि को विस्तृत करने का प्रयास किया है। यह बात दूसरी है कि उनके द्वारा किया गया विस्तार अधिकांश में पुनरातिथि एवं अनिव्याप्ति दोषों से युक्त है।<sup>१</sup> फिर भी उनके मौलिक प्रयास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मन्त्र और पुरोहित को उन्होंने पहलीवार फौकलौर के अध्ययन को सीमा में पहुँचाया।

सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञानवेत्ता श्री भीलानाथ तिवारी ने फौकलौर की कला, विश्वास और अनुष्ठान- इन तीन क्षेत्रों में विभाजित किया है।<sup>२</sup> तिवारी जी ने यहाँ कला शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।<sup>एक</sup> सुप्रसिद्ध परिचात्य विद्वान् ने रीति रिवाज, विश्वास, साहित्य और कला को फौकलौर के अध्ययन का विषय माना है।

वस्तुतः फौकलौर का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि लोक। फौकलौर के लिए हमारे द्वारा निश्चित संस्कृत शब्द लोकागम से यह भाव मलों- भाँति व्यक्त हो जाता है कि लोकागम लोक का आगम (शास्त्र) है, उसका आगमन लोक से लोक के ज्ञान, उसकी गति और प्राप्ति के लिए अथवा लोक की वस्तु, अभिधाय, धन, प्रयोजन और निवृत्ति के लिए होता है। अतः लोक की वे शास्त्रीय मान्यताएँ जो अभिजातशास्त्रीय चेतन्य के अहं से मुक्त हैं, लोक का सर्वविधज्ञान (साहित्य, कला, विज्ञान आदि), लोक का सम्पूर्ण वृत्त (रीति-रिवाज, विश्वास आदि), लोक के सम्पूर्ण प्रयोजन और निवृत्ति के सभी उपाय लोकागम की विशाल परिधि में आ जाते हैं। लोकागम के विस्तृत क्षेत्र को हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं -

- १- लोकज्ञान,
- २- लोकाति,
- ३- लोक प्राप्ति

लोकज्ञान के अन्तर्गत जनसामान्य का धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान आदि

१- लोक साहित्य विज्ञान, पृ० ३४ की पादु -टिप्पणी में यह विशदीकरण द्रष्टव्य है। उसे ध्यान पूर्वक पढ़कर विद्वान् समालोचक भूरे कथन से अवश्य सहमत होंगे।

२- सम्मेलन पत्रिका का लोक संस्कृति विशेषांक, पृ० ४३५ पर श्री भीलानाथ तिवारी का लेख लोकायन और लोक साहित्य।

३- फौकलौर मोन्स दी स्टडी आफ सरवाइवल आफ अर्ली कस्टम, थिलीफ, मेरिटिव एन्ड आर्ट - लेक्स स्पेन्स, एन इन्ट्रीडक्शन टू माईयोलॉजी, पृ० ११



विषयों का अन्तर्भाव है। लौक्यगति से अभिप्राय जन्मान्मान्य के उन समस्त कर्मों से सम्मानना चाहिए जिससे लोक निरन्तर गतिशील बना रहता है। भूत-प्रेत आदि में विश्वास, जादू, टोटका, शकुनापशकुन, मन्त्रिष्यकथन, मनोरन्जन, उत्सव उद्योग आदि लोक को गति प्रदान करते हैं। ऐहिकजीवन की सुख-समृद्धि में आशा, विश्वास और आश्चर्य की त्रिविणी सतत प्रवाहित होती रहती है। और यही लौक्यगति की प्रेरिका शक्ति है। स्वर्ग, नरक आदि लोकों की प्राप्ति हेतु किये जाने वाले अनुष्ठानों, तदविषयक विचारों, विश्वासों और मान्यताओं तथा मोक्षा आदि आध्यात्मिक अनुभूतियों का समावेश लोक प्राप्ति के अन्तर्गत सम्मानना चाहिए।

### साहित्य और लौकागम

लौकागम एक व्यापक तत्त्व है जिसकी साहित्य में परिव्याप्ति इतनी अन्तर्गन्तरीय और सूक्ष्म है कि उसमें सतत विद्यमान रहने पर भी वह प्रायः अप्रतीत ही बनी रहती है। यदि साहित्य से इस लौकागम तत्त्व को पृथक् कर दिया जाय तो साहित्य की 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की त्रिविणी सुख जायगी, उसमें नित-नूतन कल्पनाओं, चमत्कारों और खीन विषयों का आगमन अवबृद्ध हो जायगा और तब 'दाणी दाणी यन्त्रवतामुपैति तद्वत् रूपं रमणीयतायाः' यह फर्क रमणीयत्व की न तो यह परिभाषा ही रहेगी और न 'सर्वविस्थाविशेषेषु मायुर्यं रमणीयता' यह परिभाषा ही उपयुक्त सम्झी जायगी। साहित्य में रमणीयता का आगम लोक से होता है और वह लोक के ही लिए होता है। इसलिए साहित्य के प्राण रमणीयत्व की लौकागम से पृथक् नहीं किया जा सकता।

आगम हमेशा मिश्रित होता है। वह किसी के स्थान पर अपना प्रभुत्व नहीं जमाता। यही कारण है कि साहित्य में लोक की अनेक रीतियों, विश्वासों आदि का आगम भिन्न-भिन्न समयों और दिशाओं में होने पर भी सभी समान रूप से रहे जाते हैं। कोई लौकिक प्रथा को नष्ट कर उसका स्थान नहीं लेती। साहित्य सर्वत्र अर्थों में सदा ही लोक के अत्यन्त सान्निध्य में रहता है। साहित्य के इतिहास में आविर्भाव काल से ही आज तक न जाने कितनी बार लोकतत्वों का संक्रमण हुआ है और उसके प्रतिदिन के रूप में साहित्य ने भी यदा-कदा लोकमानस को प्रभावित किया है। साहित्य एवं लौकागम के पारस्परिक आदान-प्रदान की अजायब हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी स्वीकार किया है।<sup>१</sup> अब कभी मानवीय इतिहास में गतिरोध

एवं अवसाद उपस्थित हुआ है, अनुभवों भेदाविर्यों में उसका मार्ग प्रशस्त करने के लिए अपने अतीत की ओर ही देखा है। इसे वर्तमान और भूत का विरोध नहीं समझना चाहिए। वर्तमान का निमाणी सदा ही भूत के ध्वसांशेषों पर होता है। और फिर विरोध भी तो कोई विनाशकतत्त्व नहीं है, वह तो समस्त जीवन और प्रगति का मूल है, अपने ही भीतर विरोधी तत्त्व की उपस्थिति के कारण प्रत्येक वस्तु गति, प्रेरणा और क्रियाशीलता प्राप्त करती है।<sup>१</sup>

साहित्य सच्चे अर्थों में सदैव लोक के अत्यन्त सान्निध्य में रहता है। यद्यपि शास्त्राचार्यों ने शिव और सुन्दर की दृष्टि से अनेक संस्कार कर साहित्य को लोक से पृथक् करने के लिए 'ग्राम्यत्व' आदि की कल्पना कर अनेक प्रयत्न किये हैं। पर, ऐसा करके उन्होंने काव्य के शाश्वत सत्य की उपेक्षा ही की है। इसके विपरीत संसार के जिन देशों ने लोकसाहित्य का संकलन सम्पादन किया है, उन देशों के परिष्कृत और अभिजात साहित्य में कभी-कभी वह प्रयत्न हुआ है कि साहित्य के विविध रूपों को लोकसाहित्यरूप दिया जाये। कई बार ये प्रयत्न बहुत सफल हुए हैं किन्तु यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं, बल्कि नई जीवनशक्ति से अभिजात साहित्य की कृत्रिमता भंग करने का प्रयास सिद्ध हुआ है।<sup>२</sup>

वस्तुतः साहित्य एवं लोकागम-दोनों अविभाज्य तत्त्व हैं। साहित्य में लोकागम की परिव्याप्ति एक शाश्वत सत्य है। क्योंकि साहित्य लोकमानस की अभिव्यञ्जना ही तो है और उसकी मौलिक कथावस्तु भी लोकागम से ही प्रसूत हुई है। लोक का सम्बल पाकर ही कोई भी साहित्य उन्नत होता है। अतः जब तक किसी भी विवेचक को लोक का अपेक्षित ज्ञान और परिचय न हो जाय तब तक जनजीवन की मनोवैज्ञानिक गहराइयों, रीतियों और प्रथाओं का कोई भी चित्र उसके

१- पाश्चात् विचारक हीगेल का भी ऐसा ही मत है - "Contradiction is the root of all motions and of all life. It is only because a thing contains a contradiction within itself that it moves and acquires  
X impuls and activity. That is the process of all motions and all  
संसारों प्रसाद द्विवेदी : लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० २०३  
development.- Hegel.

२- हजारों प्रसाद द्विवेदी : लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० २०३

मस्तिक में पूरी तरह से नहीं उभर सका। यही नहीं रस-वर्णना के लिए भी 'लोक' का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। रस-वर्णना कवि और सामाजिक अर्थात् व्यक्ति और वस्तु दोनों से ही सम्बन्ध रखती है। इसलिए कहा जा सकता है कि रसानुभूति व्यक्ति और वस्तु-दोनों से सम्बन्धित इकाई है जिसका तादात्म्य न केवल वर्तमान से अपितु भूत और भविष्य से भी होता है। डा० सत्येन्द्र में काव्यानन्द के तीन स्तर माने हैं - प्रथम सामयिक, जिसे उन्होंने वाच्य और मौक्तिक विज्ञान की सीमा में आबद्ध शुद्ध उपयोगितावादी कहा है। दूसरा, समन्वयकारी 'भूतात्म' स्तर है, मानसिक व्यक्ति और वस्तु की जो ऐतिहासिक रसायन बनती है वही उसके अन्तर्गत आती है। व्यक्ति और वास्तु केवल वर्तमान में ही नहीं रहते, वे भूत-परम्परा से घनिष्ठ रूपेण सम्बद्ध हैं। वे रहते हैं हमारे रक्त में जिससे स्वभाव, प्रकृति, प्रवृत्ति में उतरते हैं, वे बहते हैं हमारी रुचि में, हमारे मानस में जिससे विचार और विश्वास में उतरते हैं और कर्म में भी, तथा वे रहते हैं हमारी सामयिक भूमि में जिससे हमारे गर्व, दृष्टिकोण और साधन में प्रतिफलित होते हैं। प्राणी विद्या, दर्शन तथा तत्त्व शोध से हमारे प्राचीनतम ही नहीं, आदिम से आदिम पूर्वज पुरुष और प्रकृति की देन को उद्घाटित किया जाता है। इसी दूसरे स्तर के कारण किसी रचना की ऐतिहासिक अमृतत्व प्राप्त होता है, और उसके को हृदयगम करने के लिए लोकतत्त्व का अध्ययन अनिवार्य ही जाता है। तीसरा स्तर है, आध्यात्मिक अनुभूति का। वस्तुतः समस्त साहित्य का एकमात्र अन्तिम लक्ष्य यही आध्यात्मिक अनुभूति है। और यह नितान्त सत्य है कि आध्यात्मिक अनुभूति तब तक परियक्त अवस्था में नहीं पहुँच सकती जब तक कि लोक का वास्तविक स्वरूप न जान लिया जाय। महर्षिर्व्यास का कथन 'प्रत्यक्षादर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' अर्थात् लोक को स्वयं अपनी आँखों से देखने वाला व्यक्ति सर्वद्रष्टा होता है, नितान्त सत्य है। नानात्व में एकत्व का प्रत्यक्षा दर्शन ही ती वृद्ध का साक्षात्कार है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए जो सर्वाधिक सहायक हों, सत्य अर्थों में वही काव्य है। इसीलिए तो काव्याचार्य मम्मट ने काव्य के लौकिक प्रयोजन गिनाने के साथ-साथ 'सकलप्रयोजन मौलिभूत रसास्वादनविगालित वैखान्तर-मानन्द' २ कहा है।

१- डा० सत्येन्द्र, लोकसाहित्यविज्ञान, पृ० ८१

२- काव्यप्रकाश, प्रथम पाँच्येद, २

काव्यानन्द की इसी अवस्था को पण्डितराज 'लौकिकरा-इलाह' की संज्ञा देते हैं। काव्य में यह तत्त्व वैयक्तिक साधना अथवा प्रतिभा का प्रतिफल न होकर लोकामिव्यक्ति<sup>१</sup> का साक्षात् रूप होता है और कवि की प्रज्ञा का उसी प्रकार विषय बन जाता है जो विज्ञानवादी जैनों के मत में आलय विज्ञान का आश्रय पाकर 'आत्मा' पुनर्जन्म का प्राप्त होता है। आलयविज्ञान में समस्त धर्मों की उत्पादन-शक्ति छिपी रहती है, इसकी चेतन्यधारा कभी शान्त नहीं होती। यह प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् रहता हुआ भी समष्टि चेतन्य का प्रतीक है। उसकी वृत्ति जलोघ के समान है। जिस प्रकार बाढ़ के समय पानी अपने साथ नाना पदार्थों को समेटकर आगे बढ़ता रहता है, उसी प्रकार आलयविज्ञान भी चेतन्यमय को लेकर निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। यही स्थिति लोक<sup>२</sup> की है। यद्यपि वैविध्य से पूर्ण है, अनेक परिवर्तनों के साथ वह निरन्तर गतिशील है तथापि अनेक आश्चर्यों, पदार्थों, भावनाओं, विश्वासों और रीति-रिवाजों को जन्म देता है। आलयविज्ञान की ही भाँति उसमें उत्पादन-शक्ति छिपी रहती है। यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु में 'सूत्र मणिगण्टा इव' के समान प्रभूत है। इसका साक्षात् दर्शन किए बिना निदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे सम्भव है? ऊपर तक पहुँचने के लिए मूल का आश्रय लेना ही पड़ेगा। काव्य के सर्वोच्च शिखर का आनन्द पाने के लिए उसके मूलभूत तत्वों - लोक तत्वों का सम्यक् ज्ञान परमावश्यक है।

लोक साहित्य और उसका महत्व

लोक द्वारा लोक के लिए प्रणीत साहित्य 'लोक साहित्य' की श्रेणी में आता है। लोक गाथाओं की परिभाषा के सन्दर्भ में ग्रिम का कथन 'ए वेल्लड इज दी पीष्टुरी आफ दी पीपुल वाई दी पीपुल फार दी पीपुल'<sup>३</sup> सम्पूर्ण लोक साहित्य की प्रकृति को स्पष्ट कर देता है। लोक साहित्य का प्रणीता काव्य शास्त्र का अध्ययन कर कविता नहीं करता। उसकी कविता का स्रोत न कोई शास्त्र होता है और न वह शास्त्र पण्डितों के लिए कविता करता है। उसकी कविता का स्रोत लोक है, उसमें शास्त्रीय कृत्रिमता नहीं, स्वाभाविकता होती है। वह लोक जीवन की कविता है, लोक की आकांक्षाओं और आशाओं की कविता है।

१- बहु व्याहृतौ वा अयं बहुशो लोकः- जे०उ०ब्रा०, ३१२

२- डा० कृष्णदत्त द्वारा लोक सा० की मू० पृ० ३३३ पर उद्धृत।

• प्रकृति से उसे प्रेरणा मिलती है, उसमें किसी प्रकार का मिश्रण नहीं होता, वह एक निश्चित स्त्री से प्रवाहित होती है । यह स्त्री राष्ट्रीय जीवन का अन्तरतम ही है । इवेलिन मार्टिनेंगो के शब्दों में लोक साहित्य व्यक्तिगत या सामूहिक तीव्र भावों का प्रकाशन है । लोक कविता लोक स्रक्लिक और कथाओं का स्त्रीत राष्ट्रीय जीवन के अन्तरतम से निःसृत होता है । जनता का हृदय इन गीतों और गाथाओं में जीतप्रीत रहता है । ऐसा भी समय आता है जब कि जाति या राष्ट्रीयता की अतिशय भावना में सम्पूर्ण राष्ट्र को लोककवि के रूप में परिणत कर दिया है ।<sup>१</sup>

सरस्वती के विशाल मण्डार में लोकसाहित्य का असाधारण महत्व है । लोक साहित्य विषय पर हिन्दी और अंग्रेजी के लेखकों में <sup>इसके</sup> महत्व पर विस्तृत चर्चा की है, अतः हम उसका पुनरुल्लेख कर पिष्टपेषण नहीं करेंगे । साथ ही, संस्कृत के लोकसाहित्य की प्रकृति भी अन्य लोक साहित्यों से भिन्न है, अतः अन्य लोकसाहित्यों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती । किन्तु फिर भी, कई दृष्टियों से संस्कृत के लोकसाहित्य का महत्व अत्यधिक है । उदाहरण के लिए कालिदास द्वारा अभिज्ञानशाकुन्तल और विक्रमाञ्जली नाटकों की मूल पौराणिक कथा में किए गए परिवर्तन कालिदास के कल्पना प्रसूत नहीं हैं, निश्चय ही वे लोक में प्रचलित कहानियों पर आश्रित हैं । इसी प्रकार उनके द्वारा प्रमुक्त, गाथा, चर्चरी, द्विपदी आदि छन्द पिंगलशास्त्रीय न होकर लोक से लिये गये हैं । भाषाओं की शब्दावली तत्कालीन समाज की संस्कृत के साथ-साथ भाषाविज्ञान के अध्ययन के लिए भी नितान्त उपादेय है । यद्यपि संस्कृत साहित्य विशुद्ध लोकसाहित्य नहीं है, तथापि शास्त्रकवि और उनके काव्यों को छोड़कर विशाल संस्कृत साहित्य लोक के अत्यन्त

- १- Popular poetry is the reflection of moments of strong collective or individual emotions. The spring of legend and poetry issue from the deepest wells of national life; the very heart of a people is laid bare in its sags and songs. There have been times when a profound feeling of race or patriotism has sufficed to turn a whole nation into poets:-

Evelyn Martineengo- Essays in study of folksongs. Page .3.

सान्निध्य में रहा है, अतः लोकतात्त्विकदृष्टि से उसका भी उतना ही महत्त्व है जितना किसी अन्य साहित्य का। वस्तुतः कोई भी शिष्ट साहित्य लोकसाहित्य के अभाव में जीवन और गति से युक्त नहीं रह सकता। पाश्चात्य लेखिका इवेलिन माटिंगी का स्पष्ट अभिमत है कि लोककथाएँ समस्त कथासाहित्य की जनक हैं और लोकीत सम्पूर्ण कविता की माता है - 'दी फीकटल इज दी फादर आफ आल फिक्शन एन्ड दी फीक्शंस इज दी मदर आफ आल पोइटरी' <sup>१</sup> अतः कहा जा सकता है कि लोकसाहित्य शिष्टसाहित्य का उपजीव्य होता है।

### संस्कृत साहित्य और लोकागम-

संस्कृत शब्द के 'सुघर हुर' अर्थ को लेकर जनक विद्वानों ने ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं कि संस्कृत जनसामान्य की भाषा न होने के कारण लोक की सम्पर्क भाषा नहीं थी, अतः उसमें लिखा हुआ साहित्य लोक का प्रतिनिधित्व न कर, उसके एक दौत्र दरबारी जीवन की भाँकी प्रस्तुत करता है। उसमें लोक तत्वों का सर्वथा अभाव है। वस्तुतः ऐसे निष्कर्षों को प्रान्त निष्कर्ष ही कहा जा सकता है। यह बात किसी सीमा तक सही मानी जा सकती है कि संस्कृत कभी जनसामान्य की भाषा नहीं रही, परन्तु इसना तो सत्य है कि उसे आम जनता समझती अवश्य थी। यदि ऐसा न होता तो रात-रात भर खैले जाने वाले डिम, व्योमिंग, भाषाओं और लोकनाट्यों की सार्थकता क्या थी? इससे सिद्ध होता है कि लोकनाट्य की अनिवार्य लोकप्रियता से ही नाट्यशास्त्रियों को इन लोकनाट्य-विधाओं की शास्त्रीयविधान में सम्मिलित करना पड़ा था। जानाये हजारी प्रसाद द्विवेदी भी यही मानते हैं कि 'भारतीय शास्त्रों में लोक प्रचलित साहित्य रूपों की कभी उपेक्षा नहीं की गई है। नवीन हृन्द, नवीन गीत पद्धति, नवीन नाट्यरूपक बराबर ही लोकाचित से छुटकर उपरले साहित्य सतह पर पहुँचते रहे हैं' <sup>२</sup>। वस्तुतः संस्कृत का समस्त साहित्य भले ही वह महाकाव्य ही या रूपक, गीति ही या गद्यकाव्य सभी लोक तत्व की संतरगिणी आभा से जनमानस को हमेशा रन्जित करता रहा है। यह लोकागम संस्कृत साहित्य की सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु है।

१- ईवेलिन दी स्टडी आफ फीक सांग, पृ० २

२- द्विवेदी, हजारी प्रसाद, लोकसाहित्य का अध्ययन, (द्वितीय सं०), पृ० १६६

मेकडॉनल ने संस्कृत साहित्य के इस क्षेत्र में हुए अनमोल धन की मही मूर्ति पर ख लिया था। भारत का अतीत नामक ग्रन्थ में वह लिखता है - महाकाव्यों तथा रूपकों में प्रयुक्त कृतात्मक सामग्री, जो कि प्राचीन दन्तकथाओं पर आधारित है, हमें भारतीय साहित्य की सर्वाधिक मूल्यवान् परिणति तक पहुँचा देती है, वह है - लीकागम, जो किसी अन्य प्राचीन जाति अथवा राष्ट्र की अपेक्षा भारत में कहीं अधिक काल पहले तथा कहीं अधिक परिव्याप्त रूप में यथायथ साहित्यकौटिल्य अभ्युन्नत किया गया था।<sup>१</sup>

संस्कृत साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसमें लोकमानस के मूल तत्वों की कथाओं में, काव्य में, दर्शन में एवं धर्म में भी जादू के साथ सुरक्षित रखा है। इसका भी एक कारण है। भारतीय लोकमानस की पुनर्जीवन में गहरी आस्था है। इसी लिए सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में लोकत्व की परिव्याप्ति शाश्वत है। प्रो० मेकडॉनल ने इस तथ्य को मही मूर्ति सम्मान लिया था। भारत के आदिम विकास के मूल कारणों की विवेचना करते हुए वह लिखता है कि 'भारत की भूमि विशेषकर नीतिकथाओं, पशु-पक्षी-सम्बन्धी कथाओं और परीकथाओं के आधिष्ठान के लिए अनुकूल रही है। क्योंकि हमें यहाँ जादू के पुनर्जीवन में लोकविश्वास मिलता है जो मानवजात और पशुपक्षी जात के बीच के अन्तर को समाप्त कर देता है तथा यह बात पशु-पक्षी के लिए सहज एवं स्वाभाविक कर देता है कि वे कहानियों का नायकत्व ग्रहण कर लें हैं। परिणामतः विश्व के किसी भी देश में ऐसे व्यापक कथासाहित्य का पुनर्जन नहीं किया जाता कि भारत में। इसलिए केवल एक ही कहानी ही नहीं, अपितु पूरे के पूरे भारतीय कथा-ग्रन्थ

१- The narrative matter, treated in the Court-epics and the dramas based on ancient legends, brings us to the most valuable product of Indian literature-its Folklore, which in India was earlier, and to a great extent, raised to the rank of actual Literature than any other nations of antiquity.

विदेशी साहित्य में पाये जाते हैं - " India presents a soil particularly favourable to the invention of fables, animal stories and fairy tales. For here we find the belief in transmigration, which effaces the difference between the human and the animal worlds and enables them to be the heroes of stories. Consequently no other country has produced so extensive a literature of stories as India. Thus not only single Indian tales but whole story-books are to be found in foreign literatures." 1

संस्कृत साहित्य जैसे अभिजात साहित्य में भी लौकागम की परिव्याप्ति इसी लिए शाश्वत प्रभाव के रूप में विद्यमान है कि भारतीय मनीषी संस्कृति व सभ्यता के संपाच्च शिखर पर पहुँच कर भी अपने मूल से विचिन्न नहीं हुए। वे शुद्ध मानवतावादी थे। भगवान् भी मक्त के वश में हो जाते हैं। यह उनकी दृढ़ मान्यता थी। माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्याः उनके जीवन का आदर्श था। लोकमानस में पुरातन काल से चली आती हुई चारणाओं, विश्वासों, रीतियों आदि का अद्भुत प्रभाव बना रहता है, मले ही मानव अपनी ऐतनी अन्ध बाणों द्वारा उसे कैसा ही परिर्वेष क्यों न पहना दे। सभ्य लोकमानसभूमि में पुरातन व्यवहार स्थिर रहते हैं। वे मुहूर्तमात्र के अवान्तर में मानसमन के विप्रेक्ष-जन्य चिन्तन के प्रयास में थोड़ा भी शैथिल्य आने पर मानस धरातल पर रक्ता उमर जाते हैं। यही कारण है कि ऐसी सामग्री (लोकतत्व) न केवल बौद्धों एवं जनों के पवित्र ग्रन्थों में एक प्रमुख स्थान रखती है बल्कि संस्कृत साहित्य में भी उसका प्राधान्य है। भारतीय साहित्यिक उपलब्धि की सभी अन्य विधाओं की अपेक्षा, अधिक प्रकार से, वह हमारे लिए कहीं अधिक मूल्यवान् बहरता है - विशेषतः जबकि हमें यह पता लगता है कि महाकाव्य एवं साहित्यिक संग्रहों के लिए, वही पुरातन पौराणिक आख्यानात्मक सामग्री, नाट्य अपवादों के साथ बार-बार प्रयुक्त की जाती रही है। और समान कथानकों का यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ

१- वही पृ० ११५-१६

२- आर० आर० मैट, सीईकौलीजी एन्ड फौल्लर, पृ० २२



प्रयोग किया जाता रहा है। कभी-कभी तो ऐसा विश्वास होता है कि मानी भारतीयों में अनन्त मौलिक सूक्ष्म एवं प्रतिभा के जगत् में प्रविष्टि कराता है जिसमें पात्र महाकाव्यों व दृश्यकाव्यों के पात्रों की भाँति कहीं भी रूढ़ प्रकृति के नहीं पाये जाते, वे सर्वथा मानवीय प्राणी हैं जिनकी अपनी विशेषताएँ हैं ----- इस लोक में न केवल योद्धा हैं, गुणग्राही राजा हैं, कृषक, व्यापारी अथवा कलाकार हैं अपितु सभी प्रकार के तन्दिग्ध पात्र वीर, अनाथ, स्वारथी, पुरोहित, पाखण्डी भिक्षु, वारंगन्नाएँ एवं द्वितियाँ भी हैं। यह परोक्षार्थों की एक झुल-मुलिया झाली विस्मयकारी सृष्टि है, जो कल्पना के साम्राज्य से जीत प्रीत है --- जिसमें विस्मयकारी कल्पना का वैभव परिब्याप्त है वीर जो हमेशा ही नहीं-हैं कथाओं एवं रोमानी बातों का आविष्कार करती है -

Such matter takes a prominent place ,not only among the Sacred books of the Buddhists and Jains, but also among the works of Sanskrit literature. For us it is in many respects more valuable than all other branches of Indian literary productions

When we find ,how in the court epics and in the dramas the same old legendry material is,with few exceptions,treated over again and again,and similar plots, recur with trifling changes, we are almost inclined to believe that the Indians show a complete lack of inventive power.

But the folklore literature introduces us to a world of infinite originality in which the characters are no longer stereotyped as with epics and the dramas,but are human beings with individual traits not only here are warriors, virtuous kings peasants,merchants,artisans and all sorts of doubtful characters thieves, vagabounds, selfish Brahmins,hypocritical monks, courtesans and procuresses. It is an imaginary world full of

marvellous and complicated fairy tales..... of wealth, of fancy in the creation of even new material in story and romance."1

### भारत में लोकगीत की प्राचीनता और उसकी परिव्याप्ति-

लोकसाहित्य की साहित्यिक रूप देने वाले देशों में भारत विश्वगुरु रहा है। रामस्त संसार के सुसंस्कृत राष्ट्रों में अपने देश के प्राचीनतम लोकगीतों की चिरन्तन अभिजातवाङ्मय का स्वरूप देने का श्रेय इसी देश के भवानी मनीषियों को है। भारतीय लोकसाहित्य की महत्ता की प्रतिपादित करते हुए प्रो० विन्टरनिट्ज ने लिखा है - "लिपिवद्ध भारतीय लोक कथा साहित्य, साहित्य के लोकतात्विक अध्ययन की दृष्टि से इतना अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि निखिल विश्व में ऐसा सुसंस्कृत राष्ट्र और कोई नहीं है। जिसमें भारतीयों से पहले, प्राचीनकाल से ही अपनी चमत्कारी कथाओं, कल्पनाप्रधान कथाओं तथा पशु पक्षियों की नीतिकथाओं की अभिजात-चिरन्तन वाङ्मय का रूप देकर ग्रन्थबद्ध कर रखा हो।"2 श्रीमती दुर्गा-मागवत के अनुसार लोकसाहित्य की साहित्यिक परम्परा की दृष्टि से भी, उसका आदि विकास भारत में ही पाया जाता है। दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से प्रारम्भ होकर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक का काल, भारत में लोक साहित्य के संकलन एवं साहित्यिक विकास का स्वर्णयुग माना जाएगा। इसी काल में गुणादय की बृहत्कथा का जीर्णोद्धार कथासरित्सागर के रूप में काश्मीर के कविवर सौमदेव ने किया। ----- दसवीं शताब्दी के अन्त में, ब्रह्मदेश में इसकी प्रथम प्रतिलिपि अस्तित्व में आई और बौद्धमिथुनों के द्वारा, ब्रह्मदेश के उत्तरी भागों में जिन

१- इन्डियन पास्ट, चैप्टर -६, पृ० ११५-१३३

२- हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, जिल्द-३

जातक कथाओं का प्रचार किया गया था, उन्हें केवल प्रादेशिक स्वरूप का आवरण देकर पाँच-सात शताब्दियों तक इधर उधर प्रचलित किया जाता रहा उन्होंने का सुसंस्कृतरूप ब्राह्मीकथासाहित्य का एक प्रमुख भाग बन गया। इस भाँति बौद्ध जातक कथाओं का स्थायीरूप इसी संस्करण में छल पाया।<sup>१</sup>

साहित्य में लोकसाहित्य की परम्परा का प्रारम्भ और उसका क्रमिक विकास भारत के प्राचीनतम साहित्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। ऋग्वेद के पुरुखा - उषी, यम-यमी, सरमा-माणि की संवादात्मक कहानियाँ, गाथाएँ, ब्राह्मण ग्रन्थों के अनेक आख्यान विशुद्धरूप से लोक साहित्य के आदिम रूप की साहित्यिक परीक्षा में प्रस्तुत करते हैं। वैदिक और लौकिक भाषाओं के सन्धिकाल में लिख गए आषी महाकाव्यों एवं पुराणों में लोकसाहित्य की अमूल्य सामग्री का भण्डार भरा पड़ा है। यही नहीं, संस्कृत का वैष्णवसाहित्य भी इससे असम्पृक्त नहीं रहा - मला रहता भी कैसे? साहित्य लोकमानस की शाब्दी अभिव्यञ्जना ही तो है, उसकी मौलिक कथावस्तु भी तो लोकागम से ही प्रसूत होती है। उदाहरण के लिए कालिदास के मेघदूत को ही लीजिए जिसमें भारतीय लोकमानस छल-छला उठा है। अतिमानवीय यौनि में जन्म लेने वाला कुंजर का ऐवक यदा भी रत्नों की कान्तियों के सम्मिश्रण को दिखाई देने पाले इन्द्र धनुष को बाँबी के अग्रभाग से निकला हुआ मानता है<sup>२</sup> और कार्तिकेय को सरकण्डों के बन में उत्पन्न हुआ स्वीकार करता है।<sup>३</sup> जल-जल भारतीय गाँवों की गलियों में खड़े हुए पीपल के बृद्धा कींची के अधबने घोंसलों से भरी हुए दीर्घों, जाल की भूमि पककर गिरी हुई बासुनों से काली दीख पड़ेगी प्रथम वर्षा के बाद हल चलाने से सौधी-सौधी तुगन्धि गाँवों के अंचल को सुरमित करेगी, ओषाद का प्रथम मेघ मौली-माली-ग्राम्य-सुन्दरियों के भेराँमें प्रीतिस्निग्ध पिपासा उपजायेगा तथा विमुक्त प्रेमी युगलों के मानस में अन्तर्द्वन्द्व, काम की कसक और प्रेम की टीस पैदा करेगा तब तब कवि कुलगुरु का मेघदूत लोक का विरहीता बनने का सौभाग्य प्राप्त करेगा।

भारतीय लोकागम भारतीय साहित्य की नितान्त मौलिक भाग है। उसकी

१- दुर्गाभिराम, लोकसाहित्यांची रूपरेखा, पृ० १-२

२- मेघदूत, १५,

३- वही,

परिव्याप्त देशकाल की सीमाओं के पार कर विश्वसाहित्य में अपना प्रभाव बनाये हुए है। प्रो० मैकडोनाल्ड ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि 'यह भारतीय लोकगम) भारतीय साहित्य का सबसे मौलिक भाग है, साथ ही, एकमात्र इसीमें, अन्य किसी भी भारतीय लेखन-विधा की अपेक्षा विदेशी साहित्यों को अधिक व्यापक रूप में प्रभावित किया है। किस तरह भारतीय परीकथाएँ एवं नीतिकथाएँ एक देश से दूसरे देश का पर्यटन करती रहीं, उसका इतिहास किसी एक कहानी, व्यापारियों, यात्रियों के माध्यम से अथवा मौखिक परम्परा द्वारा, भारत से अन्य राष्ट्रों की यात्रा का कथा नहीं, अपितु समस्त भारतीय कथा ग्रन्थों के अनुवाद के माध्यम से समस्त संसार की सम्पत्ति हो जात्रि की गाथा है।

"This is in fact, the most original development of Indian literature. It is also one that has exercised a greater influence on foreign literatures than any other branch of Indian writing. The History of how Indian fairy tales and fables migrated from one country to another..... is not a case of a single story finding their way, by word of mouth, through the agency of merchants, travellers from India to other countries, but of whole Indian books, becoming through the medium of translations, the common property of the world".<sup>1</sup>

प्रो० विन्टरनिट्ज का कथन है कि 'इस साहित्य में अन्य राष्ट्रों अथवा जातियों के मौखिक ज्ञान को अति प्राचीनकाल में ही निर्यात प्रमाणित किया है, उसके प्रसारका, भारत की सीमाओं से कहीं पर, बृहत्तर भारत एवं उत्तर में तिब्बत तक ही नहीं, सुदूरचीन, जापान तथा दक्षिण में लंका, मलाया, हिन्दमहासागर तथा प्रशान्तमहासागर में स्थित द्वीपसमूहों तथा पश्चिम में मध्य एशिया एवं पूर्वी तुर्किस्तान तक भारतीय पाण्डुलिपियों के रूप में भारतीय लोकमानस के पद चिन्तों के रूप में अनुसरण किया जा सकता है।<sup>२</sup>

॥ १- इन्डिया 'ज़ पास्ट, पृ० ११५-१३३

२- हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर, पृ० १

यही नहीं, उन्होंने समस्त यूरोपीय साहित्य पर भी भारतीय लौकिकता के व्यापक प्रभाव की स्वीकार किया है।<sup>12</sup>

---

1. Moreover, the influence which the literature of India has exercised over our own literature, too, should not be underestimated, we shall see that the narrative literature of Europe is dependant on the Indian fable literature, in no small degree.

Ibd. Introduction and Ved .

---

:- प र च क्क द -१ :-  
oooooooooooooooooooo

संस्कृत साहित्य में लोकसाहित्य के तत्त्व

- :: संस्कृत साहित्य में प्रचलित लोक साहित्य के विभिन्न रूप
- :: कथा
- :: गाथा
- :: गीत एवं गीति
- :: रूपक
- :: कुछ अन्य लोक काव्यात्मक विधाएँ-
- :: संस्कृत में लोक साहित्य के कृन्द
- :: लोक धर्मी अलंकार
- :: लौकीपमान
- :: मानवैतर पात्रनयीना
- :: संस्कृत साहित्य में लोक धर्मी प्रवृत्तियाँ

:: संस्कृत साहित्य में लोक साहित्य के तत्व ::

लोक का अवलम्बन पाकर ही कोई भी साहित्य सजीव एवं गतिशील रह सकता है। संस्कृत कवि इस तथ्य से भली भाँति परिचित थे। अतः वे सदा ही लोक के प्रति सजग रहे हैं। उन्होंने लोक के विभिन्न उपादानों से साहित्य की निरन्तर श्रीवृद्धि की है। उन्होंने न केवल लोक साहित्य के विभिन्न रूपों को संस्कृत के वरेण्य साहित्य में सादर स्थान दिया अपितु लोकप्रचलित आख्यानों लोकोपमानों और लोकधर्मी प्रवृत्तियों के साथ-साथ लोक साहित्य की अन्य अनेकों विशेषताओं को लेकर संस्कृत साहित्य के भण्डार को भर दिया है। सच बात तो यह है कि यदि संस्कृत साहित्य में से इस अमूल्य निधि को निकाल दिया जाय तो हमारे पास ऐसा कुछ भी नहीं बचेगा जिस पर हम गर्व कर सकें। इस अध्याय में संस्कृत साहित्य की इसी अमूल्य निधि के स्वरूप पर विचार किया जायेगा।

(क) संस्कृत साहित्य में प्रचलित लोक साहित्य के विभिन्न रूप -

संस्कृत साहित्य अपनी विविध विधाओं के लिये तत्कालीन लोक साहित्य का अत्यधिक ऋणी है। कथा और गाथा - निश्चित रूप से लोक साहित्य के रूप हैं। नाट्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित रूपक और उपरूपक भी लोक की ही देन है। विशेषकर उपरूपक तो प्राचीन लोकनाट्य के ही रूप कहे जा सकते हैं। कारण स्पष्ट है, भाण, छिम, वीथी, म्रोटक, सङ्क, गोष्ठी, प्रैवण, रासक, हल्ली शक आदि उपरूपकों में वे ही पात्र प्रमुख हैं जिनसे नाटककार प्राकृत बुलवाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में ये उपरूपक प्राकृत अथवा अपभ्रंश जैसी लोक भाषाओं में ही लिखे जाते रहे होंगे। इनकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता से आकृष्ट होकर ही संस्कृत कवियों ने इन्हें सुव्यवस्थित एवं शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया होगा। इन उपरूपकों के विस्तृत लक्षणों का अभाव भी इनकी लोकप्रियता को ही संकेतित करता है। संस्कृत

साहित्य के इन रूपों का लौकतात्त्विक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत है --

(१) कथा - कथा लोक के मनोविनोद का सदा से ही सर्वाधिक सुलभ साधन रही है। मालविकाग्निमित्र में रानी हवा में पलंग पर लेट कर परिव्राजिका से कथा सुनती हुयी मन बहलाती है। शिरोवेदना या नींद होने पर कहानी कहने का रिवाज था। ओता बीच - बीच में 'हाँ' कहता जाता था। कहानी रटी हुयी होती थी। बीच में मूल जाने पर वक्ता पुनः ओठ चला कर स्मरण करने का प्रयास करता था। कथा कहने वाले पेश्वर हुआ करते थे जिन्हें काथिक कथाप्राण अथवा कथोप्जीवी कहा जाता था। ये लोग सम्मतः नाटकाचार्य ही होते थे -- 'कथोप्जीविनि नाटकाचार्य'। कभी - कभी भिन्नु - भिन्नु-णियाँ भी कथा कहने का काम करती थीं। गाँवों में बड़े-बूढ़े लोग ही कथज्जड़ हुआ करते थे जिन्हें कालिदास ने 'कथाकोविदग्रामवृद्ध' कहा है।

इस प्रकार कथा मूलतः लोक की अपनी सम्पत्ति है। इनकी रक्षा जनसमाज के उन प्रबुद्ध लोगों द्वारा उपदेस, मनोरंजन आदि के उद्देश्य से की जाती है जो शास्त्रीयज्ञान के अहं से शून्य हैं किन्तु जन समाज की प्रत्येक गतिविधि के प्रति निरन्तर जागृक हैं। यही कारण है कि इन कथाओं के लोक का नाम प्रायः अज्ञात ही रहता है और इसलिये देश-काल आदि के भेद से एक ही कथा के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। इन कथाओं का साहित्यिक, सांस्कृतिक और भाषावैज्ञानिक महत्त्व अत्यधिक है। हम अपने उन प्राचीन कथाकारों के कृणी हैं जिन्होंने इस महत्त्व को भली-भाँति समझ कर लोककण्ठ में विद्यमान इन कथाओं को लिपिबद्ध कर अमरत्त्व प्रदान किया।

---

१- 'कथाभिर्विनोद्यमानातिष्ठति' माल० चतुर्थ अंक पृ० ११८ (काले संस्करण)

२- स्वप्नवासव० पृ० १६२, १७७, रामा० बाल० १४।३४ ३, वही, पृ० १७७

४- वही, १८२ (भासाटकचक्रम्-- बलदेव उपाध्याय)

५- मेघदूत, ३२।



## संस्कृत का कथासाहित्य -

भारतीय साहित्य में कथा साहित्य की परम्परा अति प्राचीन है। ऋग्वेद में पुरुरवा-उर्वशी<sup>१</sup>, च्यवनभार्गव-सुकन्या मानवी, शुनःशेय<sup>२</sup> आदि के प्रसिद्ध आख्यान उपलब्ध हैं। इन आख्यानों का पल्लवन ब्राह्मण ग्रन्थों में समुचित रूप से हुआ है। महाभारत तो लोकाख्यानों का विशाल भण्डार ही है। बौद्धजातक कथाएँ भी लोक कथाओं की शैली पर लिखी गयीं धर्मकथाएँ हैं। किन्तु लोक कथाओं के संकलन का सर्वप्रथम मौलिक प्रयास गुणादय ने किया था। उन्होंने पेशाची भाषा में 'वहड्डकहा' के नाम से लोककथाओं के वृहत् संकलन के रूप में कवियों के लिये प्रेरणा-स्रोत, उपस्थित कर दिया। भास, शूद्रक, कालिदास, बाण, श्रीहर्ष जैसे प्रसिद्ध संस्कृत कवि अपने काव्यों की कथावस्तु के लिये वृहत्कथा के कृणी हैं। गुणादय का समय ईसा पूर्व प्रथम शती के आस-पास माना जाता है। आज उनका मूल ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके तीन संस्कृत रूपान्तर उसकी महत्ता का प्रतिपादन आज भी कर रहे हैं। आठवीं-नवीं शताब्दी में नेपाल के पण्डित बुधस्वामिन् ने सर्वप्रथम इसका संस्कृत रूपान्तर 'वृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के नाम से तैयार किया था। 'वृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के नाम से ही स्पष्ट है कि बुधस्वामिन् के समय तक वृहत्कथा नष्टप्राय हो चुकी थी, उसके यत्किञ्चित् अवशिष्ट भाग को ही वे संस्कृत में संगृहीत कर सके थे। किन्तु तब ही कि बुधस्वामिन् का भी यह ग्रन्थ सम्पूर्णरूप में प्राप्त नहीं है। उपलब्धग्रन्थ में २८ सर्ग और ४५३६ श्लोक हैं।<sup>४</sup> बारहवीं शताब्दी में कश्मीर-देशोद्भव दामोदर और सोमदेव ने क्रमशः वृहत्कथामञ्जरी और कथासरित्सागर के नाम से वृहत्कथा के संस्कृत संस्करण प्रस्तुत किये। इनमें मनु विस्तार और मौलिकता →

१- कृ० १०.२५

२- वही, १०।३६।४

३- वही, १।२४।३

४- दे०- हिस्ट्री आफ् स० लिट० (वासुगुप्त एवं दे ) जिल्द १, पृ० ६७

की दृष्टि से सोमदेव का कार्य अत्यन्त सराहनीय है ।

पंचतन्त्र उपदेशपरक लोककथाओं का अत्यधिक महत्वपूर्ण संकलित संस्कृत कथाग्रन्थ है । मूर्तिराजपुत्रों को नीतिशास्त्र का उपदेश देने के लिये विष्णुशर्मा ने इसकी रचना की थी । इसका रचनाकाल अभी तक निश्चित नहीं हो सका । किन्तु अनुमान किया जाता है कि ई० प्रथम शताब्दी के आस-पास इसकी रचना हो चुकी होगी । अपने प्रणयकाल से ही यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हो गया कि देश-विदेश की भाषाओं में जितने अनुवाद पंचतन्त्र के हुये उतने अन्य किसी भारतीय ग्रन्थ के नहीं । हर्टेल ने पचास से अधिक भाषाओं में उपलब्ध इसके लगभग दो सौ संस्करणों का अध्ययन किया है ।<sup>१</sup>

उपदेश परककथाग्रन्थों में पंचतन्त्र के बाद हितोपदेश आकार में छोटा किन्तु बहुत ही लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । पंचतन्त्र के आधार पर इसकी रचना बंगालरेश घलवन्द्र ( १४ वीं शती ) के आश्रित कवि नारायण पंडित ने की थी ।

लोककथाओं के लोकप्रिय नायक वीर विक्रमादित्य के साहस और बुद्धिबल से सम्बन्धित पच्चीस रोचक कहानियों का एक संस्कृत संकलन शिवदत्त नामक किसी विद्वान् ने ' वेतालपञ्चविंशतिका ' नाम से संस्कृत पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया । इस ग्रन्थ में आई हुई कहानियाँ कथासरित्सागर में भी मिलती हैं । अतः अनुमान किया जाता है कि विक्रमादित्य वृहत्कथा के प्रणायक से भी पूर्व ही लोककथाओं के पात्र बन चुके थे ।

विक्रमादित्य की ही भाँति राजा भोज भी लोककथाओं और किंवदन्तियों के पात्र साहित्य में कदाचित् अपने जीवन काल में ही बन चुके थे । बल्लालसेन का भोज प्रबन्ध ' उनकी दान वीरता →

और विद्वत्ता को लोकसाहित्य की शैली में प्रस्तुत करता है। त्रिंशत्पुलिका अथवा सिंहासन द्वात्रिंशिका में संगृहीत कहानियाँ राजा भोज के सिंहासन में बैठकर उन बत्तीस कठपुतलियों से सम्बन्धित हैं जो सिंहासनारूढ़ होते समय राजा से प्रश्न करती हैं। लोकानुश्रुति है कि इस सिंहासन पर बैठते ही राजा को सद्बुद्धि आ जाती थी और वह न्याय परायण हो जाता था। मनोरंजन की दृष्टि से ये कहानियाँ नितान्त उपादेय हैं।

लोक कथाओं का एक अन्य महत्वपूर्ण संकलन शुकसप्तति है। इसमें तोता-मेना के स्वरूप में ७० कहानियाँ संकलित की गयी हैं। शिवदास के कथाणव में मूर्खों और चोरों से सम्बन्धित ३५ कहानियों का संग्रह है। विद्यापति की पुरुष-परीक्षा में ४४ कहानियाँ हैं। दिव्यावदान, अवदानशतक और आर्यशूरकृत जातकमाला में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों के सम्बन्ध में प्रचलित लोककथाओं को ही प्रस्तुत करती हैं। यही नहीं, संस्कृत गद्यसाहित्य के सर्वोत्कृष्ट कथाग्रन्थ-- दण्डी का दशकुमार चरित, सुबन्धु की वासवदत्ता और बाणभट्ट की कादम्बरी--- तीनों ही लोककथाओं के परिष्कृत रूप हैं। दशकुमारचरित में दस राजकुमारों की कहानियाँ संकलित हैं। वासवदत्ता में उदयन और वासवदत्ता के लोकाग्राम को संस्कृत कथाशास्त्रीय ढाँचे में ढाला गया है और कादम्बरी की कथावस्तु में लोकसाहित्य से ही ली गयी है। उसका बाहरी ढाँचा भले ही काव्यशास्त्रीय हो, पर कथा के भीतरकथा कल्लौ की प्रवृत्ति, तोते के द्वारा कथा का कहलाना, रहस्य, रोमांच एवं अलौकिकता की प्रधानता, संयोग में कथा का अन्त आदि से उसका लोककथा होना स्वतः सिद्ध हो जाता है।

## कथा, आख्यान और आख्यायिका-

कथा शब्द का प्राचीनतम प्रयोग क्खान्दीय उपनिषद् में ' चर्चा ' या ' दार्शनिक चर्चा ' के अर्थ में मिलता है<sup>१</sup>। ऐतरेय आरण्यक में यह शब्द कदाचित् ' कथं ' ( क्यों, कैसे ) का वाचक है<sup>२</sup>। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में रहस्यात्मक तथ्यों के प्रति जिज्ञासापूर्ण चर्चा ' कथा ' कही जाती थी। तब इसका स्वरूप कदाचित् ' वार्ता ' के समान रहा होगा क्योंकि अनेक आश्चर्यों और रहस्यों से परिपूर्ण इस ब्रह्माण्ड आदि के सम्बन्ध में यदा यदा पूछे गये प्रश्नों को महाभारत में ' वार्ता ' कहा गया है<sup>३</sup>। आज भी ब्रज प्रदेश में ' बात ' जो ' वार्ता ' का ही अपभ्रंशरूप है, पहिली और कहानी -- दोनों ही अर्थों में प्रचलित है।

कथा का मूल अर्थ ' कहना ' है। इसी अर्थ में आख्यान शब्द भी वैदिककाल से ही प्रचलित है। लेकिन आख्यान इतिहास का विषय था। अश्वमेधादियज्ञों के अवसरों पर आख्यानविद् आख्यान सुनाते थे। आ०विष्णुनाथ ने भी पूर्ववृत्त को आख्यान कहा है। आख्यान से ही आख्यायिका का विकार माना जा सकता है क्योंकि आख्यायिका की कथावस्तु इतिहास प्रधान ही होती है। किन्तु साहित्य के क्षेत्र में दोनों ही स्वतन्त्र विधाएँ हैं। आख्यान में अभिनय, पाठ और गायन साथ-साथ चलता है<sup>४</sup>। कदाचित् इसी लिये रामायण और महाभारत में आख्यान कहे गये हैं क्योंकि रामायण का सस्वर पाठ राम की सभा में कुश - लव

---

१- हन्तोद्गीथ कथां वदाम-क्ख०३० १। ८। १, द्र०वैदिककोष (सूर्यका न्त), पृ० ८२

२- ऐ०ब्रा० ३। १। ३

३- महाभा० वनपर्व, ३१३। १५-२०

४- यास्कनेरिक्त ५। २१, ७। ७ में आख्यान का सम्बन्ध ऐतिहासिकों से जोड़ा है।

५- द्रष्टव्य-ऐ०ब्रा० ७। १८। १०, ३। २५। १, श०ब्रा० १३। ४। ३। २ आदि।

६- आख्यानं पूर्ववृत्तौक्तिः सा०द० ६। १११

७- अभिनयन् पठन् गायन् यदेको ग्रन्थिकः कथयति तद्गोविन्दवदाख्यानम्।

हैमचन्द्र, काव्यानु०, ८। ८

८- रामा०युद्ध०, १३१। ११६, ल० १११। २६

९- महा०वनपर्व, ४४। ८

(कुशील्व ?) द्वारा किया ~~अस~~ किया जाता है<sup>१</sup> और महाभारत की कथा सुनाते समय सोचते कहता है कि<sup>२</sup> यह कथा अत्यन्त प्राचीन है। यह व्यास द्वारा नैमिषारण्य के मुनियों को सुनाई गयी थी। मेरे पिता रोमहर्षण (शाब्दिक अर्थ--अपने ओजस्वी कथन से रोहँ बड़ा कर देने वाला) ने सर्व प्रथम इसका पाठसुना और मैं इसे उसी रूप में कहूँगा जिस रूप में मैंने अपने पिता से सीखा है।<sup>३</sup> इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आख्यान पद्यबद्ध थे और वे अभिनय के साथ गाये जाते थे। वे ही आख्यान जब गद्यनिबद्ध किये गए तो 'आख्यायिका' कहलाए<sup>४</sup>।

कथा और आख्यायिका संस्कृत गद्यसाहित्य की प्रमुख विधाएँ हैं।<sup>५</sup> दण्डी के अनुसार इन दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है।<sup>६</sup> भामह ने दोनों ही का प्रयोजन अभिनय माना है। किन्तु अतिप्राचीनकाल से ही कथा और आख्यायिका को दो स्वतंत्र साहित्यिक विधाओं के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। भरत मुनि द्वारा स्मृत कोहलाचार्य ने कथा और आख्यायिका के भेद को स्पष्ट करते हुये लिखा है--

प्रबन्धकल्पायां प्राक् सत्यासुज्ञाः कथा विदुः ।

परम्पराश्रयो यस्यां सा मतान्यायिका क्वचित् ॥<sup>७</sup>

इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में आख्यायिका भी परम्परानुवर्तिनी थी। पतञ्जलि ने वासवदत्त और सुमोत्रा आख्यायिकाओं की चर्चा की है।<sup>८</sup>

१- रामायण, बालकाण्ड, चतुर्थसर्ग

२- देखिये-- महा०, आदिपर्व, १।५ और आगे।

३- द्रष्टव्य--विण्टरनिज़, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिट०, जि० १, पृ० १०३

४- काव्यादर्श, १।१२

५- तत्कथाख्यायिकेतोका जातिःसंज्ञाध्यायिका ।

अत्रैवान्तर्भव्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः॥ वही, १।२८

६- सर्गबन्धोद्धमिन्यर्थं तथैवाख्यायिकाकथे । काव्यालंकार, १।१८

७- डा० राघवन् द्वारा अपने शोधप्रबन्ध तृंगार प्रकाश पृ० ६१५ पर अमरकोष की स्वनिन्दकृत टीकासर्वस्व पृ० ११६ से उद्धृत।

८- अष्टा० ४।२।६० पर महाभाष्य ।

ये दोनों आख्यायिकाएँ निश्चय ही लोककथाओं की गणपरम्परा में रहें होंगी। किन्तु उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों द्वारा परिभाषित आख्यायिका अपने इस मूल रूप से दूर शास्त्रीय ढाँचे में ढली हुई है। बाणभट्ट प्रणीत वर्णचरित् इस प्रकार की आख्यायिका है। इसके ठीक विपरित कथा शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त रही है। हेमचन्द्र के अनुसार कथा सभी भाषाओं में तथा गद्य अथवा पद्य में लिखी जा सकती है, उसका <sup>नाम</sup> घोरशान्त होता है। कथा में उच्छ्वासों का विभाग तथा वक्त्र-अप-वक्त्र आदि कृन्दों में निबद्ध होने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। भोज ने भी कथा की गति, भाषा और इतिवृत्त को अनियमित कहा है। यद्यपि संस्कृत के अधिकांश कथाग्रन्थ गद्य में ही उपलब्ध हैं, तथापि पद्यात्मक कथाग्रन्थों का नितान्त अभाव नहीं है। गद्यात्मक कथाग्रन्थों में भी पद्य के दर्शन दुर्लभ नहीं हैं। इस प्रकार संस्कृत में कथा गद्यनिबद्ध और प्राकृतदिभाषाओं में गाथा आदि पद्यों में निबद्ध होनी चाहिये<sup>५</sup> यह नियम भारतीय कथासाहित्य पर सर्वत्र लागू नहीं होता।

### कथाओं का वर्गीकरण -

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने कथा की गणना गद्यकाव्य के अन्तर्गत की है। सर्व प्रथम अग्नि पुराणकार में गद्यकाव्य के →

- 
- १- द्रष्टव्य- आख्यायिका की परिभाषार्थ, काव्यानु० ८।७, सा०द० ६।३३५-३६
  - २- घोरशान्तनायका गद्ये पद्ये वा सर्वभाषा कथा। काव्यानु० ८।८
  - ३- आख्यायिकोच्छ्वासादिना वक्त्रापरवक्त्रादिना च युक्ता। कथा तद् विरहिता ॥ -- घन्यालोकलोक ३।७
  - ४- या अनियमितगतिभाषा दिव्यादिव्योभयेतिवृत्तति । कादम्बरीव लीलावतीव वा स्तु सा कथाकथिता ॥

भोज ने अंगारप्रकाश(राधकृन्) पृ० ६१८

- ५- इत्येवं संस्कृतेन कथा कुर्यात् । अन्येस प्राकृतादिभाषान्तरेण त्वगद्ये गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात् ॥ -- काव्यालंकार १६।२३ पर नमिसाधु ।

पाँच भेद गिनाते हुये आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका का उल्लेख किया है। कथा और आख्यायिका का पारस्परिक सम्बन्ध हम स्पष्ट कर चुके हैं। कथा खण्डकथा, परिकथा और कथानिका निश्चय ही कथा के भेद थे। आनन्दवर्धन ने बन्ध तथा वस्तु की दृष्टि से परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा के नामोल्लेख के साथ-साथ 'आदि' शब्द का प्रयोग कर उसके अन्य भेदों की ओर भी संकेत किया है। आचार्य भोज और हेमचन्द्र ने कथा के सर्वाधिक भेदों का वर्णन किया है। इन आचार्यों द्वारा प्रस्तुत कथा की परिभाषाएँ भी प्रायः समान हैं। आ० भोज ने हंगारप्रकाश में अथर्वकाव्य के चौबीस भेद गिनाते हुए आख्यायिका, उपाख्यान, निदर्शन, प्रवृत्तिका, मन्थल्लिका, माणिकुल्या, कथा, परिकथा, खण्डकथा, उपकथा और बृहत्कथा का उल्लेख किया है। आ० हेमचन्द्र ने आख्यान, उपाख्यान, निदर्शन, प्रवृत्तिका, मन्थल्लिका, माणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और बृहत्कथा का वर्णन कथा के अन्तर्गत किया है। इस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र में कथा के निम्नलिखित भेद ज्ञात हैं --

१- कथा	२- आख्यायिका	३- आख्यान
४- उपाख्यान	५- कथानिका	६- परिकथा
७- खण्डकथा	८- सकलकथा	९- उपकथा
१०- बृहत्कथा	११- निदर्शन	१२- प्रवृत्तिका

कथा के उपर्युक्त भेदों में से कथा, आख्यायिका और आख्यान का सामान्य परिचय दिया जा चुका है। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट →

१- आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा।

कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पंचधा।। अमिपु० ३३७। १२

२- पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽस्मिन्नर्थमाख्यायिकाकथे-  
इत्येवमादयः। ध्वन्यालोक, ३।७

३- भोज'ज हंगारप्रकाश (राफन), पृ० ६१३

४- द्रष्टव्य-- काव्यानुशासन, पृ० ८

कर देना अप्रासंगिक न होगा कि अमिपुराण और भोज द्वारा निर्दिष्ट कथा कथा का विशिष्ट प्रकार न होकर गद्यसाहित्य की एक विधा है। आख्यायिका और आख्यान किसी न किस रूप में कथा से ही सम्बन्धित है। अतः काव्यशास्त्रियों ने इन्हें भी कथा-भेदों के ही अन्तर्गत गिन लिया है। कथा के अन्य भेदों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

उपाख्यान-- प्रबन्ध के मध्य में उदाहरणस्वरूप निबद्ध किये गये आख्यान को ही उपाख्यान कहा जाता है। जैसे महाभारत के अन्तर्गत नल, सावित्री आदि के उपाख्यान।<sup>१</sup> वस्तुतः यह बड़ी कथा के अन्तर्गत आने वाली छोटी किन्तु सम्पूर्ण कथा होती है। पंचतन्त्र की कहानियों में यह शैली देखी जा सकती है। कथा के भीतर कथा कहलै की परम्परा लोककथाओं का अपना गुण है।

कथानिका-- अमिपुराण में ही इसका उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार इसमें प्रारम्भ में भयानक, मध्य में सुखदायी करुणारस और अन्त में उद्भुतरस होता है। अन्वेषणात्मक अर्थ इसकी विशेषता है। आप्टे ने अपने संस्कृत अंग्रेजी शब्द कोष में 'कथानक' का अर्थ लघुकथा (short story) देकर वेतालपंचविंशति का उदाहरणस्वरूप उल्लेख किया है।

परिकथा-- धर्म आदि किसी एक पुरुषार्थ को उद्दिष्ट करके विविध प्रकार से अनेक वृत्तान्तों का वर्णन जिसमें प्रधान हो, व 'परिकथा' कही जाती है--

“एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रधाना शूद्रकादिवत् परिकथा।”<sup>४</sup> यह कहानियोंकी एक लम्बी सीरिज होती है। भोज के अनुसार परिकथा प्रकृत में<sup>५</sup> किन्तु अभिवगुप्त के अनुसार किसी भी भाषा में हो सकती है।

१- नलसावित्रीषोडशराजोपाख्यानवत् प्रबन्धान्तः।

अन्य प्रबोधकार्यं यदुपाख्याति तदुपाख्यानम् ॥ शृ०प्र०, पृ० ६१६

२- भयानकं सुखपरं गर्भं च करुणो रसः।

उद्भुतोऽन्ते सुकृप्तार्थो योदाज्ञा सा कथानिका ॥ अमि०, २०।३३७

४- काव्यानु० ८।८, तुलसीय-- “एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येण अनन्तवर्णनप्रकारा परिकथा”--- छान्यालोकलोक, - ३।७

५- खण्डकथापरिकथादौ उक्तादिरपि प्रकृतमेव। सर०कष्ठा०, पृ० १२५

६- पूर्वेणां तु मुक्तकादीनां भाषायामनियमः। छान्यालोकलोक ३।७



खण्डकथा-- किसी बड़ी कहानी में से कोई छोटा सा प्रसिद्ध इतिवृत्त लेकर ली गयी कथा 'खण्डकथा' कहलाती है। हेमचन्द्र और भोज<sup>१</sup> इसके उदाहरण में 'इन्दुमती' का उल्लेख किया है। यह कहानी अज और इन्दुमती के जीवन के एकदेशीय चित्र को प्रस्तुत करती है। आनन्दवर्धन के अनुसार प्राकृतपद्यों में इसकी रक्षा होती है।

सकलकथा-- समस्त जीवन के इतिवृत्त का वर्णन करने वाली कथा को हेमचन्द्र ने 'सकलकथा' कहा है। उन्होंने अपनी विवेकटीका में 'सकलकथेतिचरितमित्यर्थः' लिख कर उसे चरितकाव्य के समीप पहुँचा दिया है, किन्तु इसमें दशकुमारचरित को अथवा विक्रमादित्य-चरित को सकलकथा के अन्तर्गत समझने की भूल नहीं करनी चाहिये।

उपकथा-- मुख्य कथा के अन्तर्गत आई प्रसिद्ध कथा 'उपकथा' कहलाती है।<sup>५</sup> हेमचन्द्र के अनुसार प्रसिद्धकथा के अन्तर्गत आए हुये पात्रों में से किसी एक के चरित का वर्णन करने वाली कथा उपकथा है। इस प्रकार यह उपाख्यान से मिलती-जुलती होती है। अन्तर केवल इतना है कि उपकथा में सम्पूर्ण चरित का वर्णन होता है जबकि उपाख्यान में नहीं।

बृहत्कथा-- गुणाढ्य की बृहत्कथा के महत्त्व से प्रभावित होकर ही दण्डी, मामह, भोज, हेमचन्द्र आदि ने उसे 'कथा' की एक स्वतंत्र विधा मान लिया है। भोज के अनुसार जिसका कथानक लम्पों में विभाजित हो, अद्भुत अर्थ से युक्त हो, अनेक विषयों का वर्णन हो और पेशाचीभाषा में रचित हो, वह बृहत्कथा है।<sup>७</sup>

१- काव्यानु० ८।८

२- ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तव्यते विबुधैः ।

मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती ॥ भोज ज ४०५०, पृ० ६२५

३- खण्डकथासकलकथाः प्राकृतसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद् दीर्घसमासायामपि न विरोधः। ध्वन्यालोकलौक, ३।७

४- समस्तफलान्तैरित्वं वर्णना समरादित्यवत् सकलकथा । काव्यानु० ८।८

५- यत्राश्रित्य कथान्तरमतिप्रसिद्धं निबध्यते कविभिः ।

चरितं विचित्रमन्यत् सोपकथा चित्रलेपादि ॥ भोज ज ४०५०, पृ० ६२५

६- एकतरचरिताश्रयेण प्रसिद्धकथान्तरोपनिबन्धा उपकथा । काव्यानु० ८।८

७- लम्पांकिताद्भुतार्थां पिशाचभाषाभर्या महाविषयाश्च ।

नरवाहदत्तादेशचरितमिव बृहत्कथा भवति ॥ काव्यानु० ८।८ विवेक में उद्धृत ।

निदर्शन -- पशु-पक्षियों की चैष्टाओं अथवा घूर्त-विट आदि के कार्यकलापों के वर्णन द्वारा जिन कहानियों में कार्य-अकार्य का निश्चय कराया जाता है, उन्हें निदर्शन कहा गया है। भोज के अनुसार पंचतंत्र, घूर्तविटसंवाद और कुहूनिमत ऐसे ही कथाकाव्य हैं --

निश्चीयते त्तिस्स्मा तिरश्चामतिरश्चां वा यत्र चैष्टाभिः ।

कार्यमकार्यं वा तन्निदर्शनं पंचतन्त्रादि ॥

घूर्तविट<sup>१</sup>नीमतमयूरमाजगीरिकादि यल्लोके ।

कार्यकार्यनिरूपणापरमिह निदर्शनं<sup>२</sup> तदपि ॥

प्रवह्लिका -- सर्व प्रथम भोज ने श्रव्यकाव्यों के अन्तर्गत प्रवह्लिका का नामोल्लेख किया है। बाद में हेमचन्द्र ने उसे कथाकाव्य के अन्तर्गत स्थान दिया है और भोज द्वारा प्रदत्त परिभाषा को ही स्वीकार कर लिया है। इन वाच्यार्थों के अनुसार सभा या गोष्ठी में किसी प्रधान पुरुष अर्थात् राजा, नायक आदि के सम्बन्ध में दो व्यक्तियों के परस्पर संस्कृत-प्रकृतिमिश्रित भाषा में विवाद को प्रस्तुत करने वाली रक्षा 'प्रवह्लिका' है। अमरकोषमें प्रवह्लिका और प्रहेलिका को एक ही बताया गया है। नैषाधीयचरित (१६।१०२) में प्रवह्लिका शब्द आया है जिसका टीकाकार नारायण ने "सैव दुर्विज्ञेयत्वात् प्रवह्लिका गुप्ताभिप्रायः प्रबन्धविशेषः" अर्थ किया है। अथर्ववेद के काण्ड २०, सूक्त १३३ के मन्त्रों को ब्राह्मणग्रन्थों में 'प्रवह्लिका' कहा गया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने कुरु-पांचालप्रदेश में प्रचलित 'पल्हाया' के गीतों को प्रवह्लिका ही माना है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी राजा आदि के सम्बन्ध में प्रहेलिकात्मक विवाद प्रवह्लिका कहा जाता था और उन दिनों में

१- भोज 'ज ४०५० (वी०राघवन् ) , पृ० ६२१

२- वही, पृ० ६२१

३- यत्र त्रयोर्विवादः प्रधानमधिकृत्य जायते सदसि ।

सार्धप्राकृतरचिता प्रवह्लिका चेटकप्रभृतिः ॥ काव्यानु ८।८ पर विवेक

एवं ४०५० पृ० ६२१

४- ऐ०ब्रा०, ६।३३, कौ०ब्रा०, ३०।७ (द्रष्टव्य-वैदिककोश, डा०सूर्यकान्त )

५- डा० सत्यागुप्त, लड़ीबोली का लोकसाहित्य, पृ० २८४

यह कहानी का भेद उसी प्रकार माना जाता रहा होगा जिस प्रकार आज भी ब्रज और खड़ी बोली के प्रदेश में पहिली पूरने के अर्थ में ' कहानी पूरने ' का प्रयोग होता है।

मन्थल्लिका -- हेमचन्द्र के अनुसार पेशाची अथवा महाराष्ट्री भाषा में लिखित द्वादशकथा मन्थल्लिका है। इसमें पुरोहित, अमात्य, तपस्वी आदि के क्रियाकलापों का उपहास वर्णित होता है।

मणिकुल्या -- जिन कहानियों में वर्ण्यविषय प्रारम्भ में अस्पष्ट और रहस्य बना रहता है किन्तु अन्त में उसे स्पष्ट कर दिया जाता है, उन कहानियों को मणिकुल्या कहा गया है। कथासरित्सागर (१।५) में वर्णित निष्प्राण मकली द्वारा हँसने की कहानी को भोज और हेमचन्द्र ने इसका उदाहरण बताया है।

कथाओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में जैन लेखकों ने विषय, पात्र और भाषा को आधार बनाया है। विषय की दृष्टिसे कथाओं के चार प्रकार हैं-- अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रित कथा। धर्मकथा के चार प्रभेद हैं-- आक्षोपिणी, विक्षोपिणी, स्वैदनी और निर्वैदनी। मिश्रकथा में धर्म, अर्थ, काम--तीनों का सम्मिश्रण होता है। अतः सभी प्राकृतकथाकारों ने इसे श्रेष्ठ माना है। पात्रों के आधार पर दिव्य, मानुष और दिव्य-मानुष ये तीन भेद हरिभद्रसूरि ने किये हैं।

---

१- प्रेममहाराष्ट्रभाषया द्वादशकथा - - - - यस्यां पुरोहितामात्यतापसादीनां

प्रारब्धान्निहि उपहासः सापि मन्थल्लिका ।। काव्यानु० ८८

और भी द्रष्टव्य, भोज ' ज शृ० प्र०, पृ० ६२३ ।

२- मणिकुल्यायां जलमिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु ।

पश्चात्प्रकाशते सा मणिकुल्या मत्स्यहस्तिसितादि ।। शृ० प्र०, पृ० ६२४

३- अत्यकथा कामकथा धम्मकथा चैव मीसिया य कथा । दशैकालिक, गाथा १८८।

४- वीरसेनाचार्यकृत धलाटीका, जि० १, पृ० १०४

५- जैन, नेमिचन्द्र, प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४४७

६- दिव्यं दिव्यमाणुसं माणुसं च । समराहचकला, पृ० २

भाषाभेद से कथा के तीन प्रकार माने गये हैं -- संस्कृत, प्राकृत और मिश्र । शिल्पभेद से कथाओं के पाँच भेद हैं- सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा।

जैन आचार्यों की दृष्टि में त्रिवर्ग का कथन करने वाली कथा ही वस्तुतः कथा है । संयम में बाधा उपस्थित करने वाली कथा 'विकथा' कही गयी है । स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा--विकथा के प्रमुख भेद हैं ।

कथा के उपर्युक्त भेद-प्रभेदों के अतिरिक्त संकथा और अतिकथा का भी उल्लेख मिलता है । लेकिन ये सम्भवतः साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सके । संकथा का अर्थ बात-चीत अथवा प्रशंसावचन और अतिकथा का अर्थ गप्पाष्टक ( स्वेरालाप ) है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत और प्राकृत के लेखकों ने कथासाहित्य का विभिन्न दृष्टियों से व्यापक वर्गीकरण करने का प्रयास किया है । आधुनिक विद्वानों में डा० सत्येन्द्र ने उद्देश्य की दृष्टि से कथाओं के चार भेद-- मोरंजक, शिखा, व्याख्या और वाणी-विलास तथा वस्तुस्वभाव की दृष्टि से तीन भेद-गाथार्थ, अवदान और कहानियाँ माने हैं। विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत करते हुये उन्होंने कथाओं को नौ बड़े वर्गों में विभाजित किया है --(१) गाथा, (२) पशु पक्षी सम्बन्धी, (३) परी की कहानी, (४) विक्रम (साहस), (५) बुझावल, (६) निरीदाणमूर्ति, (७) साधु-पीरों की कहानी (८) कारणनिर्देशक (९) बालकहानी ।

१- अण्णं सक्कय पाययसंकिण्ण विहा सुवण्ण-रहयाज्ज ।

सुव्वंति महाक्क पुंमेहिं विविहाउ सुक्काज्जो ।। लीलावहं , ३६।।

२- कुवलयमाला, (सम्पा० २०२० एन० उपाध्ये), पृ० ४, अनु० ७

३- पुरुषार्थोपयोगित्वात् त्रिवर्गकथा कथा ।

तत्रापि सत्कथा धर्म्यामामन्ति मनीषिणः ।। जिनसंस्कृत महापुराण ११८।१

४- संयमबाधकत्वेन वचनफट्टितविकथा । --स्थानांगसूत्र, पूर्वार्ध

५- सम्वायांगसूत्र, १।४

६- आर्यासप्तशती, ११८

७- पादताडितक (झुंगारहाट के अन्तर्गत ), पृ० १०६, २३४ ।

८- डा० सत्येन्द्र, लोकसाहित्यविज्ञान, पृ० २०६--११

डा० सत्येन्द्र का यह वर्गीकरण अपूर्ण और अवैज्ञानिक है। हमारे अनुसार वर्णयविषय और स्वरूपविधान के आधार पर कथाओं को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है --

- |   |  |
|---|--|
| (१) देवशास्त्रीय कथाएँ                      | (२) अवदान कथाएँ  |
| (३) व्रत-पर्वसम्बन्धी कथाएँ                 | (४) शाप, वरदान अथवा किसी पौराणिक या कल्पित घटना के आधार पर गढ़ी गई कहानियाँ। |
| (५) विक्रम या साहस की कहानियाँ,             | (६) शिद्दा या उपदेशपरक कहानियाँ  |
| (७) व्यंग्य एवं उपहास प्रधान कहानियाँ,      |  |
| (८) अतिमानवीय पात्रों से सम्बन्धित कहानियाँ | (९) गप्पासुक्क   |
| (१०) प्रहेलिकात्मक कहानियाँ,                | (११) कहावत के मूल की कहानियाँ  |
| (१२) साधुसन्तों की कहानियाँ,                | (१३) निरीक्षाणात्मक कहानियाँ   |
| (१४) बाल-कहानियाँ।                          |  |

इनमें से १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १०, १२ एवं १४ वर्गों की कहानियों का स्वरूप स्पष्ट है। चौथे वर्ग में प्रारम्भ में मृष्य की वाणी बोलने वाले तोता और हाथी की जीभ कैसे पलट गयी, चक्का-चक्की रात को अलग-अलग क्यों रहते हैं, कुँए अथवा गुफाओं में प्रतिध्वनि क्यों उठती है इत्यादि कहानियाँ आती हैं। भूत, प्रेत यक्षा, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर आदि की कहानियाँ आठवें वर्ग में आती हैं। कहावतों का निर्माण भी किसी कहानी के सारांशरूप में होता है। अतः कहावतों के मूल की व्यवस्था करके वाली कहानियों को स्वतन्त्र वर्ग में रक्का चाहिये। तेरहवें वर्ग में किसी योनि, जाति अथवा व्यक्ति के स्वभाव एवं धर्म आदि के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान का वर्णन करने वाली कहानियाँ आती हैं। जैसे सुनार सोने का चूरा क्यों बनाते हैं, कायस्थ अस्थिमात्रावशिष्ट होने पर भी कपट क्यों नहीं छोड़ता आदि।

---

१- कादम्बरी, कथामृत, अनु० ११

२- द्रष्टव्यदीपेन्द्र, कलाविलास, सर्ग ५ एवं ८।

## (२) गाथा-

गाथा शब्द का मूल अर्थ 'मानना अथवा पथ' है जो वैदिक काल से ही लौकिक पथ के अर्थ में प्रयुक्त होता आ रहा है। किन्तु अन्य लौकिक ह्दों की भाँति इसमें मात्रा, वर्ण अथवा चरणों का बन्ध कठोर नहीं है। अतः इसे 'लोक-शब्द' 'लोक ह्द' कहना असमीचीन नहीं होगा। किन्तु यहाँ हम गाथा ह्द की नहीं, गाथा जिसे हिन्दी में लोकगाथा और अँग्रेजी में बॉलेड (Ballad) कहते हैं, की चर्चा कर रहे हैं।

कृषेद में गाथा शब्द के दो अर्थ ज्ञात हैं- पथ और नाराशंसी<sup>४</sup>। ऐतरेय ब्राह्मण में गाथा को मानवीयकृति बता कर ब्रुमः शेष की कहानी को 'शतगाथम्' कहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में गाथा को नाराशंसी कहा गया है। निरुक्त के टीकाकार दुर्गा ने गाथा का सम्बन्ध इतिहास से भी जोड़ा है। अमरकोष में "पितृगण, परलोक और ऐसे ही अन्यान्य विषयों से सम्बद्ध अनुश्रुतियों पर आधारित पथ" को गाथा कहा गया है। मत्स्यपुराण में स्पष्ट रूप से पितृगाथा शब्द का प्रयोग मिलता है। वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में पुराणज्ञों द्वारा प्राचीन गाथाओं के गाये जाने का उल्लेख है।

१- वाष्टे, स्टूडेण्ट्स संस्कृत - इंग्लिश डिक्शनरी

२- द्रष्टव्य-ऐ०ब्रा० ७। १८ एवं कृ० ८। ३२। १, ८७। १४ वादि ।

३- केदारभट्ट, वृक्षलाकर, १८। १ एवं १२। ५ तथा उस पर प्राज्ञतोषिणी

४- कृ० ८। ३२। १, ८। ७१। १४ (द्रष्टव्य-वैदिककोण, सूर्यकान्त सम्पा०)

५- वही, १०। ८५। ७

६- ऐ०ब्रा० ७। १८

७- ऐ०ब्रा० १। ३। २। ६

८- स पुरितिहासः कृषेदो गाथाब्दश्च। कृषप्रकार एव कश्चिद् गाथेत्युच्यते । गाथाः

शंसति नाराशंसीः शंसति इति उक्त गाथानां कुवतिति । --निरुक्त ४। ६ पर दुर्गावृत्ति ।

९- अमरकोष

१०-इत्येतां पितृगाथां - - - । -- मत्स्य पु० २०४। १६

११-वायुपु०- ६३। ६४

१२-ब्रह्माण्डपु०, ३। ७१। १४

पारस्कर गृह्य सूत्र में वधू के अश्वारोहण करते समय वर द्वारा निम्नलिखित गाथा गायी जाने का विधान है --

सरस्वति <sup>प्रजदेव</sup> सुमने वाजिनीवति ।  
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः ।  
यस्यां भूतं समभक्षयस्यां विश्वमिदं जगत् ।  
तामथ गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तं यशः १।

उपर्युक्त विवरण से गाथा के स्वरूप के विषय में जो महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है वह इस प्रकार है ---

- (१) गाथा गायी जाती है ।
- (२) उसमें पितरों अथवा पूर्वजों के दान, यज्ञ, शौर्य आदि की यशोगाथा वर्णित होती है ।
- (३) उसका वर्ण्यविषय कथात्मक होता है । इसीलिये कुछ विद्वानों ने इसे कथागीत अथवा गीतकथा कहा है ।<sup>२</sup>
- (४) उसका रचयिता अवश्य होता है किन्तु गाथाओं में उसका नामोल्लेख नहीं मिलता ।
- (५) संगीत का साहचर्य ।
- (६) यज्ञ, विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर गाथागान किया जाता है ।

---

१- पारस्कर गृ०सू० १।७।२

२- ए बैलैड हज ए सांग देट टैल्स ए स्टोरी- टू टेक दी अदर प्वाइण्ट आफ व्यू-  
ए स्टोरी टोल्ड इन सांग \* एफ०जे०वाइल्ड कृत हंग्लिंग ऐण्ड स्काटिश पापुलर  
बैलैड्स, भूमिका पृ० ११ पर जी०एल० किटरेज के नाम से उद्धृत ।

गाथाओं के स्वरूप के विषय में प्रो० विन्टरनिज़ का मत है कि इनके माध्यम से किसी महान् व्यक्ति के वीरचित क्रियाकलाप को व्यक्त किया जाता था तथा कभी-कभी इनके लघुकाय में किसी वृहत् इतिहास अथवा वाक्यान्त को समाहित किया जाता है था।<sup>१</sup> डा० बलदेव उपाध्याय भी इसी मत के समर्थक हैं।<sup>२</sup>

### गाथाओं के गायक -

यों तो पारिवारिक उत्सवों में गाथाएँ गाने का काम प्रायः स्त्रियाँ और संस्कारों में पुरोहित आदि कर लेते थे किन्तु बड़े-बड़े समारोहों में यह कार्य करने वालों का एक पृथक् वर्ग था। ऋग्वेद में गाथिन् शब्द गाथा गाने वाले के अर्थ में मिलता है। परवर्ती साहित्य में सूत, मागध, कुशीख, चारण, बन्दीजन और बेतालिक का उल्लेख मिलता है। ये सभी राजदरबारों के नियमित गायक थे जो संगीतज्ञों से भिन्न कोटि के थे। कुमारसम्भव में भगवान् शिव की त्रिपुरासुरविजय से सम्बन्धित अवदान गाथाओं के विज्ञावसु आदि गन्धर्वों द्वारा गाये जाने का उल्लेख है।<sup>४</sup>

---

१- विन्टरनिज़, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट०, पृ० ३११

२- उपाध्याय, बलदेव, पुराणविमर्श, पृ० ६३

३- इन्द्रमिदं गाथिर्न वृहत् । -- कृ० १।७।१

४- कुमारसम्भव, ४८।७



## संस्कृत गाथा साहित्य-

गाथा का सर्व प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है<sup>१</sup> शतपथ ब्राह्मण<sup>२</sup> और ऐतरेय ब्राह्मण<sup>३</sup> में वैदिक गाथाओं के उदाहरण प्राप्त होते हैं। पुराणों की रक्षा में 'गाथाओं' की विशेष भूमिका रही है। विष्णुपुराण में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है। महाभारत में अनेकत्र गाथाएँ उद्धृत हुयी हैं<sup>४</sup>। इन प्राचीन ग्रन्थों में ये गाथाएँ किसी आख्यान, इतिहास अथवा सिद्धान्त की प्रमाणिकता का बोध कराने के लिये उद्धृत की गयी हैं। गाथाओं को उनके विशिष्ट मन्त्र महत्व के कारण ही अध्येय विषयों में स्थान प्राप्त था<sup>५</sup>। इससे गाथासाहित्य की विशालता का अनुमान सहज ही पुष्ट हो जाता है। किन्तु ज्यों-ज्यों संस्कृति का विकास होता गया और संस्कृत भाषा एवं साहित्य जन-जीवन से हट कर शिष्ट वर्ग की सम्पत्ति मात्र बन कर रह गया, त्यों-त्यों गाथासाहित्य की अमूल्य निधि नष्ट होती गयी। जी०एफ० किटरेज ने ठीक ही लिखा है कि जैसे-जैसे सम्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे लोकगाथाएँ सम्राज्य समाज से हट कर निम्न लोगों के बीच पहुँचती गईं जिनमें काली-कुत्ते वाले, हल चलाने वाले तथा चरवाहे प्रमुख हैं<sup>६</sup>। यही कारण है कि संस्कृत के वैशिष्ट्य साहित्य में गाथाओं का प्रायः अभाव पाया जाता है। यहाँ यह बात बहुत ही ध्यान रखनी की है कि—>

१- ऋ० ऋ० १, ८७।१।१४, १०।८५।७ आदि।

२- श०ब्रा०, १३।५।४, १३।४।२८

३- ऐ०ब्रा०, ८।४

४- आख्यानैश्वर्याप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।

पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थं विशारदः ॥-- विष्णु० ३।६।१६

५- द्रष्टव्य- महा०, ३।१६।१।१६ एवं विन्टरनिज, वही पृ० ५००

६- द्रष्टव्य-- ऐ०ब्रा० ८।१३।१८

७- शर्मा, सत्यप्रकाश, प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सम्यता, पृ० १८६

८- चाहल्ल, इंग्लिश एण्ड स्काटिश पापुलर बैलैड्स, भूमिका पृ० १२ पर उद्धृत।

संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत प्राकृतगाथाएँ मुक्तकमात्र हैं, अतः उन्हें लोकगाथा समझने की मूल नहीं करनी चाहिये। राजस्तुति, विरन्द जैसी साहित्यिक विधाओं के मूल में लोकगाथाओं की संज्ञा स्पष्ट है।

### गाथाओं का वर्गीकरण -

यद्यपि संस्कृत के वरेण्य साहित्य में गाथासाहित्य का प्रायः अभाव ही है, तथापि वेद, ब्राह्मण, महाभारत और पुराणग्रन्थों में उपलब्ध गाथाओं की संख्या बहुत अधिक है। विषय की दृष्टि से उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है -

- (१) नारायणी - दानवीर राजाओं और यजमानों की दानशीलता का वर्णन करने वाली गाथाएँ।
- (२) दार्शनिक-- सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय आदि सिद्धान्तों को समाहार रूप में प्रस्तुत करने वाली गाथाएँ।
- (३) देवी और पितृगणों की शक्ति का वर्णन करनी वाली गाथाएँ।
- (४) उपदेशात्मक गाथाएँ- जिनमें पशु, पक्षी अथवा किसी आदर्श व्यक्ति के चरित्र वर्णन द्वारा उपदेश वर्णित रहता है।
- (५) राजस्तुति एवं विरन्द सम्बन्धी गाथाएँ- इनके गायक चारण और बन्दीजन होते हैं।
- (६) ध्वन्योक्तिमूलक गाथाएँ- संस्कृत नाटकों में वैतालिकों के कथन इसी प्रकार की गाथाओं के परिष्कृत एवं अवशिष्ट रूप कहे जा सकते हैं।
- (७) प्रेमकथात्मक गाथाएँ।

### (३) गीत एवं गीति -

यद्यपि संस्कृतकाव्यशास्त्र में गीत अथवा गीति नामकी किसी साहित्यिक विधा का उल्लेख नहीं हुआ, तथापि संगीत शास्त्रीय ग्रन्थों, में उसका पूर्ण विवेचन और अनेक काव्यों में इनका नामोल्लेख प्राप्त होता है। संस्कृत में गीति और गान (गीत) समानार्थी शब्द हैं।

बाण भट्ट ने गीति और गीतिका का गीत अर्थ में ही प्रयोग किया है<sup>१</sup>। नाट्य शास्त्र में भी गीति से गानविशेष अभिप्राय है<sup>२</sup>। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकगीतों का ही संस्कृतनाम गीति था क्योंकि नाट्यशास्त्र में गीति के जिन भेद-प्रभेदों की परिगणना की गयी है, उनका आधार भाषा और देश है। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक में आदिपिका<sup>३</sup>, द्विपिका<sup>४</sup>, जम्बलिका<sup>५</sup>, सण्डघारा आदि प्राकृत गीतियों प्रस्तुत की हैं। विभिन्न शाकुन्तल में भी उन्होंने नटी के मुख से सुमधुर गीत और हंसपिका के मुख से रागमयी गीति का गान कराया है। ये गान और गीति भी प्राकृत हैं ही हैं। संस्कृत के गीति छन्द का इन गीतियों से सम्बन्ध जोड़ा नितान्त हास्यास्पद होगा।

हमारे विचार में इन गीतियों को शिष्टकवि द्वारा शिष्टलीकभाषा में रचित लोकगीत माना जा सकता है। इन लोकगीतों का वास्तविक लोकसाहित्य में वही स्थान होगा जो महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखे भोजपुरी लोकगीतों का भोजपुरी लोकगीतों में।

संस्कृत का गीतिकाव्य भी लोकगीत की घाट पर ही पैदा हुआ है<sup>६</sup>। आचार्य आनन्द वर्धन के अनुसार मुक्तकों की रचना का प्रथम श्रेय संस्कृत को न मिल कर प्राकृत को ही मिला →

१- मागधीमंगलगीति, काद० अनु० २४१ एवं सूतिकामंगलगीतिका, वही, अनु० ६४

२- विक्रमोर्वशीयम्, १।४      ३- वही, २।४      ४- वही, ३।४

५- वही, ४।४      ६- अमि० ४।१      ७- वही, १।५

८- गीतिकाव्य का शिष्ट साहित्य में वही स्थान है जो जन-साहित्य में लोक गीतों का। विकासवादी विद्वानों के अनुसार तो उसका उद्भव लोकगीत ही है।  
शास्त्री, परमानन्द, संस्कृत गीतिकाव्य का विकास पृ० ३।

चाहिये । किन्तु गीतिकाव्य को लोकगीत नहीं कहा जा सकता । \* गीतिकाव्य तथा लोकगीतों का मूल प्रवृत्तिनिमित्त समान ही है विषय-वैविध्य की दृष्टि से गीतिकाव्य लोकगीतों की अपेक्षा संकीर्ण है कितने ही पङ्क्तियों से बचकर चला है । उस पर कलात्मक प्रसाधों का गहरा रंग है तथा भावना की सहजता पर वाचैदग्ध्य का आवरण पड़ गया है । ॥ ॥ ॥ गीतिकार ने शब्दसंगीत, अर्थगौरव और शब्दशक्तियों के प्रयोग से लोकगीत के अगढ़ कलेवर को सुढौल बनाया जिससे उसमें गरिमा और महत्ता की प्रतिष्ठा तो हुयी परन्तु इस संस्करणक्रिया में अनुभूतिगतस्वाभाविकता भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी । नैसर्गिक वातावरण के स्थान में कृत्रिमता का समावेश हुआ तथा अम्बुचि, विचार और शैली को अनुमानतः अधिक महत्व दिया जाने लगा । \* हमारे विचार से मले ही संस्कृत गीतिकाव्य भाषा, अलंकार और शैली के अनुसार लोकसाहित्य न ही, किन्तु इतना निश्चित है कि वह लोकसाहित्य से बहुत दूर नहीं जा सका । लोक भाषाओं के साहित्य का उस पर गहन प्रभाव है ।

---

१- धन्यालोक,

२- शास्त्री, परमानन्द, वही, पृ० ४

३- संस्कृत गीतिकाव्य पर लोकभाषाओं के साहित्य के प्रभाव के लिये देखिये-

डा० परमानन्द शास्त्री का शोध प्रबन्ध 'संस्कृत गीतिकाव्य का विकास'

पृष्ठ १२५- १८० ।

## गीतों का वर्गीकरण -

गीत का मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। विशेषकर भारतीय जीवन तो प्रारम्भ से अन्त तक गीतों की समधुर ध्वनि से गूँजता रहा है। उसका जन्म गीत के साथ होता है, यौवन गीतों की मादकता में मस्त होकर हठलाता है और अन्त में मृत्यु भी शोक एवं वैराग्य भरे गीतों के साथ ही आती है। इस प्रकार गीतों का क्षेत्र उतना ही व्यापक है जितना कि मानव जीवन। फिर भी अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इन गीतों को इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं --

- (१) संस्कार सम्बन्धी गीत
- (२) कृतु सम्बन्धी गीत
- (३) श्रमगीत
- (४) विरह के गीत
- (५) पालन के गीत ( लीरियाँ )

## (१) संस्कार सम्बन्धी गीत -

भारतीय जीवन आदि से अन्त तक विभिन्न संस्कारों से सुसंस्कृत है। गौतम के अनुसार इन संस्कारों की संख्या ४० है किन्तु अधिकांश धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में इनकी संख्या १६ मानी गयी है। इनमें भी जातकर्म, विवाह और मृत्यु जीवन के प्रमुखतम संस्कार हैं। संस्कृतसाहित्य में इन तीनों ही संस्कारों से सम्बन्धित गीतों का उल्लेख पाया जाता है।

जन्मोत्सव सम्बन्धी गीत- पुत्र जन्म किसी भी दम्पति की ललित काम्माजा की ललित काम्माजा की चरमपरिणति है। अतः अतिप्राचीन काल से ही यह उत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया जाता रहा है। इस उल्लास भरे अवसर पर नाच-गान की प्रथा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। आदि कवि प्रवेता ने रामजन्म के अवसर पर गन्धर्वों द्वारा गाने और अप्सराओं द्वारा नाचों का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> कालिदास ने कुमार-संभव में कुमार के जन्मोत्सव में आयी हुयी गन्धर्वों और विद्याधरों की स्त्रियों द्वारा गायी गई मंगलगीतियों का उल्लेख किया है।<sup>२</sup> ये मंगलगीत बधावे के गीत होने चाहिए क्योंकि वहीं आगे के श्लोक में सुमंगलोपायन पात्रहस्तामाताओं का भी उल्लेख है। ये गीत अनेक प्रकार की तर्जों (कन्दों) में बँधी हुये थे। बाणभट्ट ने हर्षचरित में हर्ष के जन्मोत्सव के अवसर पर गाये जाने वाले अश्लीलरासक-पदों का उल्लेख किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार 'अश्लीलरासकपदानि' का तात्पर्य अश्लील सीठों से भरे हुए गीत है। सूतिकागृह के दरवाजे पर बड़ी-बड़ियाँ मिल कर सौहर या बिहाई के गीत गाती थीं। बाणभट्ट ने इन गीतों को 'सूतिकामंगलगीतिका' कहा है।

विवाहोत्सव सम्बन्धी गीत- विवाहोत्सवों में गीत गाने की प्रथा बहुत पुरानी है। रामायण में राम आदि माइयों के विवाह के अवसर पर गाये गये गीतों का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> बाणभट्ट ने हर्ष चरित में राज्यश्रीविवाह के अवसर पर सामन्तों की स्त्रियों द्वारा वर और वधू के नाम ले लेकर मंगलाचार के गीत गाने का उल्लेख किया है।<sup>४</sup>

१- रामायण, बाल० १८। १६

२- कुमारसंभव, ३४। ११

३- वही, ३५। ११

४- वही, ३६। ११

५- अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६७

६- कादम्बरी, अनु० ६४

७- रामायण, बाल०, ३८। ३६

८- वधूवरगौत्रग्रहण गमाणि श्रुतिसुभगानि मंगलानि गायन्तीभिः। -- हर्ष०

चतुर्थ उच्छ्वास ।

इन गीतों में वर-चू की प्रशंसा, सीठे मोर व्यंग्य और मधुर हास्य होता था । कालिदास ने सरस्वती द्वारा वर-चू शिव-पार्वती की प्रशंसा में संस्कृत और प्राकृत भाषा के गीतों का उल्लेख किया है ।<sup>१</sup>

विवाह के अनन्तर कन्या की विदाई के अवसर पर भी गीत गाये जाते थे ।

पद्मचरित के अनुसार जब मय दानव मन्दोदरी के साथ लेकर रावण के यहाँ जाने लगा तो पौराणिकाओं ने मंगल गीत गाकर कन्या को विदा किया था ।<sup>२</sup> ऐसे गीतों में कन्याविहोह से उत्पन्न माता-पिता आदि सम्बन्धियों का विलाप, कन्या के लिये उपदेश, माता-पिता से जुदाई के दुःख में रोती हुई कन्या को डाढस आदि का मर्मस्पर्शी वर्णन होता है । अभिज्ञान शाकुन्तल के चतुर्थीक में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर कण्व और प्रियंवदा के पद्यात्मक कथन ऐसे ही गीत माने जा सकते हैं ।<sup>३</sup>

मृत्युगीत -- मृत्युगीतों की परम्परा बड़ी प्राचीन है । कृचैद में उनके ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें मृतव्यक्ति के प्रतिशोक प्रकट किया गया है । प्रेतात्मा किस मार्ग से स्वर्ग पहुँचेगी, उसकी रक्षा के लिये कौन-कौन उसके साथ जाएँगे, इसका विशद वर्णन इन मन्त्रों में पाया जाता है । मृतक का सम्बन्धी शव को दफन करता हुआ शोकाकुल होकर विलाप कर रहा है -- "अपनी धरती माता के हृदय में समाजावो, यह पृथ्वी दूर तक विस्तृत और अत्यन्त कृपालु है । अभी-अभी खोदी हुयी मिट्टी ऊन के समान कोमल है । वह तुम्हें विलय की गोद में सुरक्षित रखे । हे पृथ्वी, इसे ग्रहण करने के लिये विस्तृत मुँह खोल दो । इसके ऊपर अधिक दबाव मत डालो । इसके लिये सुखदायिनी बनो । हे पृथ्वी इसे वैसे ही ढँक लो जैसे माता अपने बच्चे को वस्त्र में ढँक लेती है ।"<sup>४</sup>

---

१- कुमार०, ६०।७

२- पद्मचरित, १०८।६४

३- अभिज्ञान०, ४/१३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१-४

४- कृ० १०।१४।७, ६

५- वही, १०।१८

रामायण और महाभारत के उन प्रसंगों को जहाँ किसी व्यक्ति की मृत्यु पर विलाप का वर्णन है, मृत्युगीत की कौटि में रखा जा सकता है। कुमार सम्पन्न में मदनदल के उपरान्त रतिका विलाप बड़ा ही रम्यस्पर्शी है। रति मदन के विभिन्नगुणों का वर्णन करती हुयी बेहोश हो जाती है। होश में आने पर वह इस प्रकार विलाप करती है -

“ हे प्रिय , आज तक विलासियों के शरीर की तुलना तुम्हारे जिस सुन्दर शरीर से की जाती थी उसे इस दशा में देख कर भी मेरी छाती फट नहीं गयी ।      ।      ।      हे प्रिय , तुम्ही कभी मेरी अनचाही बात नहीं की और मैं भी कभी तुम्हारी बात नहीं टाली , फिर बिना किसी बात के ही मुझ बिलसती हुयी को दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो !      ।      ।      तुम मुझसे जो यह मीठी-मीठी बात काया करते थे कि तुम मेरे हृदय में सदा रहती हो वह सब मेरी समझ में झूठ थी क्योंकि यदि वह सब बात केवल मेरा मन रखी भर को न होती तो तुम्हारे राख हो जाने पर यह रतिमला कैसे जीवित रहती ।  
 ।      ।      ।      हे अनंग ! तुम चन्द्रमा के प्रिय मित्र थे । जब उसे यह ज्ञात होगा कि तुम कथावशेष रह गये हो तो शुक्ल पद्म में अपनी कृशता बड़ी कठिनाई से छिड़ पायेगा ।      ।      ।      हे काम ! मुझ रुठी हुयी को मनाने के लिये जब तुम पौरों पड़ कर काँपते हुये मुझे मना कर गले लगाते थे और फिर अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे उन्हें याद करके मेरा जी फटा जा रहा है । हे काम-कीड़ाओं में चतुर , तुम्ही अपनी हाथों से मेरा जो वासन्ती शृंगार किया था वहलती अभी ज्यों की त्यों बना हुआ है , पर तुम्हारे सुन्दर शरीर के दर्शन —”

----



नहीं हो रहे ।<sup>१</sup> इसी बीच वसन्त उसे सान्त्वना देने के लिये पहुँचता है । उसे देखते ही वह विलस उठती है -- ' हे वसन्त, बताओ तो तुम्हारे मित्र की यह दशा कैसी ही गयी । वह देखी तुम्हारा मित्र राख बना हुआ पड़ा है, कबूतर के पंख के समान उसकी भूरी राख को हवा हवा - उधर उड़ा रही है । हे काम ! तुम्हारा मित्र वसन्त तुम्हें देखी के लिये बड़ा उतावला है, आकर इसे दर्शन तो दो ।

॥      ॥      ॥      हे वसन्त, अब तुम बन्धु होने के नाते मेरे लिये इतना तो कर दो कि मेरा दाह करके मुझे भी पति के पास पहुँचा दो ।      ॥      ॥      ॥  
मैं तुमसे हाथ जोड़ कर के पुरों पढ़ कर यह मीस माँगती हूँ कि तुम मेरे लिये शीघ्र ही चिता तैयार कर दो । और शीघ्र ही दक्षिण पवन के पंख से उसे प्रज्वलित कर दो जिससे मैं शीघ्र ही राख हो जाऊँ , क्योंकि तुम जानते हो कि मेरा प्राणप्रिय एक क्षण भी मुझसे अलग नहीं रह सकता । और सुनो, जब मैं जल जाऊँ तो जलजलि देना जिससे तुम्हारा मित्र मेरे साथ ही जल पी सके ।<sup>२</sup> हन्दुमती की अकालमृत्यु पर शोकाकुल अज का विलाप संसार के साहित्य में अपना सानी नहीं रखता । कालिदास साहित्य के ये दोनों ही प्रसंग ' मृत्युगीत ' के उत्कृष्ट उदाहरण माने जा सकते हैं ।

बाणभट्ट ने हर्षचरित में कविरूदितक<sup>३</sup> नामक गीतों का उल्लेख किया है जो मृत्यु के अवसर पर गाये जाते थे । डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने गीत गाकर शोक मनाने की इस प्राचीन प्रथा की तुलना आज कल पंजाब में प्रचलित स्यार्य की प्रथा से की है ।

(२) कृतु सम्बन्धी गीत-

संस्कृत काव्यशास्त्र में ' षड्विंशतः ' →

१- कुमारसम्भव, चतुर्थ सर्ग ।

२- रघुवंश , ४४-६६।८

३- हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास

४- हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ११८

महाकाव्यों का एक आवश्यक लक्षण माना गया है<sup>१</sup>। प्रायः सभी संस्कृत महाकाव्यों में षष्ठ्युक्त वर्णन के प्रसंग पाये जाते हैं। कृतवर्णन से सम्बन्धित कुछ फुटकर रक्तारें भी संस्कृत में उपलब्ध हैं, उदाहरणार्थ कालिदास का कृतवर्णन समुच्चय। कृतवर्णन की यह परम्परा संस्कृत साहित्य में लोकसाहित्य से आई प्रतीत होती है। लोक में यह परम्परा बारहमासा के रूप में आज भी वर्तमान है। किन्तु शिष्ट कवियों के हाथों में यह रक्तार वष्यविषय ही बदल गया। बारहमासा में जहाँ संयोग-वियोग के उभयपक्षीय चित्र मिलते हैं वहाँ षष्ठ्युक्त-वर्णन में केवल कामी प्रणय-युगल के विविध काम-विलासों का सामन्ती वर्णन पाया जाता है। हाँ, कालिदास का मेघदूत बारहमासा के वष्यविर्णन से अवश्य टक्कर लेता है। फागुन के महीने में होली के अवसर पर चर्वरीगान का विशेष प्रचलन था। हर्ष ने रत्नावली में मदनोत्सव के अवसर पर चर्वरीगान का उल्लेख किया है<sup>२</sup>। इस 'चर्वरी' का कोई निर्दिष्ट छन्द नहीं था।<sup>३</sup> विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक में कहीं चर्वरी - पदों का प्रयोग हुआ है।

### (३) श्रमगीत -

किसी भी प्रकार का काम करते समय श्रमापन के लिये जो गीत गाये जाते हैं, श्रमगीत कहे जाते हैं। लोकगीत गाती हुयी अन्ध कूटने वाली कृष्णकस्त्री का उल्लेख सुमाणित रत्नकोश में मिलता है। क्वार के महीने में हिरणों से खेतों की रखवाली करती हुई कृष्णकल्लाओं के गीतों का उल्लेख माघ ने किया है<sup>४</sup>। कुमारपालचरित में भी आया है कि कृष्णकपलियां गाने गा-गाकर ईख और की-मटर के खेतों की रखवाली करती थीं<sup>५</sup>। बाणभट्ट ने भैरवी की पीठ पर बैठे गीत गाते हुए खालों का उल्लेख किया है<sup>६</sup>।

### (४) विरहगीत -

कालिदास का मेघदूत संस्कृत का प्रथम विरहगीतकाव्य माना जा सकता है। संस्कृत में इस प्रकार के स्वतन्त्र विरहगीत बहुत ----->

१- साहित्यदर्पण, ८।६

२- रत्नावली, प्रथमांक।

३- झिंदी, हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ११५

४- सुमाणितरत्नकोश (सम्पा०-डी०डी०कोशाम्बी एवं गौखले), श्लोक ११७८, ११८२

५- शिशुपालवध, ६।४६, १२।४३

६- कुमारपालचरित, ५।६६-७०

६- हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास।

ही कम संख्या में है, जो भी उपलब्ध है वे गीतिकाव्य की श्रेणी में आते हैं। हाँ, गाथा-सप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरशतक और सुभाषित कोशों में ऐसे फुटकर श्लोक बड़ी संख्या में पाये जाते हैं जिन्हें विरहगीत की संज्ञा दी जा सकती है। विक्रमोर्वशीय के चौथे अंक के समस्त प्राकृतपद्यों को 'विरहगीत' कहने में हमें कोई संकोच नहीं है। किन्तु संस्कृत में विरहगीत लिखने की सुदृढ़ परम्परा कृष्णलीला के साथ प्रारम्भ होती है। इस प्रसंग में कदाचित् दीमन्द्र के दशावतारवर्णन का यह उल्लेख कि 'जब गौविन्द मथुरा को चले गये तो वियोगविदिग्धाप्तहृदया गोपियों गोदावरीकुंजों में उनका गुणगान करने लगी' प्रथम साहित्यिक साक्ष्य है। उन्होंने किसी लोकगीत की धुन पर ही अपना यह गीत लिखा है --

ललितविलासकलासुखसेल -

ललालोभशोभयौवन -

मानितनवमदने ।

बलिकुलकीकिलुचल्यकज्जल-

कालकलिनन्द सुताविगलज्जल-

कालियकुलदमने ।

केशकिशोरमहासुरमारण -

दारुणगोकुलदुरितविदारण-

गोवर्धनहरणी ।

कस्य न नयनयुगं रतिसजे

मज्जति मनस्वितरल्लरंगे -

वरमणीरमणी ॥

आगे चलकर जयदेव ने भी अनेक देशी रागों की धुनों पर गीत-गौविन्द की रचना की। उनकी विरहिणीराधा इस प्रकार विलाय करती है -

कथितसम्यैऽपि हरिरहह न ययौ वनम् ।

मम विफलमेतदनुरूप मपि यौवनम् ॥

यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनं चिता ॥

यदनुगमनाय निशि गल्लमपि शीलितम् ।

तेन मम हृदय मन्दमसमशरकीलितम् ॥  
 यामि हे कमिह शरणं - - - - - ॥  
 मम मरणमेव वरमिति विपथ्येक्षता ।  
 किमिति विषहामि विरहानलमचेतना ॥ यामि० - - -  
 मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी ।  
 कापि हरिस्तुभ्रति कृतकामिनी ॥ यामि० -  
 वहह कलियामि वलयादिमणिमूषणम् ।  
 हरि विरहदहनवह्नीन बहुदूषणम् ॥ यामि० --  
 कुसुमसुकुमार तनुमनुशरलीलया ।  
 प्रगपि हृदि हन्ति मामपि विषमशीलया ॥ यामि० - -  
 बहमपि न्विसामि नगणितवनवेतसा ।  
 स्मरति मधुसूदनां मामपि न चेतसा ॥ यामि०- - १

यह अष्टपदी गौळ्मालवराग की तर्ज पर रचित है। आगे का दूसरा गीत जिसमें विरही-त्कण्ठिता राधा कृष्ण के साथ अन्य किसी प्रेयसी के रमण की आशंका व्यक्त करती है, बसन्तराग में निबद्ध है। विद्वानों का अनुमान है कि ज्ञानेश्वर और जयदेव के ये गीत निश्चय ही तत्कालीन लोकगीतों के अनुकरण और देशीरागों की धुन पर लिखे गये हैं।

### पाले के गीत -

पाले के गीत उतने ही प्राचीन हैं जितना कि माँ का बच्चे के प्रति दुलार। बच्चा जब निंदासा होता है तो माँ कुछ गुनगुनाती हुयी उसे थपकियाँ देकर सुलाती है। इस गुनगुनाने में संगीत की एक मधुरलय होती है जिसकी सुखद अनुभूति से बालक नींद की गोद में सो जाता है और माँ को भी एक विशेष प्रकार के वात्सल्य की अनुभूति होती है। वास्तव में यह गुनगुनाना ही 'वास्तविक लोरी' है। किन्तु जब बच्चा कुछ थोड़ा सा पहचानने और समझने की कोशिश करने लगता है तो इन लोरियों में कुछ सार्थक निरर्थक शब्दों का समावेश होने लगता है। ये →

१- गीतगोविन्द, १३।७

२- वही, १४।७

२- द्वैदी, हजारी प्रसाद, वही पृ० ११६-१७

ही लौरियाँ लोक साहित्य मानी जाती हैं। इनकी उपयोगिता से प्रभावित होकर लोकमि लोककवि भी इनकी रक्षा करने लगते हैं और फिर उनका अनुकरण कर शिष्टकवि भी इस रक्षा में प्रवृत्त होने लगते हैं।

संस्कृत साहित्य में लौरियों का प्राचीनतम उदाहरण महाभारत के मदालसा-उपाख्यान के अन्तर्गत पाया जाता है। मदालसा राते बच्चे को सुलाते समय उसे सम्बोधित कर गाती है --

त्वमसि ताता ! शुद्ध, बुद्ध ! निरंजन !  
 भवमायावर्जित ज्ञाता ।  
 भवस्वप्नं च मोहनिद्रां त्वं  
 मदालसाह सुतं माता ॥

०            ०            ०            ०  
 नामविमुक्त शुद्धोऽसि रे सुत  
 मया कल्पितं त्वं नाम ।  
 न ते शरीरं न चास्य त्वमसि,  
 किं रोदिषि त्वं सुखधाम ॥

॥            ०            ०  
 विमलविज्ञानविज्ञेस्वरव्यापक  
 सत्य ब्रह्म त्वमसि ज्ञाता ।  
 प्राह मदालसा हलकसुतं प्रति  
 शास्त्रप्रसिद्धा वरमाता ॥

उपर्युक्त श्लोकों में अद्वैतवेदान्त के गूढ़ तत्त्वों का वर्णन देख कर भले ही उन्हें लोरी की अपेक्षा दार्शनिक रक्षा माना जाय, किन्तु इनमें संगीतात्मक लय, तुकान्तता और विदुषीमाता का पुत्र के प्रति सम्बोधन के भाव को देख कर 'लौरी' कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिये।

संस्कृत के वरेण्यसाहित्य में वात्सल्य इस और बालवर्णन कृष्णमक्ति आन्दोलन की देन है। श्रीमद्भागवत में इस प्रकार का साहित्य प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है। आनन्दकन्दचम्पू, गोपाल चम्पू और विवृन्दावनचम्पू में भी ऐसी सामग्री उपलब्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि बाल-साहित्य के प्रणयन में कृष्णमक्ति वैष्णवमक्ति वैष्णवकवियों का एकाधिकार रहा है।

भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्य की उत्पत्ति सार्वजनिक मनोरंजन के लिये सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के द्वारा की गयी। नाट्य के प्रथम प्रयोग का भारत ने इसके प्रयोग की सामग्री देवभगन्धर्व, यदा, राजास, घनग-- सभी से ग्रहण की थी और इसका प्रयोग भी अपने उन सौ पुत्रों (शिष्यों) की सहायता से किया था जो विभिन्न देशों, धर्मों और जातियों के थे।<sup>१</sup> जर्मन् विद्वान् विशेल ने नाट्योद्भव का सम्बन्ध कठपुतलियों के खेल से, प्रो० रिजवे ने क्रायानाटकों से और सिल्वॉ ल्वी, मैक्सम्यूलर आदि ने कृतृत्वों से जोड़ा है। इनमें से किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार कीजिए-- उसके मूल में लोक मनोरंजन की प्रवृत्ति स्पष्टतया परिलक्षित होती है। भारत द्वारा नाटक को लोकानुकृति घोषित करना भी इसी तथ्य को उद्घाटित करता है। और यह बात किसी से छिपी नहीं है कि नकल (अनुकरण) करना भी मनोरंजन का एक सर्वसुलभ उपाय है। "वस्तुतः मनोरंजन की दृष्टि से नाटक का प्रचार सदैव बना रहा है। भारत के नाट्यशास्त्र की गठन और विभिन्न विधियों की योजना यह बताती है कि भारत के पूर्व भारत में नाटकों की परम्परा सभी वर्गों में काफी अच्छे ढंग से प्रचलित रही होगी। भारत ने उनका अध्ययन कर सुव्यवस्थित शास्त्र का निर्माण किया जिससे कि लोक प्रचलित मनोरंजन की स्वच्छन्दता और बिखरी हुई पद्धतियाँ में सुधार होकर एक सूत्रबद्धता आ सके।"<sup>२</sup> भारत ने नाट्य की जिन लोकधर्मी प्रवृत्तियों का निरूपण किया है वे निश्चय ही लोकधर्मी नाट्यपरम्परा की ओर संकेत करती हैं। किन्तु यह हमारा दुर्भाग्य ही समझिये कि लोकधर्मी परम्परा के नाट्य का सुनिश्चित उदाहरण संस्कृत नाट्य साहित्य में उपलब्ध नहीं है। दशरूपकों और उपरूपकों की परम्परा के विश्लेषण से प्राचीन लोकनाट्य के घुंघरे इतिहास पर कुछ —→

१- ना०शा०, १।११-१२

२- वही, १।६२-६३

३- विशेष विवरण के लिये देखिए--ना०शा० १।२६-४० पर "प्रसाद हिन्दी व्याख्या"  
लेखक--सत्यप्रकाश शर्मा, प्रकाशक--बौद्धिमा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

४- तुलसीय नाट्यं भिन्नरूपैर्नस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ---- मालवि, १।४

५- श्यामपरमार, लोकधर्मीनाट्यपरम्परा, पृ० ३

६- भारत ने लोकधर्मी नाट्य की परिभाषा इस प्रकार दी है --

स्वभावभावोपवर्तं शुद्धं तु प्रकृतं तथा। लोकवातांक्रियोपक्रमंगली लाविवर्जितम् ॥

स्वभावामिनयोपेतं नानास्त्री पुरुषात्रयम्। यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु स्मृता ॥

प्रकाश पढ़ सकता है। वैसे तो मास, अश्वघोष कालिदास, भवभूति, हर्ष आदि के नाटक लोककथानकों पर ही लिखे गये हैं किन्तु उनका रूप-सन्धान नाट्यशास्त्रीय है।

यद्यपि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में रूपक के दशभेदों की ही चर्चा की है<sup>१</sup>

उपरूपकों का कोई उल्लेख नहीं किया किन्तु आगे चल कर यह संख्या अग्निपुराण में २७, शृंगारप्रकाश में २४ तक पहुँच गयी है। क्यों ? उत्तर स्पष्ट है। लोक में प्रचलित नृत्य-गीतयुक्त अभिनेय मनोरंजनों को संस्कृत के काव्यशास्त्री समय-समय पर काव्यशास्त्र में स्थान देते रहे हैं।

केवल नाटक को छोड़कर - शेष सम्पूर्ण दृश्यकाव्यसाहित्य लोक धर्मी परम्परा पर आधारित है। रूपक-उपरूपकों के विवेचनात्मक परिचय से यह तथ्य भली-भाँति प्रमाणित हो जायेगा।

प्रकरण -- भरतमुनि के अनुसार प्रकरण का कथानक और नायक कविकल्पित अथवा अनार्थ अर्थात् वृहत्कथा आदि से गृहीत होता है। इसमें विप्र, वणिक्, सच्चि, पुरोहित, अमात्य, सार्थसाह के अनेकविध चरित्र का वर्णन होता है। इसका नायक उदात्तगोत्र नही होता। दिव्यचरित और राज-बिलासों का भी इसमें सर्वथा अभाव होता है। यही नहीं, राजा के अन्तःपुर से सम्बन्धित कुंजुकी आदि निम्नवर्गीय पात्रों को भी इसमें स्थान नहीं है। दास, विट, चेट, वैश्याअथवा निम्नकुल में उत्पन्न स्त्रियाँ ही इसके प्रमुख पात्र होते हैं। अब बताइये प्रकरण के लोकधर्मी नाट्य होने में क्या सन्देह रह जाता है ? संस्कृत का प्रसिद्ध रूपक मृच्छकटिक प्रकरण है। इसका कथानक तो सर्वथा लोकाश्रित है ही, इसमें विभिन्न प्राकृती का प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है। डा० नैमिचन्द्रशास्त्री का तो अनुमान है कि मृच्छकटिक मूलतः प्राकृतभाषा में ही लिखा गया होगा फिर धीरे-धीरे संस्कृत ढाया के व्यवहार की वृद्धि के साथ-साथ मिश्रित भाषा में कर दिया गया होगा।

१- ना०शा०, २०। २-३

२- द्रष्टव्य, अग्निपु०, ३३८। १-४, शृ०प्र०, पृ० ५३४।

३- ना०शा०, २०। ४६-५५

४- शास्त्री, नैमिचन्द्र, प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४०५

सम्वकार - देवासुरसंग्राम से सम्बन्धित कथानक वाले इस रूपक में बारह नायक होते हैं ।

आँधी-तूफान, अग्निदाह, युद्ध, घेराव के दृश्यों का समायोजन इसकी विशेषता है । तीन प्रकार के शृंगार और तीन ही अंकों वाला यह रूपक १८ नाटिका (घड़ी) अर्थात् लगभग साढ़े तीन घण्टे तक खूले मंच पर खेला जाता था । यद्यपि खूले मंच पर सम्वकार खेले जाने का उल्लेख किसी नाट्यशास्त्रीयग्रन्थ में नहीं मिलता किन्तु भारत ने इन्द्रध्वजोत्सव के अवसर<sup>पर</sup> जिस महेन्द्रविजय रूपक का सर्वप्रथम अभिनय किया था, वह सम्वकार ही था और उस समय तक नाट्यशाला के निर्माण की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी । नाट्यशाला के निर्माण के बाद भी भारत ने रंगमंच पर अमृत मन्थन सम्वकार और त्रिपुरदाह छिम्को अभिनीत किया था । इससे पौराणिक लोकनाट्यों की परम्परा की प्राचीनता और उसकी महत्त्व मलीमांतिप्रमाणित हो जाती है । पतञ्जलिद्वारा स्मृत बलिबन्ध और कंसवध नाटक भी मूलतः सम्वकार ही रहे होंगे । सागरनन्दी ने सम्वकार के उदाहरण में शक्रानन्द का उल्लेख किया है । आज कल गाँवों में नाट्यमण्डलियों द्वारा खेले जाने वाले मेघनादवध अहिरावणवध आदि नाटक सम्वकार की ही श्रेणी में आते हैं, हालाँकि ये नाटक रामलीला आदि बड़े-बड़े नाटकों के अंशमात्र हैं, किन्तु जिस दिन जिस अंश का अभिनय किया जाता है उस दिन के नाटक को उसी नाम से अभिहित किया जाता है, जैसे रामलीलाकी पृथक्-पृथक् दिनों की लीला को<sup>दशरथ</sup> मरण की लीला कुम्भकर्णवध की लीला आदि नामों से जाना जाता है । हा० श्यामपरमार ने भी सम्वकार को लोकशैली नाट्यरूपक माना है ।

व्यायोग - यह पुरुषप्रधान एकांकी रूपक है जिसका कथानक पौराणिक अथवा ऐतिहासिक अथवा ऐतिहासिक होता है और नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है<sup>४</sup> । अभिनव का अभिमत है कि युद्ध में पुरुषों के नियुक्त होने के कारण इसे व्यायोग कहा जाता है । यह दीप्त-रस-युक्त नाट्यमेद --->

१- ना० शा०, २०।६६-६७

२- द्रष्टव्य, ना०शा० १।५७-५८

४- यह साहित्यदर्पणकार का मत है । अभिनव के अनुसार देवता, कृष्ण या राजा व्यायोग का नायक नहीं होना चाहिये । भारत ने भी इसका निषेध किया है ( ना०शा० २०।६६)

३- द्रष्टव्य-- श्याम परमार, लोकशैली नाट्यपरम्परा, पृ० ७



व्यायाम भी कहा गया है। सागरनन्दी के अनुसार इसका कथानक 'कृषिकन्या - तापसपरिणययुत' होता है जिससे यह अनुभूत है कि किसी युग में व्यायोग में तापस कन्याओं के परिणय-चित्र अंकित किये जाते होंगे किन्तु ऐसे उदाहरण आज उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, कुछ व्यायोगों में युद्ध का कारण 'स्त्री' <sup>अवस्था है भक्त एवं आभेन के बिना के</sup> आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि प्रारम्भ में व्यायोग लोकधर्मी ही रहा होगा किन्तु कालान्तर में व्यायोग के लेखकों के महाभारत की ओर आकर्षित हो जाने पर उसकी लौकिकता दूर होती चली गयी।

हिम - इसकी कथावस्तु लोकप्रसिद्ध होती है। शृंगार और हास्य रस का अभाव, देव, असुर, राक्षस, भूत, यक्षा, नाग, पुराणा पात्र, सोलह नायक; युद्ध, नियुद्ध, प्रहरण, सफेद इन्द्रजाल आदि के दृश्यों की इसमें समायोजना की जाती है। सागरनन्दी ने तारकोद्वरण और वृत्रोद्वरण हिम के उदाहरण दिये हैं। नाट्यशास्त्र में त्रिपुरदाह हिम का उल्लेख मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिम मूलतः उन पर्वतीय द्रविड़ों या अनायों का लोकनाट्य रहा होगा जिनके शिव आराध्य देव थे। आर्य धर्म में शिव का आगमन अनाय सस्कृति के सम्पर्क के परिणामस्वरूप हुआ है और भारत का यह सन्दर्भ बड़े महत्व का है कि हिम का प्रथम प्रयोग शिव के समक्ष उन्हीं के त्रिपुर दाहकार्य की प्रशंसा में हिमालय की कन्दरा में सम्पन्न हुआ। <sup>५</sup> शिवको प्रसन्न करने के लिये इसका आयोजन किया गया था। इससे पूर्व भरत दो बार सम्प्रकार का प्रयोग कर चुके थे। उक्त दोनों सम्प्रकारों में क्रमशः इन्द्र और विष्णु के पराक्रमों का ही वर्णन रहा होगा इससे स्पष्ट है --- >

१- ननु कस्मादयं व्यायोगः? इत्याह। युद्ध नियुद्धेति। व्यायामे यदुप्राये नियुज्यन्ते पुराणा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थः। संघर्षेति। शौर्य- विद्याकलरूपादिकृता स्पर्धा। दीप्ति का व्यमोजोगुणयुक्तम्। दीप्तिरसाधाः वीररात्रादयाः। तदुभययोनिः कारणमस्य ॥ - ना०शा० २०।६६ पर अभिनवभारती।

२- नाटकलक्षणरत्नकोश (सम्पा०-बाबूलाल शुक्ल शास्त्री), पृ० २६५

३- व्यायोगपटल के परिशीलन से प्रतीत होता है कि इनके रचयिताओं को दीप्तिरसयुक्त रूपकों के लिये उपयुक्त सामग्री महाभारत से ही मिल सकी है। इस प्रकार की अधिकांश कृतियाँ महाभारत पर ही आधारित हैं। -- शर्मा, बीरबाला, संस्कृत में एकांकी रूपक, पृ० १८३

४- ना०शा०, २०।८८-६२

५- वही, ४।१०

कि छिम् का प्रारम्भिक सम्बन्ध शिवपूजा से रहा है और आयीं के उसका प्रचलन भी शिवपूजा के सम्बन्ध साथ ही प्रारम्भ हुआ। स्वयं 'छिम्' शब्द की प्रकृति संस्कृत नहीं लगती। वह किसी देशी भाषा का शब्द प्रतीत होता है जो अपने अर्थविशेष के कारण संस्कृत में अपना लिया गया है।

वीथी - इस एकांकी रूपक का कथानक भाषा के समान कविकल्पित होता है। इसमें एक, दो या तीन पात्र होते हैं तथा तेरह वीथ्यों (लास्यांगों) का समायोजन रहता है, यद्यपि कौहल के मत में यह आवश्यक नहीं है। इन तेरह अंकों में से नालिका (प्रश्नात्मक पहेली), असत्प्रलाप, अधिबल, हल, व्याहार, गण्ड और प्रपंच वीथी को लोकधर्मी नाट्य के समीप पहुँचा देते हैं।

तेलुगू में 'विधि या विधि भागवतम्' नामक एक लोकनाट्य प्रचलित है। इसी का दूसरा नाम 'यदागान' भी है जो आन्ध्र, तमिल और कर्नाटक की क्षेत्रीय विशेषताओं से सम्पन्न है। 'यदागान' नाटक के लिये प्राकृतनाटक शब्द का दूसरा प्रयोग उपलब्ध है। प्रतीत होता है कि यह अवश्य ही ऐसा नाटक रहा है जिसमें संस्कृत की रुढ़ परम्परा का निर्वाह नहीं होता था और जो लोगों के अधिक निकट था। ११ वीं एवं १२ वीं शताब्दी के जैनग्रन्थों में यदागान नाटक को देशी गीत (लोकगीत या ग्रामगीत) कहा गया है। विधिनाटक वस्तुतः यदागान का एक भेद है जो यदागान की तुलना में ग्रामीण अधिक है। इसका शाब्दिक अर्थ है-- वह नाटक जो मार्ग में प्रदर्शित हो। इसमें एक या दो पात्र ही मंच पर आते हैं। संस्कृत 'वीथी' शब्द का भी अर्थ 'मार्ग' है। इसमें भी एक या दो पात्रों की बात भारत ने कही है। यह भी तथ्य ध्यातव्य है कि वीथी साहित्य की रक्षा प्रायः दक्षिण भारत में ही हुई। अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृत में वीथी की परम्परा तेलुगू के 'विधि' लोकनाट्य से आई होगी। डा० नैमिचन्द्र शास्त्री ने भी वीथी को मूलतः प्राकृत की रक्षा माना है।

१- ना०शा० २०। ११६

२- नाटक लक्षणरत्नकोश, पृ० २७७

३- द्रष्टव्य-- भाव प्रकाशन, अष्टम्वधिकार में तत्सम्बन्धी कौहलकामत।

४- श्यामपरमार, लोकधर्मी नाट्यपरम्परा, पृ० ७२

५- वही, पृ० ७३

६- शास्त्री, नैमिचन्द्र, वही, पृ० ४०५

ईहामृग- कश्मिरी वृत्ति से रचित चार अंकों के इस नाटक में किसी प्रख्यात नायक का दिव्यस्त्री प्राप्त करने के लिये युद्ध का प्रदर्शन प्रमुख घटना होती है। बेसमझी लिये हुये अन्य छः रस होते हैं। सागरनन्दी ने उर्वशीमर्दन और कुन्दशेखर इसके उदाहरण दिये हैं। हमारी दृष्टि में कोई ऐसा लोकनाट्य नहीं आ सका जिसकी तुलना ईहामृग से की जा सके। यह तो सर्वविदित है कि परीबों(अप्सरसों) और नागकन्याओं का मनुष्य के प्रति आकर्षण और मनुष्य का उन्हें प्राप्त करने के उद्योग से सम्बन्धित लोककहानियाँ भारत वर्ष में अति प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। उन्हीं कहानियों में गेय तथा अभिनेय सत्त्वों के संक्रमण से ईहामृग का उद्भव हुआ होगा।

अंक - अंक की कथावस्तु प्रख्यात अथवा कभी-कभी उत्पाद्य होती है। इसमें दिव्यपात्रों का स्वीया अभाव, युद्ध और उद्धत चेष्टाओं का साहित्य और अनेक प्रकार की व्याकुलताओं के साथ स्त्रियों का लम्बा विलाप अंकित होता है। विश्वनाथ ने इसका उदाहरण शर्मिष्ठा ययाति दिया है। इसका भी सम्बन्ध हम किसी लोकनाट्य से नहीं जोड़ पाये।

भाण - इस संकाकी नाटक में एक ही पात्र दूसरे व्यक्तियों के शब्दों को आत्मकथन के रूप में बीच में जोड़ते हुये अभिनय करता है। यह विट या घूर्तचरित सम्बन्धी किसी कल्पित कथावस्तु पर आधारित होता है। इसमें लास्य के दस अंकों और वाचिकामिनय प्रधान मारती वृत्ति का प्रयोग तथा एक ही दिन के वृत्तान्त का वर्णन रहता है।

भाण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। मण् घातु से भावार्थक ध् प्रत्यय लगाने पर 'भाण' का अर्थ 'कथन', कारण में ध् मानने पर 'जिसके माध्यम से कथन की-नकल-कस्ने-क किया जाय' और भाणि घातु से निष्पन्न मानने पर 'कथन की नकल करने वाला' होगा। इस प्रकार 'भाण्ड' (भाँड़) द्वारा किसी दूसरे के कथन की नकल भाण कही जायेगी। पाश्चात्य विद्वान् स्टेन कौनी ने जनसाधारण में प्रचलित नके नकलों से इसका सम्बन्ध जोड़ा है। →

जर्मन् विद्वान् रोसेन के अनुसार लोकप्रिय भाषा में सामान्य लोगों के चरित्र का चित्रण करने वाले ये भाषा काव्यपद्धति में कोर्ट-हमीटेज़न है<sup>१</sup>। आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टरूप से बताया है कि भाषा की रक्षा जनसाधारण के लिये हुआ करती है। नाट्यदर्पणकार में भी भाषा को लोकानुरजक कहा है<sup>२</sup>। डा० श्रीनिवास मिश्र ने भी इसे जनता के लिये लिखा गया साहित्य माना है<sup>३</sup>। डा० वीरबाला शर्मा ने भी लिखा है कि “जनसमाज में प्रचलित स्वांग के कतिपय रूपों में भाण्ड नामक लोक नाटक ग्रामीण जनता के मनोरंजन का प्रमुख साधन है। बहुत से विद्वान् भाण्ड को संस्कृत भाषा का ही रूपान्तर मानते हैं<sup>४</sup>।” किन्तु हमारे विचार से भाण्ड संस्कृत भाषा का रूपान्तर नहीं, अपितु स्वयं संस्कृत का भाषा शब्द ‘भाण्ड’ का रूपान्तर होना चाहिए। ‘भाण्ड’ पात्र बहुत प्राचीन है। भरतमुनि ने स्वाति नामक भाण्ड का उल्लेख (ना०शा० १।५०, ५२) किया है। यही भाण्ड शब्द माँड़ > माण्ड > भाण के रूप में संस्कृत में पहुँच गया प्रतीत होता है। डा० नैमिचन्द्र शास्त्री तो धूर्त और विट पात्रों के कारण इसका मूलरूप प्राकृत ही मानते हैं<sup>५</sup>।

**प्रहसन--** प्रहसन भाषा की कोटि का ही एकांकी रूपक है जो अपनी स्वरूपगत विशेषताओं के कारण भाषा से प्राचीनतर प्रतीत होता है। शुद्ध और संकीर्ण भेद से यह दो प्रकार का माना गया है। शुद्ध प्रहसन में परिव्राजक, ब्राह्मण, तपस्वी जैसे उत्तम पात्रों और संकीर्ण प्रहसनों में वैश्या, विट, नपुंसक दास आदि निम्नवर्गीय पात्रों का हास्यपूर्ण अभिनय अंकित रहता है। नलकुट्ट के अनुसार इसमें आरम्भी वृत्ति का अभाव रहता है।

1. The monologues (bhamas) and the farcial comedies, that we possess, are probably just court-imitations in the Kavya-style and in Sanskrit, of popular models in popular dialects ----- Fr. Rosen, Die Indrasabha des Amanat, P.4. From :- Winternitze's History of Indian Literature Vol.III, Part I, Page 292.

२- सकलसामान्यपृथग्जनोपयोऽयत्र लोकव्यवहारो वै श्याविटादिवृत्तान्तात्मा निरूप्यत इति ।  
बाहुल्येन पृथग्जनव्युत्पत्त्युपयोगिरूपकमिदम् ।।-

३- ना०दर्पण, ८१

काव्या० ३।८ पर विवेक ।

४- द्रष्टव्य-मिश्र, श्रीनिवास, संस्कृतसा० में भाषा (आगरा वि० वि० का अप्रकाशित शोधप्रबन्ध)

५- डा० वीरबाला शर्मा, पूर्वाद्धृतग्रन्थ, पृ० ३२

६- शास्त्री, नैमिचन्द्र, वही, पृ० ४०५

७- नाटकल०, पृ० २७६

प्रहसन जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, हास्यपूर्ण रक्ता है। इसमें ब्राह्मण, तपस्वी, वैश्या, चैटी, दास आदि के कार्यों का मजाक उड़ाया जाता है। इनकी भाषा में अशिष्ट एवं ग्राम्य प्रयोगों की अधिकता है। इनका उद्देश्य दर्शकों को येन-येन-प्रकारेण हँसाना होता है। अतः प्रहसक भी भाण की तरह लीकनाट्य रहा होगा। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री तो प्रहसन को भी मूलतः प्राकृत की रक्ता मानने के पक्ष में हैं।

उपलक्षक- हेमचन्द्र ने गेयरूपकों की जो परिगणना की है, उससे यह स्पष्ट है कि नृत्य एवं गीत पर आश्रित रूपकों को उपलक्षक कहा जाता था। इन उपलक्षकों को संस्कृत के वरेण्य साहित्य में कब स्थान मिला, इस विवादास्पद प्रश्न को सुलझाने के लिये हमें उपलक्षकों के इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी। नाट्यशास्त्र में बहुत थोड़े उपलक्षकों का नामनिर्देशमात्र मिलता है। दशरूपक और अम्बुपुराण में यद्यपि उपलक्षकों के बहुत से नाम मिलते हैं किन्तु उनके विशेषालङ्कार और उदाहरणों का अभाव यह प्रमाणित करता है कि इन्हें साहित्य में स्थान प्राप्त न था। अभिनवभारती में भी ढोम्बिका, भाण, प्रस्नान, णिद्गक, माणिका प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीशक और रासक उपलक्षकों का नामोल्लेखमात्र हुआ। मौज, हेमचन्द्र, शारदात्मज, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र और विश्वनाथ के ग्रन्थों में उपलक्षकों का सोदाहरण विवेचन पाया जाता है। इससे इस अनुमान की सहज पुष्टि हो जाती है कि १०वीं शताब्दी से पूर्व नृत्य-गेयात्मक रूपकों का भारत में पूर्ण विकास नहीं हो पाया था, वे लोकनृत्य किंवा लोकनाट्य के रूप में जनसाधारण के बीच प्रचलित थे। उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता ने ही संस्कृत के विद्वानों को —→

१- शास्त्री, नेमिचन्द्र, वही, पृ० ४०५

२- द्रष्टव्य ना०शा०, बीस्वां अध्याय।

३- द्रष्टव्य-- दशरूपक १।११ पर धनिक

४- अम्बि०, अध्याय ३३८, श्लोक १-४

५- ना०शा० भाग १ चतुर्थ अध्याय, पृ० १८१ (गा०औ०सी० संस्करण)।

अपनी ओर बलार्थ आकृष्ट किया। “रूपक और उपरूपकों में आये हुये कुछ शब्द इस बात का ध्यान करते हैं कि इन भेद-प्रभेदों में कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनका संस्कृत रूप नहीं दिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यो कह सकते हैं ये शब्द संस्कृतभाषा के नहीं हैं। ऐसी भाषा के हैं, समाज में इनका व्यवहार नृत्य, गान और अभिनय के शबलितरूप में होता था, अतः ये शब्द अपने अर्थविशेष के कारण संस्कृत के परिणामाधिक शब्द बन गए। इस प्रकार की शब्दावली में डौम्बी, हल्लीशक, सट्टक और रासक शब्द आते हैं।<sup>१</sup> किन्तु हमारे विचार से और भी ऐसे अनेक उपरूपक हैं जिनका मूल लोकनाट्य ही माना जा सकता है, यह आगे के विवेचन में स्पष्ट हो जायेगा।

डौम्बी या डौम्बिका -- काव्यशास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार डौम्बिका राजाओं की चापलूसी और प्रच्छन्न अनुराग भरी उक्तियाँ से युक्त मसृण अर्थात् सुकुमार गेय रूपक है।<sup>२</sup> हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से इसे डौम्बिका का नृत्य माना है। प्राचीन भारत में डौम्ब एक जाति थी जो चाण्डाल के समान ही अस्पृश्य थी। कल्हण ने राजतरंगिणी में रंगनामक डौम्ब गायक का उल्लेख किया है जिसने कश्मीरनरेश चक्रवर्ती की सभा में अपनी दो पुत्रियाँ हँसी और नागलता का विशिष्टरागभरा नृत्य प्रदर्शित किया था। आगे चल कर कल्हण ने इन कन्याओं को स्वपाकी कहा है।<sup>३</sup> इन डौम्बकन्याओं ने जिस गीत का गान किया था वह राजा के प्रति अनुराग से भरा था, राजा को उनके चंचल हाव-भावों पर इतना मोहित हो गया था कि उसी उनमें से एक को महारानी ही बना लिया। मेरे विचार से जब यही डौम्बिका नृत्य काव्यशास्त्रियों के हाथ में पड़ा तो यह गेयरूपक की श्रेणी में आगया। डौम्बी के स्वरूप पर विचार करते हुए डा० नैमिचन्द्रशास्त्री ने इसे स्वांग से विकसित एवं अभिन्न माना है। वह लिखते हैं कि “मेरा अनुमान — —→

१- शास्त्री, नैमिचन्द्र, वही, पृ० ४१०

२- डौम्बिकासु नरपतिचाटुकप्रधान्यैः प्रवृत्तासु सुकुमारैव शुद्धं रूपम् । - - - तदुक्तं

चिरन्तैः -- कन्नानुरागगर्भाभिरुक्तिनिर्यत्र भूपतैः ।

आवर्ज्यते मत्स्या तु मसृणा डौम्बिका मता ॥

-- अभिवनभारती, जिल्द १, पृ० १८३

३- द्रष्टव्य--काव्या० पृ० १६६ पर--विवेक ।

४- राजतरंगिणी, ५।५५४--३८३

है कि डोम्बी रूपक स्वांग से विकसित हुआ है अथवा स्वांग और डोम्बी एक ही है ।  
उन्होंने अपना यह मत सिद्धकण्हम्पा (वि०की नवींशती) की निम्नलिखित रचना में डोम्बी  
के साथ स्वांग का निर्देश देकर निश्चित किया है --

“ नगर बाहिर डोम्बी तोहारि कुडिया, छह छोह जाह सो ब्रह्म नाडिया ।  
बाली डोम्बि तोए सम करबि सांग, निधिण कणह कपाली जोहलाग ॥ ”  
किन्तु हमारे मत में डोम्बी और स्वांग -- दो विभिन्न विधाएँ हैं । मूलतः यह एक  
जातीय तमाशा रहा होगा जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही भाग लेते थे । जब इस जातीय  
तमाशे ने अन्य वर्गों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया होगा तो यह एक व्यावसायिक खेल  
बन गया होगा और तब इसे अन्य लोकनाट्यों की श्रेणी में खड़ा कर स्वांग नाम दिया  
गया होगा । स्वांग का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, उसमें संगीत भी होता है किन्तु अभिनय  
की प्रधानता होती है । डोम्बी में अभिनय नहीं होता, वह शुद्ध गेयनृत्य है। चूंकि नृत्य  
प्रदाणीय होता है अतः डोम्बी को रूपकों की कतार में सम्मिलित कर लिया गया है  
स्वांग कभी जातीय तमाशा नहीं रहा जबकि डोम्बी स्पष्टतया डोम्बजाति से सम्बन्धित  
है । यह डोम्ब जाति कदाचित् आज की डोम्बजाति ही है । डा० राघवन् ने डोम्बी को तुलना  
दक्षिण भारत में प्रचलित नाच से की है ।<sup>2</sup> —→

१- शास्त्री, नैमिचन्द्र, वही, पृ० ४१०

२- --- That the Dombalika is in the mode of performance more or  
less like the South Indian Nautch.

--- Bhoja's Srinagara Prakasa

P. 568.

रासक, रासकांक और नाट्यरासक-- ये तीनों ही शब्द रास की तीन विधाओं को सूचित करते हैं। रासक कोमल और उद्धत शैलीय है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक युगल (जोड़े) होते हैं। सागरनन्दी के अनुसार इसमें नायिका प्रमुख होती है, धीरोदात्त प्रकृति का नामक होता है, सभी भाषा विभाषाओं का प्रयोग होता है, पाँच पात्र, एक अंक संवादों का उतार चढ़ाव, वीथी के सभी अंगों की योजना और सूत्रधार का अभाव रहता है। जाठ, सोलह या बत्तीस गायिकाएँ पिण्डीबन्ध के अनुसार जो नृत्य (देशी नाच) करती हैं, वह रासकांक है। भोज ने रासक की यही परिभाषा दी है। वसन्तकृत में राजा के प्रति विभिन्न चेष्टाओं से युक्त कामिनियों का नृत्य नाट्यरासक कहा गया है। इसमें दो स्त्रियाँ साथ-साथ कदम बढ़ाती हुई, हाथों से ताली देती हुई नृत्य करती हैं। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इसे ही चर्चरी भी कहा है। विस्तृतः नाट्यरासक और चर्चरी--दो भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य हैं। रास, रासकांक, रासक और नाट्यरासक--ये चारों ही मूलतः रास हैं, इनमें कोई मौलिक भेद नहीं है।

रासक का प्राचीनतम उल्लेख हर्षचरित में मिलता है। वहाँ यह शब्द स्त्रियों के लोकगीतों के अर्थ में आया है। प्राचीन अपभ्रंशकाव्यों - ->

१- काव्यानु०, पृ १६६ पर विवेक

२- नाटकलक्षणरत्नकोष, पृ० ३०५

३- रासकांकश्च कोहलोक्तो नाट्यप्रकारः। उक्तं च -

अष्टौ षोडश द्वात्रिंशत् यत्र नृत्यन्ति गायिकाः।

पिण्डीबन्धानुसारेण तन्मृत्रं रासकं विदुः। राघवन् द्वारा भोजे ज अं०

प्र० पृ० ५६७ पर रत्नाकरकृत हरविजय २७। १०८ पर टीकाकार अलक का कथन उद्धृत।

४- राघवन्, वही, पृ० ५६२

५- कामिनीभिर्भुवो मूर्तश्चेष्टितं युत नृत्यते।

सगाद्वसन्तमासाय स ज्ञेयो नाट्यरासकः।।

चर्चरीति च तामाहुः वर्णतालै तत्र तु। -नाट०, पृ० २१५

६- हर्षचरित्, चतुर्थ उच्छ्वास।



से इस सम्बन्ध में बहुमूल्य जानकारी मिलती है। सप्तद्वीत्रिरास से पता चलता है कि रास खेलें और नीचे जाते थे। इस प्रकार इसमें नृत्य और क्रीड़ा-- दोनों का समावेश था। उसी से इसके दो भेदों-- तालरास और लुटारास का भी पता लगा है। तालरास रात्रि में और लुटारास दिन में खेलें जाते थे। १५वीं से १९वीं शताब्दी तक के जैनग्रन्थों से विदित होता है कि जैन मन्दिरों में उत्सवों के अवसरों पर श्रावक--श्राविकाएँ रास खेलते थे। किसी मांगलिक अवसर पर अथवा गुरुजनों के आगमन पर मार्ग में बीच-बीच में रास खेलें जाते थे। इस लोक नृत्य ने सबसे अधिक कृष्णभक्त कवियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। रास के माध्यम से कृष्ण लोकप्रिय देवता बन गए। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि १५वीं शती के लगभग उत्पन्न संस्कृत काव्यशास्त्री सागरनन्दी ने रासक और नाट्यरासक के उदाहरण क्रमशः मदनिकाकामुक और विलासवती दिए हैं जिनका कृष्णभक्ति से कैसा भी सम्बन्ध नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उत्तरेकाल में रास का दो धाराओं में विकास हुआ---पृथक्, उपरूपक के रूप में शास्त्रीय धारा जो आगे चल कर चरितकाव्यों के रूप में बदल गई और राजपूतों के युग के साथ-साथ समाप्त हो गई, द्वितीय, कृष्णभक्ति आन्दोलन में सम्मिलित होकर 'रासलीला' के रूप में आज भी जीवित है।

हल्लीशक - भास की गवाही पर हम कह सकते हैं कि हल्लीशक अहीरों का जातीय नृत्य था जिसमें कुँवारे लड़के-लड़कियाँ मिल कर भाग लेंते थे। इसमें नृत्य, गीत और वाद्य-साथ - साथ चलते थे। भोज के मत में यह हल्लीशक नृत्य ही तालबन्धविशेष से युक्त होने पर रास - >

१- पीछे तालारस पछ बहुभाट पढंता ।

अह लुटारस जोईह खेला नाचंता ॥ अमरचन्द नहाटा द्वारा प्राचीन काव्यों की रूपरम्परा पृ० ४ पर प्राचीन गुर्जरकाव्यसंग्रह, सप्तद्वीत्रिरास, पृ० ५२ से उद्धृत ।

२- तालारासु वि विंति रयणिहिं ।

दिवसि वि लगडारासु सुहुं पुरिसिहिं ।

वही पर, जिनदत्त सूरि उपदेशरसायन से उद्धृत ।

३- हल्लीशकनृत्य के वर्णन के लिये देखिए-- भास का बालचरित, तीसरा अंक, प्रवेशक का अन्तिम अंश और ९, १० श्लोक ।

कहलाता है -- तदिदं हल्लीसकमेव तालबन्ध विशेषयुक्तं रास एवेत्युच्यते।<sup>१</sup> हेमचन्द्र के अनुसार हेमचन्द्र के अनुसार गोपरिस्त्रियों का मण्डलाकार नृत्य जिसमें एक पुरुष नेता होता है, हल्लीसक कहलाता है। स्पष्ट है कि वर्तमान रासलीला का विकास हल्लीसक से ही हुआ है।

सट्टक-- नाट्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थों में सट्टक को नाटिका के समान बताया गया है, अन्तर केवल इतना है कि सट्टक प्राकृत रक्षा है और उसमें प्रवेशक तथा विष्कम्भक का अभाव रहता है। इस प्रकार मूलतः सट्टक का भी सम्बन्ध नृत्य से स्थापित हो जाता है।<sup>१</sup> डा० ए० एन० उपाध्ये ने सट्टक को द्रविड़ भाषा का शब्द मान कर इसका अर्थ स + वाट्ट ( नाचा ) अर्थात् 'नृत्युक्त नाटकीय प्रदर्शन' किया है।<sup>२</sup> जे० बी० धानल ने सट्टक और तमाशा ( महाराष्ट्र का एक लोकनाट्य ) में कुछ समानताएँ दर्शायी हैं।<sup>३</sup> आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "सट्टक एक प्रकार का नाटक है या लौकिक तमाशा है नाटकी की तरह।" वस्तुतः यह दक्षिण भारत में अति प्राचीनकाल से प्रचलित लोकनाट्य था जिसमें नृत्य एवं गान की प्रधानता थी। डा० नैमिचन्द्रशास्त्री ने इसकी प्राचीनता ईस्वीपूर्व तक स्वीकार की है।<sup>४</sup>

प्रेक्षणाक- मेले-ठेले, चौराहों - चबूतरों पर गलियों में अथवा मन्दिर--धर्मशालाओं में बहुत से पात्रों के द्वारा खेले जाने वाला नाटक प्रेक्षणाक कहा गया है --

रथासमाजवत्परसुरालयादी प्रवर्त्यते बहुभिः ।

पात्रविशेषैर्यत्सु प्रेक्षणाकं कामदह्लादि ॥ (शृंगार प्रकाश )

सागरनन्दी के अनुसार यह 'अशेषभाषापशोमित' होता है। यह बहुत ही प्राचीन लोकप्रचलित नृत्तरूपक है। कामसूत्र में प्रेक्षणाक का --

१- रत्नावली में नटी के वाक्य 'किं पुण णच्चिद्व्वं' की तुलना कर्पूरमंजरी में 'सट्टव्वं णच्चिद्व्वं' वाक्य से की जा सकती है।

२- चन्दलेहा सट्टक--- अंग्रेजी भूमिका, पृ० २६ ।

३- आल इण्डिया औरियन्टल कान्फ्रेंस (१९७६) में प्रस्तुत शोधनिबन्धों की विवरणिका के पृ० ८७ पर जे० बी० धानल का लेख ।

४- द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० १०७

५- शास्त्री, नैमिचन्द्र, वही, पृ० ४३१

सामान्य प्रेक्षकाव्य के अर्थ में प्रयोग मिलता है।<sup>१</sup> भोज और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसका उदाहरण 'कामदह' दिया है। इस 'कामदह' के आधार पर ही डा० राघवन् ने उत्तरभारत के होली पर्व से और तमिल के कामनही गीत से इसका सम्बन्ध जोड़ा है।<sup>२</sup> किन्तु सागरनन्दी ने प्रेक्षाणक का उदाहरण 'बालिबध' दिया है। कौलाथमट्ट का कृष्णाम्युदय प्रेक्षाणक भी हमें प्राप्त है। ये दोनों ही प्रेक्षाणक होलिकोत्सव या कामदह की कथा से सम्बन्धित नहीं हैं। अतः डा० राघवन् का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। डा० वीरबाला शर्मा गुजरात के लोकनाट्य भवाई में प्रेक्षाणक के सभी लक्षण देखती है।<sup>३</sup>

गोष्ठी -- यह भी ग्रामीण स्त्री-पुरुषों द्वारा खेल जाने वाला एक प्रकार का नृत्तरूपक था। गोष्ठ शब्द के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि यह गौप लोगों की नृत्यक्रीड़ा थी। साहित्यदर्पणकार ने स्पष्टरूप से लिखा है कि इसमें पाँच-छः स्त्रियाँ और नौन्दस गैर पुरुष पात्र होते हैं इसमें कौशिकी वृत्ति और कामभृंगार प्रधान होता है।<sup>४</sup> इस प्रकार यह रूपक रास और हल्लीसक की परम्परा में लोकनाट्य का ही एक रूप है।

काव्य -- अभिवगुप्त के काव्यनामक नाट्य की चर्चा की है।<sup>५</sup> उन्होंने इसे राग विशेषण से विभूषित भी किया है। इस आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका स्वरूप आज कल के 'संगीत' (जिस में प्रचलित एक प्रकार का गेयनाट्य) के समान रहा होगा। जयदेव के गीत गोविन्द को इसी प्रकार का रूपक माना जा सकता है।

श्रीगदित -- भोज के अनुसार श्रीगदित की नायिका विरहिली कुलवती स्त्री होती है जो विरह में पति के गुणगान करती हुई फुमिल के लिये आकुल दीखती है। अभिवगुप्त ने कदाचित् इसे ही णिद्गक —→

१- कामसूत्र, १, ४, १५, - १६

२- राघवन्, भोज ज. श्रृं० प्र०, पृ० ५६१

३- वीरबाला शर्मा, संस्कृत में एकांकी रूपक, पृ० ३०८

४- साहित्यदर्पण षष्ठ परिच्छेद

५- अत्रोच्यते -- रागकाव्यादिप्रयोगो नाट्यमेव। अभियोगात् ।

-- अभिवभारती पृ० १७२ (गा०बी०सी०)

कहा है। तमिल के ' कुरवंची ' से इसकी पर्याप्त समानता है । कुरवंची में भी नायिका अपने प्रेमी के लिये व्याकुल रहती है तथा अपने भावों को अपनी किसी सखी के समक्ष प्रकट करती है ।

उपर्युक्त रूपकों-परूपकों के अतिरिक्त नाटिका, भाणी, भाणिका, संलाप, शिल्पक, प्रस्थान, उल्लास्य, दुर्मल्लिका, मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक, कर्ण, नर्तक, विलासिका, रामाक्रीड और प्रकरिणिका उपरूपकों के नाम विभिन्न काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलते हैं । इनमें से नाटिका सट्टक से ही विकसित नाट्यशास्त्रीय रूपक है । भाणी और भाणिका भाण से ही सम्बन्धित उपरूपक हैं । प्रकरिणिका प्रकरण का उपरूपक है । भाण और प्रकरण का विवेक हम पहले ही कर चुके हैं । शेष उपरूपकों के लक्षण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इतने अस्पष्ट हैं कि उनके आधार पर इन उपरूपकों के वास्तविकस्वरूप का ज्ञान नहीं होकर पाता है । इनके उदाहरणस्वरूप जिन ग्रन्थों के नाम लक्षणग्रन्थों में मिलते हैं, वे भी देखने को नहीं मिल सके । अतः इनके सम्बन्ध में हम कुछ कहने में नितान्त असमर्थ हैं ।

कुछ अन्य लोककाव्यात्मक विधायें -

उपरिनिर्दिष्ट कथा, गाथा, गीत, रूपकों-परूपकों के अतिरिक्त भी लोक साहित्य की कुछ ऐसी विधायें हैं जिनका उल्लेख संस्कृत के ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाया जाता है । उनका संक्षिप्त विवरण देना भी प्रसंगानुकूल है ।

चर्वरी - नाट्यदर्पणाकार ने वसन्तकृत में राजा के प्रति हाव-भाव भरे कामिनी-युगल के ताललयाश्रित नृत्य को नाट्यरासक या चर्वरी कहा है । हर्षदेव कीरतावली के प्रथमांक में वसन्तोत्सव के प्रसंग में चर्वरी गान और नृत्य का उल्लेख हुआ +>

१- शास्त्री, नैमिचन्द्र, वही, पृ० ४१२

२- कामिनीमिर्मुने मर्तुश्चेष्टितं युतुनृत्यते ।

रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

चर्वरीति च तामाहुः वर्णतालं यत्र तु ।

प्रविशेत् कामिनीयुग्मं समवायौ दिशिदिशतम् ॥

है। टीकाकार रामचन्द्र मिश्र ने विभिन्न विद्वानों के मतों का संकलन करते हुए 'चर्चरी' शब्द के पाँच अर्थ बताये हैं -- वायविशेषण, गीत भेद, अनेकशब्दसंघात, हर्षाङ्गीडा और करशब्द अर्थात्ताली। रत्नावली के उपर्युक्त वर्णन के संदर्भ में हम निस्संकोच कह सकते हैं कि वहाँ चर्चरी शब्द के एक साथ पाँचों अर्थ अभीष्ट हैं।

चर्चरी लोकसाहित्य की बहुत प्राचीन विधा है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय के चतुर्थार्क में अनेक चर्चरी पदों का उल्लेख हुआ है जो अपभ्रंश भाषा में है।

उपलब्ध साहित्यिक उल्लेखों से हमें चर्चरीविषयक दो महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं-- प्रथम, यह ताल स्वनृत्य के साथ वसन्त (फाल्गुन) में गाई जाती थी और कभी कभी किसी उत्सव या किसी महापुरुष के नगर प्रवेशोत्सव के अवसर पर गायी जाती थी और द्वितीय, इसका स्थान बाजार की सड़कें, गलियाँ थीं<sup>१</sup>। जिनदत्तसूरि कृत चर्चरी के टीकाकार जिनपाल उपाध्याय के अनुसार यह भाषानिबद्ध गान नाच - नाच कर गाया जाता था। लोकगीत होने के कारण इसका कोई विशिष्ट छन्द नहीं रहा होगा क्योंकि विक्रमोर्वशीय के चतुर्थार्क के सभी चर्चरी पदों का एक ही छन्द नहीं है और जिनदत्तसूरिक के चर्चरी ग्रन्थ में भी अनेक छन्दों का प्रयोग मिलता है। कबीरबीजक के चौचरि का छन्द उपर्युक्त- चर्चरी - छन्दों से भिन्न है।

ध्वल - हेमचन्द्र ने छन्दोंऽनुशासन में आठ, छः और चार चरणों वाले श्रीध्वल, यशोध्वल कीर्तिध्वल, गुणध्वल आदि ध्वलों का विस्तृत विवेचन किया है। प्राकृतपैगलम् में इसे कम्पय का एक अवान्तर भेद माना गया है। वस्तुतः यह प्रकार का →

- १- द्रष्टव्य--रत्नावलीक्रीटीका (सम्पादित रामचन्द्र मिश्र) पृ० १८ (चौखम्बा संस्कृत सीरिज १६६६)
- २- जायसी ने भी पद्मवत में हौली के प्रसंग में चौचर का उल्लेख किया है।
- ३- नानाविपणिमार्गेषु गीयमानेषु विविधप्रकार चर्चरी श्रेणिः शतेषु। अगरचन्द नहाटा द्वारा प्राचीनकाव्यों की रूपरम्परा पृ० १३६ पर युगप्रधानाचार्य गुर्वािली से उद्धृत।
- ४- ज्ञेदी, हजारी प्रसाद, वही, पृ० ११६

लोकगीत था जो विवाह, नगर प्रवेश आदि उत्सवों के अवसर सोमाय्यती स्त्रियों के द्वारा गायता जाता था । आगे चल कर जैनकवियों ने ध्वल संज्ञक रक्तारें भी लिखना शुरू कर दिया । संस्कृत विद्वानों ने इसका उल्लेख तो किया है किन्तु संस्कृत में उसके उदाहरण उपलब्ध नहीं है ।

**श्लोक -** श्लोक वैदिक काल से ही एक साहित्यिक विधा माना गया है । ब्राह्मण ग्रन्थों में यह निश्चित रूप से विशिष्ट छन्द का वाची नहीं है क्योंकि वहाँ कई प्रकार के छन्दों को श्लोक कहा गया है । सम्भव है, वैदिककाल में वैदिकेतर भाषा के पद्यों को ही श्लोक कहा गया हो । लौकिक भाषा के प्रथम महाकाव्य रामायण में श्लोक ही प्रधान छन्द है । रामायण में श्लोक की पिंगलशास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार दी हुई है --

पादबद्धो ऽकारसमस्तन्त्रील्यसमाश्रितः ।

शोकार्तस्य प्रवृत्तिं मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १८२ सर्ग ॥

॥ ॥ ॥

समादारेऽचतुर्भिर्धैः पादेर्गीतो महर्षिणा ।

सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ४०१२ सर्ग ॥

लेकिन मध्यकाल में आकर 'श्लोक' एक विशिष्ट लोकसाहित्यिक विधा के रूप में मिलता है जिसे राजस्थान में 'सलोका' कहते हैं । राजपूतकाल में विवाहार्थ वर के ससुराल पहुँचने पर उसका साला वर के बुद्धिपरीक्षा हेतु कुछ सलोका कहता और वह प्रत्युत्तर में अपनी प्रतिभा का परिचय देता । मध्यकालीन संस्कृत कवियों ने इन्हीं लोकप्रचलित सलोकाओं को संस्कृत रूपान्तर कर लिया या फिर कुछ नये श्लोकों की रक्षा की । ऐसी किसी संस्कृत रक्षा की प्राप्ति की सूझा नहाटा जी ने दी है ।<sup>३</sup>

१- विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य-- अमरचन्द नहाटा की उक्त पुस्तक पृ० ६४-७७

२- सूर्यकान्त, वैदिककोश, पृ० ५३०

३- द्रष्टव्य, प्राचीन काव्यों की रूपरम्परा, पृ० १०१ श्री नहाटा जी ने १५ वीं शती

के लगभग लिखित इस पुस्तक का न तो नाम बताया है और न लेखक ही । मैंने भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान बीकानेर को कई पत्र इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने हेतु लिखे किन्तु दुर्भाग्य से मुझे कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ ।

## प्रहेलिका-

पहेली लोकसाहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है किन्तु संस्कृत में इसे साहित्य का उच्चपद प्राप्त नहीं हो सका यद्यपि भोज ने प्रहलिका को श्रव्य काव्य के अन्तर्गत और हेमचन्द्र ने कथाकाव्य के अन्तर्गत गिना है किन्तु प्रहलिका पहेली के समान लेकिन उससे भिन्न साहित्यिक विधा है<sup>२</sup>। और तो और, संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इसे इससे<sup>३</sup> विरोधी घोषित कर अलंकार तक मानने से इन्कार कर दिया<sup>३</sup>। किन्तु फिर भी संस्कृत में पहेलियाँ लिखी जाती रही और अपनी लोकप्रियता की ओर संस्कृत काव्यशास्त्रियों को भी आकृष्ट करती रहीं। रुद्रट ने इसे क्रीडामात्रोपयोगी कहा है। दण्डी ने साथ-साथ 'परव्यामोह' भी प्रहेलिका का प्रयोजन माना है। रुद्रट ने प्रहेलिका के दो भेदों<sup>४</sup> और दण्डी ने १६+ १४ (दुष्ट प्रहेलिका) = ३० भेदों का सौदाहरण परिगणन कराया है।

संस्कृत में पहेलियों की परम्परा बहुत प्राचीन है। वैदिकयुग में इनकी सत्ता का पता चलता है। यजुर्वेद के ब्रह्मोथ प्रकरण में संकलित राजमहिषी और होता के मध्य प्रश्नोत्तरों को इसका प्राचीनतम साहित्यिक रूप माना जा सकता है। वैदिक ब्रह्मोथ शब्द पहेली का ही वाचक था। वैदिकभाषा का 'ब्रह्मोथ' शब्द पहेलियों की उत्पत्ति विषयक जानकारी प्राप्त करने में सहायक है।

१- साहित्यदर्पणकार ने ध्वनिकार के काव्यलक्षण का सङ्ग करते हुए 'प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः' लिख कर यह तथ्य स्पष्ट कर दिया है।

२- प्रहलिका के लिये इस प्रबन्ध के इसी अध्याय के अन्तर्गत 'प्रहलिका' शीर्षक देखिये।

३- रसस्य परिपन्थिस्त्वान्नालंकारः प्रहेलिका । -- का० प्र० ।

४- काव्यालंकार, ५।२४

५- काव्यादर्श, ३।६७

६- काव्यालं०, ५।२५

७- काव्यादर्श, ३।१०६

८- सूर्यकान्त, वैदिककोश, पृ० ३४२

वेद में ब्रह्म शब्द यज्ञ का भी वाचक है-- यह बात डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने प्रबल तर्क एवं प्रमाण प्रस्तुत कर सिद्ध की है । भारत में यज्ञपूजा का प्रचलन वैदिककाल से ही चला आ रहा है । यज्ञ निम्नकोटि के लोकदेवता थे जिनकी पूजा में प्रश्न पूछने की प्रथा थी । आज भी लोक में जब कोई भूत किसी के सिर आता है तो इससे प्रश्नों की फट्टी लगा दी जाती है । महाभारत का यज्ञ-युधिष्ठिर संवाद ऐसी ही यज्ञ-प्रश्नोत्तरी है जिसका संकलन व्यास ने निश्चय ही लोकसाहित्य से किया होगा । ऋग्वेद का ब्रह्मोपनिषद् प्रकरण भी इसी प्रकार का साहित्य है । इस प्रकार पहिलियों का यज्ञप्रश्नोत्तरी के साथ अत्यधिक प्रगाढ़ सम्बन्ध है । महाभारत के यज्ञ-युधिष्ठिर संवाद में पहिली के लिये 'वार्ता' शब्द का प्रयोग मिलता है । ब्रज प्रदेश में आज भी पहिली के अर्थ में ('बात' (संवार्ता) शब्द प्रयुक्त होता है ।

संस्कृत के वर्य्य साहित्य में प्रहेलिकाएँ मुक्तकों के रूप में मिलती हैं। "सुभाषित-रत्नभाण्डागार" में संस्कृत प्रहेलिकाओं का अच्छा संग्रह उपलब्ध है किन्तु एक विस्तृत संग्रह की नितान्त आवश्यकता है ।

### लोकोक्तियाँ -

लोकोक्ति अभिव्यक्ति की दृष्टि से भाषा का महत्वपूर्ण अंग होती है। जो बात सामान्य शब्दों के सहारे कई पृष्ठों में भी नहीं कही जा सकती वह लोकोक्ति के माध्यम से केवल एक-दो पंक्ति में सुगमतापूर्वक कही जा सकती है। इनमें मानव जीवन की चिरसंचित अनुभव राशि और ज्ञानगहरिमा का सार निहित होता है । एक सम्पूर्ण वाक्य के रूप में लोकोक्तियाँ स्वयं सिद्ध होती हैं जिनमें भूतकाल की अनुभूतियों का परिणाम और सिद्धान्त-- दोनों समाविष्ट रहते हैं । लोकोक्ति के इस महत्व को पहचान कर ही संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने लोकोक्ति नामक अलंकार की भी —→

१- अग्रवाल , वासुदेवशरण, प्राचीन भारतीय लौकधर्म, अध्याय १५

२- वही, पृ० १४०



कल्पना कर ली। संस्कृत में इसके लिये लोकोक्ति, लोकवाद, लोकप्रवाद, जनोक्ति और जनवाद शब्दों का प्रचलन पाया जाता है। किन्तु सम्मतः लोकोक्ति के अलंकार मान लिए जाने के कारण 'लोकोक्ति' के अर्थ में संस्कृत के पण्डितों ने सूक्ति और सुभाषित शब्दों को अपना लिया। लेकिन लोकोक्ति और सूक्ति या सुभाषित पार्थक्य स्पष्ट है। सूक्ति की प्रकृति और उससे ध्वनित होने वाले अर्थ में शिष्टमानस स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है जबकि लोकोक्ति में लोकमानस प्रधान होता है। उदाहरण के लिये 'आग्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' या 'पक्ष्मि सति ग्रामे रत्नपरीक्षा' लोकोक्तियाँ हैं किन्तु 'किमिह मधुराणां मण्डमाकृतीनाम्' 'तप्तैतत्तप्तम्यसा घट्नाय योऽयम्' और 'क्षुरागो ऽ नुरागेण परीक्षितव्यः' सूक्तियों की कोटि में आती हैं। इनमें अन्तिम सूक्ति के अन्त में कालिदास ने स्पष्ट रूप से 'इति सुजनवक्त्रं प्रमाणिकुरा' कह कर इसे 'सुजनवक्त्र' कहा है जो निश्चय ही 'लोकवक्त्र' से भिन्न है। संस्कृत का आभाषक शब्द कहावत या लोकोक्ति के भाव को भली भाँति स्पष्ट कर देता है।

संस्कृत में लोकोक्तियाँ और सूक्तियाँ की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में भी बहुजस्य पुत्रस्य सुवाचोऽपि सदाविपत् (सो मामाजों का मांजा भूखा-भूखा फिर), अन्य सुहृज्जनो भ्राता शत्रुभ्राता सहोदे रः (घर का दूर, पड़ोसी पास) जैसी लोकोक्तियाँ और 'न वै स्त्रेणानि संस्थान्येताः' (स्त्रियाँ कभी मित्र नहीं हो सकतीं) जैसी सूक्तियाँ उपलब्ध हैं। संस्कृत के वरेण्ड साहित्य में इनकी संख्या अत्यधिक है। विभिन्न सूक्ति-संग्रहों और सुभाषित ग्रन्थों में इनका प्रशंसनीय संकलन मिलता है।

१- लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति मण्यते ।

२- शृंगारहाट, पृ० १८

३- संस्कृतसूक्तिसागर, ४६६

४- आर्या०, १६७

५- म०भा०, १।२।४५

६- मालवि०, प्रथम अंक में परिब्राजिका का कथन ।

७- अभिज्ञान०, १।१६

८- विक्रमो०, २।१६

९- मालवि०, तृतीय अंक में बकुलावलिका का वाक्य ।

१०-कृ०, १।४।६

११- वही, १।१०५।१७

१२- वही, १०।६५।१५

} X

फिर भी संस्कृत में लोकोक्तिसंग्रह की परम आवश्यकता है क्योंकि अभी तक विद्वानों ने प्रायः सूक्तियों और सुभाषितों का ही संकलन किया है।

### लौकिक न्याय -

संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध विभिन्न लौकिक न्यायों को भी लोकोक्ति का ही एक रूप माना जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि न्याय लोकोक्ति के समान सम्पूर्ण वाक्य न होकर वाक्यांश होता है जिसका वाक्य में प्रयोग उपमान की भाँति होता है और अपने निर्माण की पृष्ठ भूमि में एक इतिहास या घटना को छिपाये रहता है। यह मुहावरे से भी भिन्न प्रकार का होता है। मुहावरे का अर्थ लक्षणा अथवा व्यंजना द्वारा सिद्ध होता है, उसकी मूल शक्ति 'तात्पर्य' होती है। उसका इतिहास से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। वस्तुतः लौकिक न्याय को लोकोक्ति और मुहावरे के बीच रखा जा सकता है। क्योंकि जितना इसका लोकोक्ति से सम्बन्ध है उतना ही मुहावरे से भी। वाक्यविन्यास की दृष्टि से तो यह मुहावरे के ही अधिक समीप है।

संस्कृत में लौकिकन्यायों की लम्बी परम्परा है। कूपतानकन्याय, कुम्भी-धान्यन्याय, काक्तालीयन्याय, अजाकृपाणीयन्याय, दण्डापूपिकान्याय, कूपयन्त्रघटिकान्याय आदि न्यायों का विभिन्न साहित्यिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। कर्त्तल जैकब ने 'लौकिकन्यायजंजलि', नाम से विभिन्न लौकिक न्यायों का संकलन और विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है।

### मुहावरा-

मुहावरा अरबीभाषा का शब्द है जिसका मूल अर्थ है - आपस में बात चीत करना, एक दूसरे को जवाब देना। अंग्रेजी में इसे 'Idiom' कहते हैं जो लैटिन के से का है। आप्ते ने अंग्रेजी-संस्कृत शब्द कोश में 'Idiom' का अर्थ- वाक्यद्विती, वाग्रीति, वाग्व्यवहार, वाक्सम्प्रदाय किया है। किन्तु ये सभी संस्कृत शब्द मुहावरे के यथार्थ अर्थ का बोध नहीं करा पाते। इधर हिन्दी के विद्वानों ने मुहावरा शब्द का हिन्दी अथवा

१- ये सभी न्याय महाभाष्य में उल्लिखित हुए हैं। *Ref.*

२- मृच्छ०, १०।६०

संस्कृत पर्याय ढूँढने का काफी प्रयत्न किया है किन्तु अभी तक कोई ऐसा शब्द नहीं मिल सका जो सर्वमान्य हो ।<sup>2</sup>

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संस्कृत में मुहावरों का अभाव है । जैसा कि हम आगे देखेंगे, संस्कृत में एक से एक जानदार और चटकदार मुहावरों का विशाल भण्डार है जिनकी परम्परा आज भी हमें दाय के रूप में प्राप्त है। वस्तुतः मुहावरों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उस अर्थ को संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने लक्ष्यार्थ माना है । इस प्रकार मुहावरे का रूढ़ि लक्षणा के अन्तर्गत अन्तर्भाव हो जाता है । यही कारण है कि संस्कृत में इसके लिये अन्य शब्द की आवश्यकता नहीं समझी गई ।

संस्कृत मुहावरों के कुछ नमूने प्रस्तुत किये जा रहे हैं --

लोहे की कील तक न छोड़ना = नायः शूक्यपि गृहे नियान्त्यः पर्येषणम्<sup>२</sup> ।  
जले पर नमक छिड़कना - दातेदारं प्रशिदाप्<sup>३</sup> ।  
दिन में दीया बालना - दिवादीप प्रज्वालं क्रियते<sup>४</sup> ।  
आँख लड़ाना - नयसंगतक<sup>५</sup> ।  
बिना चारों के जुगाली करना - आकाशरोमन्थं क्रियते<sup>६</sup> ।  
ऊँट के गले वीणा - करमकण्ठावसक्तां बालकीमिव शोयामि ताम्<sup>७</sup> ।  
बैलभिड़न्त - वृषामविघट्टन<sup>८</sup> ।  
नानी के आगे ननिहाल की बात - किमिदं गोपालकुले तक्रविक्रयं क्रियते<sup>९</sup> ।  
बदमाशों के आगे बदमाशी - क्तिवेष्वपि नाम केत्वम्<sup>१०</sup> ।  
सूजर पर चढ़ कर विष्ठा से परहेज - वराहमारुह्य पुरीषां निषेद्धव्यम्<sup>११</sup> ।  
चीटी की चाल चलना - पिपीलिकाधर्म<sup>१३</sup> ।

१- विशेष विवरण के लिये देखिए- गुप्त, ओमप्रकाशः मुहावरा मीमांसा, भूमिका और, मिश्र रामदहम, हिन्दी मुहावरे, पृ० ५-८ ।

२- राज०, ७।३५७

३- मृ०क०, ५।१८

४- पद्मप्राप्तक, पृ० ८

५- वही, पृ० ८

६- वही, पृ० १०

७- वही, पृ० १६

८- वही, पृ० १८

९- वही, पृ० २२

१०- वही, पृ० २३

११- वही, पृ० २३

१२- मुकुन्दानन्द०, पृ० ४२

१३- धूर्तविट०, पृ० ११५

हाथ उठा कर रोना- ऊर्ध्वहस्तेनाग्नन्वितुम् ।<sup>१</sup>

जान मैं जान जाना- लब्धाः प्राणाः ।

अंधे में नाका - अन्धकारानृत ।<sup>३</sup>

हिन्दी में एक मुहावरा है ' मैं हल में जोतना ' । इस मुहावरे का संस्कृत कवि ने कितनी सुन्दर ढंग से इस श्लोक में प्रयोग किया है --

ये कामिनीं गुणवतीं च सयौवनां च,  
नारीं नराः प्रणयिनीं च विमानयन्ति ।  
तैः भोः कृष्णवल्गवः परिदग्धचित्तै-  
र्गोभिः सर्गपृथुलेषु हलेषु योज्याः<sup>४</sup> ॥

एक और उदाहरण लीजिये, जिसमें कवि ने एक साथ छः मुहावरों का सफल प्रयोग किया है --

अर्प्यरुदितं कृतं श्वशरीरमुद्वर्तितम्,  
स्थलेष्वज्ज्वररोपितं सुचिरभूषारे वर्णितम् ।  
अपुच्छमवनामितं बधिरकण्ठजायः कृतः,  
धृतान्धमुखदर्पणो यद्वधोजनस्सेवितः<sup>५</sup> ॥

संस्कृत मुहावरों का एक वृहत् संकलन भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में है । इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत में लोकोक्ति, सूक्तियाँ, लौकिकन्यायों और मुहावरों का विशाल भण्डार है जिसका स्वतंत्र एवं शोधपूर्ण अध्ययन नितान्त अपेक्षित है ।

यहाँ तक हमने संस्कृतसाहित्य में स्वीकृत, उल्लिखित अथवा प्रयुक्त लोकसाहित्य की विभिन्न विधायों का विवरण प्रस्तुत किया। इस विवरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट

१- वही, पृ० ७४

२- वही, पृ० ७५

३- वही, पृ० १०५

४- वही, श्लोक ३६

५- कुवलयानन्द,

हो जाती है कि संस्कृतकवियों ने लोक साहित्य के विभिन्न रूपों को अपना कर किस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि की है ।

(ख) संस्कृत में लोकसाहित्य के रूढ़ -

संस्कृतकाव्यों में लोकसाहित्य के रूढ़ दो रूपों में उपलब्ध है, प्रथम-- अपभ्रंश अथवा प्राकृत पद्यों के रूप में, और द्वितीय-- लोकरूढ़ों में निबद्ध संस्कृत पद्यों के रूप में । प्रथम प्रकार के रूढ़ केवल दृश्यकाव्यों में पाये जाते हैं जबकि दूसरे प्रकार के रूढ़ों का क्षेत्र दृश्य एवं श्रव्य-- दोनों प्रकार के काव्य है । प्रथम प्रकार के रूढ़ों में दोहा, गाथा चर्चरी, गीति, सुरक, पुटिलिका, मल्लवटी आदि प्रमुख रूढ़ हैं । दूसरे प्रकार के रूढ़ों को दो वर्गों में बांटा जा सकता है --

(अ) लोकरूढ़ संस्कृत नामान्तर के साथ जैसे जार्या और (ब) रूढ़ का नाम तो वही है किन्तु भाषा संस्कृत है । विक्रमोर्वशीय, रत्नावली दशावतार वर्णन (दोमेन्द्र) और गीतगोविन्द में इन रूढ़ों के रूप देखे जा सकते हैं । जैन संस्कृतकाव्य भी इस प्रकार की सामग्री से शून्य नहीं है ।

दोहा -

दोहा अपभ्रंश भाषा का अपना रूढ़ है । हेमचन्द्र के व्याकरण तथा अन्य जैनकवियों की रक्षाओं में इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है । किन्तु संस्कृत के नाटकों में केवल विक्रमोर्वशीय में ही इसका प्रयोग प्राप्त है, यद्यपि पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि ' संस्कृत में भी दोहे लिखे गये हैं ' किन्तु हमें संस्कृत के दोहों के उदाहरण प्राप्त नहीं हो सके । विक्रमोर्वशीय में का दोहा इस प्रकार है --

महं जापि ~~मि~~मिजलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ ।

जाव णु णवतल्लसामलि, घराहरु वरिसेइ ॥

१- द्विवेदी, हजारी प्रसाद, वही, पृ० ६८

२- विक्रमो०, ४।८ विक्रमोर्वशीय के चौखम्बा संस्करण में इसे ' द्विपदिका ' कहा गया है ।

क्रमशः

उपर्युक्त दोहे का संस्कृत रूपान्तर -मुद्रितपुस्तकों में इस प्रकार है  
निकलता है --

मया ज्ञातं मृगलोचनां, निशाचरः कोऽपि हरति ।

यावन्नु नव तरङ्गिण्यामली, धाराधरो वर्णति ॥

दोनों की तुलना से स्पष्ट है कि जो तुकबन्दी और लय अपभ्रंश दोहे में है वह संस्कृत दोहे में नहीं है । भिन्नक राग में गाया हुआ एक पद्य देखिए जो सवेया की याद दिला देता है --

दहजारह्विजो जह्विं दुह्विजो विरहाणुगजो परिमंथरजो ।

गिरिकाण्णार कुसुमंजल गजजुल्वहं बहुफणीणगहं १॥

एक और उदाहरण लीजिए जो चौपाई की लय पर गेय है --

हंड परं पुच्छिभि आजक्वहि गजवरु, लल्लि पधारं णासिज तृस्स तरवरु ।

दूर विणिज्जिज ससहरकंती, दिट्ठी पिज पइं सम्मुह जंती ॥

चर्चरी-- चर्चरी के गेयनाट्यरूप की चर्चा इसी अध्याय में की जा चुकी है । वस्तुतः चर्चरी  
-----  
एक गाना था जो नृत्य के साथ गाया जाता था, इसीलिये उसे गेयनाट्य कहा गया था ।  
चर्चरी गीत की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है --

दूतमध्यल्यं समाश्रिता पठति प्रेमभरान्मरी ।

प्रतिमण्ठकरासज्जेत वा दूतमध्या प्रथमा हि चर्चरी ३॥

किन्तु विक्रमोर्वशीय में अनेक चर्चरी पद राजा के द्वारा कहलाये गए हैं । संगीतरत्नाकर  
में चर्चरी को वसन्तभूत में गेय बताया गया है तथा उसे प्राकृत की रक्षा कहा गया है --

सा वसन्तोत्सवे गेया चर्चरी प्राकृतैः पदैः ।

चर्चरीहृन्दसेत्यन्ये क्रीडातालै वेत्यपि ॥

धुत्तादिहृन्दसा वास्य हृन्दोल्लसमोदिता भिदाः ४

नाट्यदर्पणकार के मत में चर्चरी और रास एक ही कृन्द है जो गेयनाट्य है ५ वस्तुतः यह  
एक प्रकार का लोकगीत था जिसमें वसन्त और विरह का वर्णन प्रधान रहता था ।

१- विक्रमो०, ४।१४

२- वही, ४।४५

३- विक्रमो० ४।११ पर प्रकाशटीका में उद्धृत ।

४- संगीतरत्नाकर, ४।२६२-३

५- रागाद्वसन्तमासाथ स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥

चर्चरीति च तामाहः वर्णतालै तत्र त । -- नाट्यदर्पण, प० २७५

लोकगीत होने के कारण इसका कोई छन्द निश्चित नहीं था । स्वयं कालिदास ने विक्रमोर्वशीय के चतुर्थीक में जिन पद्यों को चर्चरी कहा है, उनमें कन्दोर्विविध द्रष्टव्य है ।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट है कि चर्चरी का कोई छन्द निर्दिष्ट नहीं था, उसे देश-काल भेद से कई रागों में लिखा और गाया जा सकता था । प्राकृत में इसे चच्चरि कहा गया है ।

गाथा- गाथा प्राकृत का अपना छन्द है यद्यपि कुछ गाथारें गृह्यसूत्रों में भी प्राप्त हो जाती हैं जिनकी भाषा प्राकृत के स्थान पर संस्कृत है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गाथा तत्कालीन लोक भाषा का छन्द रहा होगा तभी तो उसे स्त्रियों द्वारा गाने का विधान किया गया है । धार्मिक कार्यों और संस्कारों में धर्मशास्त्रकारों द्वारा गाथीच्चारण का विधान कर दिए जाने पर संस्कृत कवियों का भी ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और तब इसका संस्कृत संस्करण भी गाथा के ही नाम से कर लिया गया । किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत नाटकों में जितनी भी गाथारें पायी जाती हैं वे प्रायः सभी प्राकृत भाषा में ही हैं । जब गाथा प्राकृतछन्द के लिये रूढ़ हो गया तो संस्कृत कवियों ने इसका दूसरा संस्करण 'आर्या छन्द' के रूप में तैयार कर लिया ।

गीति-- गीति अपरनाम गान का सीधा सम्बन्ध लोक से है, काव्यशास्त्र में उसका पदार्पण बाद की घटना है । संस्कृत नाटकों में गीत और गीतियाँ प्राकृत भाषा में ही रचित हैं जिससे इनका लोकसम्पत्ति होना सुनिश्चित है लोक गीत लोक भेद से अनेक प्रकार का होता है, उसे शास्त्रीय नियमों में नहीं बाँधा जा सकता, यद्यपि उसके विभिन्न रूपों के लिये कुछ पारिभाषिक शब्दों का निर्माण गायक कर ही लेते हैं । विक्रमोर्वशीय के आदिपिका, द्विपिका, जम्बुलिका, खण्डधारा, खण्डक, खुरक, कुल्लिका, मन्दघटी, खण्डिका गीतियों का प्रयोग मिलता है ।<sup>१८</sup>

दूसरे प्रकार के छन्दों में आर्या,<sup>११</sup> चर्चरी,<sup>१२</sup> गाथा (संस्कृत),<sup>१२</sup> गीति,<sup>१३</sup> वक्त्र,<sup>१४</sup>

१- इस सम्बन्ध में विक्रमो० ४। १९, २०, २१, २४, ३४, ३५, ५०, एवं ५४ पद्यों की परस्पर तुलना कीजिए ।

२- विक्रमो० ३। १, ५

३- वही, ४। २, ६, ८, १५, २६

४- वही, ४। ३

५- वही, ४। ४

६- वही, ४। १६

७- वही, ४। २३

८- वही, ४।

९- वही, ४। १३

१०- वही

११- वही, ४। २१, २३ एवं ३३ संस्कृत चर्चरी है -

१२- चृत्तलाकर, १। ८, ५। १२

जिनका प्राकृत रूप उपलब्ध नहीं है ।

१३- चृत्तलाकर, २। ८-११

१४- वही, २। ११-२४

अपरवक्त्र प्रमुक्त हैं। यही नहीं, संस्कृत के शास्त्रीय कन्द भी लोकानुकूलि पर ही गढ़े गये हैं, भले ही उन्हें शास्त्रीयता का जामा पहना दिया गया है। संस्कृत कन्दों में अन्य भाषा के कन्दों को मिला कर कविता करने की प्रवृत्ति की संस्कृत कवि कवियों में दीन पड़ती है। हेमचन्द्र ने इसे भाषाश्लेष अलंकार की संज्ञा दी है।

(ग) लोक धर्मी अलंकार -- अलंकरण की प्रवृत्ति केवल मनुष्य में ही नहीं, पुश-पक्षियों तक में परिलक्षित होती है। अतः अलंकार के मूल में शास्त्रीय चेतन्य को ही कारण नि मानना नितान्त अनुचित होगा। कामप्रवृत्ति जीवमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और यही प्रवृत्ति अलंकरण के मूल में काम करती है। साहित्यविशारदों से यह बात छिपी नहीं है कि अलंकारों की जो सज्ज और स्वाभाविक कृता लोकसाहित्य या शास्त्रीय बन्धनों से मुक्त वरेण्यसाहित्य में दीयती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अलंकार के क्षेत्र में भी लोक और उसके साहित्य से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की है। रुच्यक ने तो अलंकारों का वर्गीकरण करते समय

‘लोकन्यायमूलक’ अलंकारों का एक पृथक् वर्ग ही बना दिया जिसमें उन्होंने प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर और सामान्य अलंकारों का ग्रहण किया है। ४ अप्यदीक्षित ने लोकोक्ति और वण्डी ने प्रहेलिका को भी अलंकार माना है।

उपमा, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति भी इसी श्रेणी में आने चाहिए किन्तु अलंकारशास्त्रियों ने पता नहीं च्यों इन्हें लोकन्यायमूलक अलंकारों में नहीं गिना। इसी प्रकार हलबन्ध, मुसलबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध चित्रालंकारों की प्रेरणाभूमि लोक ही है। यदि इस क्षेत्र को और विस्तृत किया जाय तो अनुप्रास, दृष्टान्त, निदर्शना और रूपक अलंकारों को भी इसके अन्तर्गत लाया जा सकता है।

(घ) लोकोपमान --

संस्कृतकवियों ने शास्त्रीय और परम्परागत उपमानों के साथ-साथ लोकोपमानों

१- वही, ४।६

२- अलंकारसर्वस्व, ६६-७५ ४- काव्यानुशा०, ५।६

३- कुवल्यानन्द,

५- काव्यादर्श, ३।१०६



का भी प्रचुर प्रयोग किया है । उनकी सूक्ष्मलोचननिरीक्षणशक्ति पर आश्चर्य तब होता है जब हम उन्हें हमेशा टेढ़ा चलने वाले की उपमा कुत्ते की टेढ़ी पूंछ से<sup>१</sup>, मोटी जांघों की उपमा दो कुठलों से<sup>२</sup>, पलंग पर सोई हुई कुड़ड़ी की उपमा टिड्डी से, कुबड़ी की चाल की उपमा ऊंट की चाल से, दावत लाकर मस्त पड़े हुए ब्राह्मण की उपमा चौराहे के साँठ से<sup>५</sup> संस्कृत पढ़ने में सुं-सुं करती हुई स्त्री की उपमा नई नाथ डाली हुई पहलौट गाय से, कामिनी की देह्यष्टि की तुलना मुटिकाधु से<sup>७</sup>, गौरी जांघों की उपमा पके सरकण्डे से<sup>८</sup>, दिल में समायी हुई वैश्या की उपमा जूते में पड़ी हुई कंकड़ी से<sup>९</sup>, बैलगाड़ी की आवाज की उपमा बूढ़े सुअर की घुर-घुर आवाज से<sup>१०</sup>, दुबली-पतली नायिका की उपमा गेहूँ की नरी से<sup>११</sup>, काली और मोटी वेणी की उपमा भंस के सींग से<sup>१२</sup>, पीली आंखों की उपमा बन्दर की आंखों से<sup>१३</sup>, छोटे सुन्दर दांतों की उपमा अनार के बीज से<sup>१४</sup>, मोटे-ठिंठे आदमी की उपमा साँठ की गाँठ से<sup>१५</sup>, नीले बादल की उपमा जल से भीगे भंसे के उदर से<sup>१६</sup> और कुटर्ना के हृदय की कुटिलता की उपमा कुत्ते की पूंछ, बकरी के सींग, हमेशा टेढ़े चलने वाले साँप और ऊंट की गर्दन से दैते हुए देखते हैं<sup>१७</sup> । कहीं-कहीं तो वे लोकोपमानों के कुत्ताव में इतना आगे बढ़ गये हैं कि ग्राम्यत्व और अश्लीलत्व की भी उन्होंने परवाह नहीं की । उदाहरण के लिये पादतात्त्विक में दाक्षिणात्य इन्द्रजित की कामुकता को प्रकट करने वाले इस वाक्य को लीजिए --- विवृतजघमभूषणां विवस्त्रां वृषा इव वत्सतरिणिमिहोषयाति ।<sup>१८</sup> इस तरह के अश्लील लोकोपमान केवल भाणसाहित्य

१- श्रीकण्ठविरित, २। १४

२- पादतात्त्विक, श्लोक ७७,

३- वही, ६१

४- वही, ६२

५- मृ०क०, प्रथम अंक

६- वही, तृतीय अंक

७- आर्या०, ५६

८- संस्कृतसूक्तिसागर, पृ० ४१६ श्लो० २२

९- मृ०क०, पंचमांक

१०-वही, आठवाँ अंक

११-पादतात्त्विक, ६३

१२-वही, पृ० २०१

१३-वही, पृ० २०१

१४-वही, -मृ० मानसौल्लास, ५। २०। १२२६ एवं मेघदूत(उत्तर) २२, १५-आर्या०, १२०

१६-मृ०क०, ५। २

१७-देशोपदेश, ४। १३

१८-पाद०, पृ० १६२

में ही हो, ऐसी बात नहीं है। जौमेन्द्र बूढ़े व्यक्ति के विरलशृंगार की उपमा बूढ़ी मँस की मग से देने में भी नहीं सक्ताते।<sup>१</sup>

#### (घ) मानवेतर पात्र योजना--

---

शिष्ट साहित्य में मानवेतरपात्र-योजना की प्रवृत्ति लोकमानस की उपस्थिति का परिणाम है। भले ही ऐसा पात्र 'देवता' क्यों न हो, साहित्य में इस के मूर्तरूप की कल्पना साहित्यकार के लोकमानस को उजागर करती है। देवताओं के सम्बन्ध में 'परोक्षाप्रियाः देवाः' की शास्त्रीय मान्यता बाद की चीज है, वे तो जनमानस में न जाने कब से किस रूप में प्रतिष्ठित थे किन्तु वाणीविलास में उनका भौतिकस्वरूप सदा से परिलक्षित होता आ रहा है।

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन ने प्रकृति के सात भेद गिनाये हैं-- दिव्या, मानुषी, दिव्यमानुषी, पातालीया, मर्त्यप्रातालीया, दिव्यपातालीया, दिव्यमर्त्यपातालीया चेति सप्तधा<sup>२</sup>। लेकिन ये सातों प्रकृतियाँ केवल दो प्रकार के पात्रों की सामर्थ्य क्रिया-पद्धति, स्वभाव आदि को ही प्रकट करती हैं। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में पात्र योजना के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों का प्रयास केवल नायक-नायिका और उनके विभिन्न सहयोगियों तक ही सीमित रहा है। मानवेतरपात्रों के सम्बन्ध में उन्होंने विचार ही नहीं किया।

संस्कृत साहित्य में मानवेतर पात्रों की बहुत बड़ी संख्या है। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में बांटा जा सकता है -- (क) अतिमानवीय, (ख) अमानवीय और (ग) तिर्यग्योनिपात्र। अतिमानवीय पात्रों में विभिन्न देवी-देवता,

---

अप्सरा, यक्षा किन्नर, नाग, भूत-प्रेत, राक्षस-बैताल, विद्याधर आदि पात्र आते हैं। अमानवीय पात्र दो प्रकार के हैं-- एक, प्राकृतिक पदार्थ जैसे मेघ, नदी, पर्वत, वृद्धा, लता आदि और दूसरे शस्त्रास्त्र, रथ, यान आदि जैसे चक्र, शार्ङ्ग, कौमोदकी, शंख, नंदक पुष्पक विमान आदि। संस्कृतकवियों में इन दोनों ही प्रकार के अमानवीय पात्रों को अपनी रक्षाओं में सचेतनपात्रों के रूप में चित्रित किया है। तिर्यग्योनिपात्रों का संसार बहुत विस्तृत है, उसमें सभी प्रकार के पशु जैसे-- गो, वृषभ, सिंह, अश्व, शृगाल, खान, उष्ट्र आदि पशु, हंस, तोता, सारिका, कोआ आदि पक्षी और नकुल, सर्प आदि छोटे जीव-जन्तु आ जाते हैं।

साहित्य में मानवैतरपात्रों की समायोजना सामिप्राय होती है। कवि का ऐसे पात्रों की योजना में कोई - न कोई विशेष उद्देश्य अवश्य होता है। ये उद्देश्य कभी कभी परम्परा के रूप में रुढ़ भी हो जाते हैं। उदाहरण के लिये काव्य में देवतापात्रों की योजना मनुष्य को वरदान या अलौकिक शक्ति प्रदान करने अथवा विपत्ति से छुटकारा दिलाने के लिये, अप्सराओं की योजना नृत्य-संगीत द्वारा कृष्ण-मुनियों को तपस्या से विचलित करने या राजाओं को प्रेमपाश में फाँसने के लिये देवर्षि नारद का आगमन इधर की उधर लगाने के लिए, हंस और तोते की योजना प्रेमसन्देशवाहक के रूप में और सारिका की प्रेमालाप प्रकट करके वाली के रूप में की जाती है। कालिदास ने मेघ को और घोषी ने पवन को सन्देशवाहक के रूप में चुना है।

#### (ड) संस्कृतसाहित्य में लोकधर्मी प्रवृत्तियाँ -

कवि की लोकोन्मुखता उसकी कृति को लोकधर्मिता की ओर ले जाती है। जब कवि 'प्रत्यक्षादशीं लोकानां सर्वदशीं भूम्नरः' के आदर्श का पालन करता हुआ 'लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति' की स्थिति में पहुँच जाता है तो

१- शंख, चक्र आदि शस्त्रों को बोलते हुए पात्रों के रूप में भास ने बालचरित के प्रथम अंक में चित्रित किया है।

२- महा०, उद्यो० ४३। ३६

२- द्रष्टव्य-अविमारक, ६। १२

३- द्रष्टव्य: नैषधीयचरित

४- वही, मोदाधर्म०, ५०। ३३६

४- रत्नावली, द्वितीय अंक

उसका काव्य लोकधर्मी काव्य हो जाता है। लोक के प्रति साहित्य की यह उन्मुखता संवेदना और दृष्टि दोनों घातलों पर होती है। संवेदना के घातल पर उभरी हुयी लोकोन्मुखता साहित्य को लोकजीवन के प्रगाढ़ रस और सफ़ बिम्बों से समृद्ध करती है किन्तु दृष्टि के घातल पर उद्भूत लोकोन्मुखता सायास नियोजित लोकचित्रों के माध्यम से साहित्य को लोकजीवन की ऊपरी सतह से ही जोड़ पाती है। जहाँ दोनों का संयोग हो, वहाँ तो बात ही निराली है। संस्कृत साहित्य इसी प्रकार का साहित्य है। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह आज भी जीवित है और अनन्तकाल तक जीवित रहेगा।

संस्कृत के प्रथम काव्यशास्त्री भरत ने नाट्य में वृत्तियों और प्रवृत्तियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। पात्रों का कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार या चैष्टा वृत्ति कही गयी है। भरत ने इन वृत्तियों को 'वृत्तयो नाट्यमाह्वः' कहा है। भारती, सात्वती, कौशिकी और वारमटी--ये चार वृत्तियाँ मानी गई हैं। हमारे मत में ये चारों वृत्तियाँ चार जातियों की जातीय परम्पराओं से सम्बन्धित हैं। प्रवृत्ति शब्द का अर्थ स्वयं भरत ने 'पृथिवी पर विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित नाना वेश, भाषा आचार और आजीविका का व्यापन करने वाली वृत्ति' किया है। दादाणात्या, आवन्तिका औद्दमागधी और पांचालमध्यमा-- ये प्रवृत्तियाँ भरत ने स्वीकार की हैं। देशादिभेद से प्रवृत्तियों के अनेक भेद हैं किन्तु उन सबका प्रतिपद कथा, प्रशिक्षण और अभ्यास अराम्य होने के कारण भरत ने केवल चार प्रमुख प्रवृत्तियों का ही परिगणन कराया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये वृत्ति-प्रवृत्तियाँ विभिन्न जातियों और देशों के परम्पराओं, जीवनपद्धतियों और आचार विचारों से ही सम्बन्धित हैं। इन लोकवृत्ति-प्रवृत्तियों का ज्ञान कवि को

१- विशेषविवरणार्थं द्रष्टव्य --

नाट्यशास्त्र १। ४१-४३ पर प्रसाद हिन्दी व्याख्या (सत्यप्रकाशशर्मा)

२- नाट्य०, १४। ३६ गद्यांश, पृ० १६५ (काशी संस्करण)

३- लोकोबहुविधः भाषाचारादियुक्तः कस्तं प्रतिपदं वक्तुं शक्नुयात् शिचित्तुमभ्यसितुं वा प्रयोक्तुं द्रष्टुं वा, चित्तुं प्रघानं चेदं नाट्यमिति तदेवं वक्तुं न्यायम् । --

अभिनवभारती, भाग २, पृ० २०७ ।

५०

परमावश्यक है क्योंकि नाट्यकर्मों<sup>१</sup> कहिए कि समूचे साहित्य की सफलता लोकस्वीकृति पर निर्भर है। इसीलिए भरतमुनि ने नाट्य में लोक को ही प्रमाण माना है<sup>२</sup> और नाट्य सम्बन्धी विस्तृत विवेका प्रस्तुत कर देने के बाद भी उन्होंने यही कहा है-- "नोक्ता ये च मया तत्र लोकग्राह्यस्तु ते बुधैः"<sup>३</sup> वास्तव में लोक धर्मी प्रवृत्तियाँ ही नाट्य को ठोस आधार प्रस्तुत करती हैं। वहीं स्वभावसिद्ध है, शास्त्रीय प्रवृत्ति तो उसकी विकृतिमात्र है-- "स्वभावो लोकधर्मी तु नाट्य धर्मी विकारतः" यहाँ नाट्य से सम्पूर्ण साहित्य का ग्रहण कर लेना चाहिये।

लोकधर्मी प्रवृत्तियों का क्षेत्र उतना ही विस्तृत है जितनाकि लोक। अतः उन सभी का परिगणन कराना सर्वथा अशक्य है। फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है।

- (१) प्रवृत्ति-- इसके अन्तर्गत वैष्ण, भाषा, आचार आजीविका के साथ-साथ वृत्ति और रीति को भी सम्मिलित लिया जा सकता है।
- (२) साहित्यिक प्रवृत्तियाँ-- साहित्य की क्षेत्रीय-जातीय विशेषताएँ एवं रुढ़ियाँ इसके अन्तर्गत आयेगी।
- (३) कविसमय एवं प्रौढोक्तियाँ।

१- लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम् ।

तस्मान्नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ॥ नाट्यशा०, २६। ११३

२- वही, २६। १११, और भी, २४। २१४

३- यानिशास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः ।

लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥ वही, २६। ११७

४- वही, २३। १६३

५- नहि शक्यं हि लोकस्य स्थावस्स्य चरस्य च ।

शास्त्रेण निर्णयं कर्तुं भाववेष्टाविधिं प्रति ॥ वही, २६। ११८

निष्कर्ष -  
-----

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के वरेण्य साहित्य में लोकसाहित्य के तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। संस्कृत कवियों ने अपने समय के लोकसाहित्य की न केवल विभिन्न विधाओं को ही अपनाया, अपितु उसकी मूल प्रवृत्तियों को भी साहित्यशास्त्रीय मान्यता प्रदान कर दी। हमने इस अध्याय में इन सभी तथ्यों का सिंहावलोकन मात्र किया है। वस्तुतः एतद्विषय सामग्री इतनी विपुल है कि उस पर स्वतंत्र शोध की आवश्यकता है।

-: प रि च्छे द २ :-

संस्कृत साहित्य में प्रतिनिधित्व जन-समाज-

॥ ॥ सप्तम

∴ खानपान

∴ वैशम्पायन

∴ बाली

∴ गालियाँ

**:: प्रणय चित्रण**

## प र च ह द - २ -

### - संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित जन-समाज -

#### समाज-

‘सम्’ उपसर्गपूर्वक ‘जन् धातु’ में समाज शब्द की निष्पत्ति होती है जिसका अर्थ है-- ‘मनुष्यों का समुदाय’। मानवैतर प्राणियों के समुदाय की समाज न कहकर ‘समज’ कहा गया है<sup>१</sup>। इस समाज की रक्षा करने वाला ‘सामाजिक’ कहलाता है<sup>२</sup>। पारस्परिक जागरूकता और आदान प्रदान की क्रियाओं द्वारा सामाजिक समाज की रक्षा करता है। पाश्चात्य विद्वान् में भी पारस्परिक कर्तव्यों के निर्वह को ही समाज का मूल आधार माना है<sup>३</sup>।

#### समाज का वर्गीकरण-

मानव सृष्टि का सर्वाधिक बुद्धिमान एवं संवेदनशील प्राणी है। देश, काल और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में वह अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं, क्रियापद्धतियों, विचारों और सामाजिक सम्बन्धों को निश्चित करता है। इस प्रकार के निश्चयी-करण से समाज में स्थायित्व आता है जो क्रमशः परम्परा, धर्म और फिर रूढ़ि में परिणत हो जाता है। परिणामतः समाज में अनेक वर्ग बन जाते हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इन सामाजिक वर्गों का वर्गीकरण इसप्रकार कर सकते हैं-

- |                        |                            |
|------------------------|----------------------------|
| (१) शक्ति के आधार पर   | (२) निवास स्थान के आधार पर |
| (३) सांस्कृतिक आधार पर | (४) कर्म के आधार पर        |

१- समुदायजः मनुष्यः ३।३।६६ पर काशिका ।

२- समाज रक्षतीति सामाजिकः । रक्षाति ४।४।३३ से ठकू ।

३- A group is an identifiable, structured, continuing collectivity of social persons who enact reciprocal roles according to norms, interests and values in the pursuit of common goals. Sociology. P. 110.



### (१) शक्ति के आधार पर समाज का वर्गीकरण-

शक्ति के तीन प्रमुख भेद हैं शारीरिक, आर्थिक और बौद्धिक । शारीरिक शक्ति के आधार पर समाज में स्पष्टतः दो वर्ग हैं- क्लवान् और निक्ल । क्लवान जो कुछ करता है, वही करता है, कानून भी उसकी स्वच्छाचारिता में बाधक नहीं है - “क्ली क्लीयान न तु नीति मार्गः” । संसार के सभी सुखीपयोगी का वही एकमात्र अधिकारी है - “वीरमोग्या वसुन्धरा” । यह वीरता और क्लबता किसी के बाप की धरोहर नहीं है । काश्मीर के इतिहास में हम साधारण से साधारण और नीच से नीच यहाँ तक कि चाण्डाल को भी इस गुण में परिपूर्ण होने के कारण, काश्मीर नरेश के रूप में देखते हैं । मगधसम्राट नन्द भी शूद्र ही था । संस्कृत साहित्य में राजा, सेनापति, योद्धा और राजासी की इसी श्रेणी में चित्रित किया गया है । संस्कृत काव्यों में जहाँ एक ओर इनके वीरचित्त कायकलापों, अधिकारों और स्वच्छन्द एवं दमनकारी प्रवृत्तियों का वर्णन है, वहीं दूसरी ओर दीन-हीनी, निक्ली और अक्लाओं के भी चित्र दुर्लभ नहीं हैं ।

सामाजिक वर्गभेद पैदा करने में धन भी एक कारण है । धन मनुष्य को सर्वशक्तिमान् बना देता है, यह व्यावहारिक कटु सत्य है । दौर्भाग्य में ठीक ही कहा है -

यत्क्लीबभैटकुक्कुटौत्कटकरणा क्रीडा समादिश्यते

यन्मूर्खः सुखलीलया कविशुकालापश्चिरं चर्वति ।

नीचैरुच्चतरश्च शैवकह्यः स्वाम्येन यद् वासी

तद् वित्तस्य जितारणुत्तरेत्तद्वृत्तवादिताम् ॥ २

राजा, राज्याधिकारियों, सार्वज्ञिक, वणिक् और गणिकाओं के विलासपूर्ण जीवन के वर्णनों से संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है । यहाँ उनके उदाहरण प्रस्तुत करना व्यर्थ होगा ।

निर्धनता का अभाव किसी भी समाज में सम्भव नहीं है । वस्तुस्थिति तो यह है कि समाज में निर्धन लोगों की ही संख्या अधिक होती है । किन्तु उस वैचारिक की धनी व्यक्तियों में कमी आदमी नहीं सम्भक्त । वह सभी प्रकार से आजाय ही बना रहता ।

१- दृष्टव्य- राजतरंगिणी, चौथी एवं पाँचवी तरंग ।

२- चतुर्वर्गग्रह , स ३

रहा, उनकी यही बात पर भी कभी विश्वास नहीं किया गया और उनके चरित्र के सम्बन्ध में भी लोग शंकाएँ बनाएँ रहें।<sup>१</sup> उनकी समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं थी। न कोई उसका रंग पसन्द करता था और न कोई उसी ठीक तरह से बोलता ही था। उत्तम आदि में भी धनिकों के घर के जमीन पर बेचारे गरीब भी अनादर एवं अपमान ही मिलता था।<sup>२</sup> औरतों और, माई -बन्धु भी ऐसे समय में उन्हें क्षामिते लगते हैं।<sup>३</sup> सब है, नियन्त्रिता सभी आपत्तियों की जड़ होती है।

धन सामाजिक मान-मर्यादा का मापदण्ड था। महाभाष्य में इस बात का उल्लेख मिलता है कि एक निष्कवाला धैरिष्क वलि की बराबरी नहीं कर सकता।<sup>४</sup>

धन और शक्ति के आधार पर समाज में एक और नया वर्ग पैदा हो जाता है, वह है - स्वामी-सेवक वर्ग। स्वामियों की भी कम दो वर्गों में रख सकते हैं- राजा और धनी। स्वामियों का सेवकों के प्रति उदार एवं मृदुल व्यवहार उचित माना जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व शकुन्तला की विदा करते समय 'धूमिष्ठं भव दक्षिणा परिजैः', का उपदेश देते हैं। मृच्छकटिक में वसन्तसेना अपनी शैबिका मदनिका का वारुदत्त का आभूषण चुराने वाली शर्विलक के प्रति प्रेम देखकर उसे दासीत्व बन्धन से मुक्त कर दोनों का विवाह करा देती है।<sup>५</sup> लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत साहित्य में स्वामियों का सेवकों के प्रति यह उदार व्यवहार आदर्शानुरोध के कारण ही चित्रित किया गया है।

१- मृ०क०, ३। २४

२- संग भव हि कश्चिदस्य कुरते सम्पादति नादरातः।

सम्प्राप्ते गृहमुत्पेषु धनिनां रावजमालीक्यते ॥ वही, १। ३७

३- एतत्तु मां दहति नष्ट धनाश्रयस्य

यत् सौहृदादपि जनाः शिथिली भवन्ति ॥ वही, १। १३

४- अही नियन्त्रिता खपिदास्यदम् । - वही, १। १४

५- नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धति - ५। ३। ५५ पर भाष्य

६- अभिज्ञान शा०, ४। १८

७- मृ०क०, चतुर्थीक

व्यावहारिक जीवन में स्वामी शैवक के ऊपर काफी अत्याचार करता था ।  
 मृच्छकटिक में एक दास स्वामी की अपने शरीर का अधीश्वर बताता है ।<sup>१</sup>  
 वह अपने दयनीय जीवन पर रोता हुआ दाता की धिक्कारता है ।<sup>२</sup> शैवकों  
 से मनमाने काम लिए जाते थे । उनकी स्वतन्त्र इच्छा बिल्कुल नहीं थी । स्वामी  
 की इच्छानुसार उसे काम करना पड़ता था । मृच्छकटिक में ही उसका स्वामी उसके  
 वान्छिना की हत्या कराना चाहता है तो वह कहता है कि चाहे आप मारें अथवा  
 पीटें, मैं हत्या नहीं करूँगा ।<sup>३</sup> राजशैवकों की तो हालत और भी बदतर थी ।  
 बाणभट्ट में हर्षविरत में राजशैवकों की स्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है-  
 'राज शैवक केवल मुँह से मीठी बात करने वाला बड़बड़ करने वाला मृगक, सड़े  
 मांस का कीड़ा, पुरुष की आकृति में घाल-मूँस का पुतला ----- धरती  
 पर पीना रगड़ने वाला कछुआ, चापलूस कुत्ता, दूसरे के लिए शरीर तीझी-मरीझी  
 में वैश्या, रिर छिाने में गिरगिट, अपने आपकी सिकोड़ कर रखने वाला माँड़-  
 बूहा, पादवाहन का अभ्यासी पड़वाया, कराघात रहने में भँद और कीणाघात  
 रहने का अभ्यासी वीणादण्ड है । उसका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं, उसके  
 पापकर्मों का कोई प्रायश्चित्त भी नहीं । जैसे वाले व्यक्तियों में वह घाल-मूँस की  
 तरह है । उसके नीचे में शान्ति कहाँ ? उसकी क्या जिन्दगी है ? उसमें पुरुषोचित  
 अभिमान कहाँ ? सुख-विलास और मोग के सम्बन्ध में उसे जानकारी कहाँ ? यह  
 दारुण दास शब्द धीरे दलदल की तरह सबकी नीचे ढँकल देता है । ----- वह  
 अवश्य ही दुर्भाग्यशाली है जो राजकुल में नौकरी करना चाहता है ।<sup>४</sup> राजशैवकों  
 को इस दयनीय स्थिति को देखकर बाणभट्ट उन्हें मनुष्य मानने के लिए भी तैयार  
 नहीं है - "यदि बेचोरे राजशैवक को भी मनुष्यों में गिना जाय तो राजकुल को  
 की भी सूर्य मानना पड़ेगा और पुत्राल की भी घान में गिनती करनी होगी"<sup>५</sup> ।

१- प्रभवति भट्टकः शरीरस्य । - मृ० क०, अंक ८

२- हन्त ईहसी दासभावः । - वही, अंक ६

३- ताव्युक्तु भट्टकः, मारयतु भट्टकः, अकामेन करिष्यामि नहीं, अंक ८

४- हर्षविरत, सप्तम उच्छ्वास ।

५- वराकः शैवकों पि मर्त्यमध्ये, राजकुलऽपिवा मोगो, पुत्रालऽपि वा कलमः, ।

वह भाट्ट से बटोर हुए कुंड के समान है ।

एक ओर तो राजघरानों और धनीपरिवारों में सेवकों की इतनी बढ़ती-बढ़ती हालत थी, दूसरी ओर उनके स्वामीमक्त होने की आशातीत अपेक्षा की जाती थी। किन्तु यह कहने में हमें कतई संकोच नहीं है कि छोटा आदमी बड़े आदमी की अपेक्षा अधिक कृतज्ञ और ईमानदार होता है । सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में हमें एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिला कि मालिक ने अपने नौकर की खातिर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया हो । इसके विपरीत सेवक की स्वामिमक्ति के ऐसे अनेक उदाहरण आपको मिलेंगे कि सेवक ने स्वामी की रक्षा में अपना प्राणोत्सर्ग तक कर दिया । कश्मीर नरेश अनन्तदेव और रानी दूर्यमती के साथ अनेक विपत्तियों में उनका साथ देने वाले गंगाधर, टक्किबुद्ध, और युग्मवाह दण्डक सेवकों तथा उद्दा, नीतिका और वला-इन तीन दासियों ने राजा-रानी के साथ ही अग्नि में प्रवेश किया था ।<sup>१</sup> प्रतिज्ञा-योगन्धरायण में स्वामिमक्त मन्त्री योगन्धरायण विपत्ति में पड़े हुए स्वामी के प्रति सन्देश भेजता है कि 'स्वामी शत्रुनाश, कारागार तथा वन में अपने भीषण ही पायेंगे और मरने पर भी स्वामी मुझे मरा हुआ स्वर्ग में प्राप्त करेंगे' ।<sup>२</sup> स्वप्नवासवदत्ता में वाणदत्ता के निधन से दुःखी एवं विलाप करते हुए राजा का मन्त्री रामण्वान् भी इतना दुःखी है कि ब्रह्मचारी योगन्धरायण के उसके मरण तक की आशंका करता है ।<sup>३</sup>

नमकहराम सेवकों का भी उल्लेख संस्कृत साहित्य में विरल नहीं है । किन्तु ऐसे उल्लेख प्रायः राजनीतिक विप्लवों के ही सम्बन्धित हैं और यह भी कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि ऐसे घृत, विटों और नीचों की राजसेवकों के रूप में नियुक्ति कुबुद्धि राजाओं द्वारा अपनी कुत्सित प्रवृत्तियों के ही फलस्वरूप हुआ करती थी जिसका परिणाम भी अन्ततः उन्हें ही भीगना पड़ता था । बाणभट्ट ने कादम्बरी में राजाओं की ऐसे सेवकों से सावधान रहने के लिए सचेत किया है ।<sup>४</sup>

बौद्धिक शक्ति में हमारा तात्पर्य 'शिक्षा' है । शास्त्रीय और व्यावहारिक-दोनों ही प्रकार की शिक्षा का सीधा सम्बन्ध संस्कृति से है । अतः इसका विवेचन सांस्कृतिक वर्गीकरण के अन्तर्गत करेंगे ।

१- राज०, ७।४८१

२- प्रतिज्ञा०, १।१४

३- स्वप्न०, १।१४

४- द्रष्टव्य- कादम्बरी ( भुक्तानीपदेश )।

## (२) निवास स्थान के आधार पर वर्गीकरण-

निवास स्थान के आधार पर समाज के तीन प्रमुख वर्ग हैं - नागर, ग्राम्य और वन्य । यद्यपि संस्कृत साहित्य में और भी अनेक जनानिबन्धों - यथा पल्ली,<sup>१</sup> सेट,<sup>२</sup> पक्कण, पुटमैदन आदि का उल्लेख मिलता है, किन्तु उन सभी का उपयुक्त तीन वर्गों ही में अन्तर्भाव हो जाता है ।

नागर समाज-

संस्कृत साहित्य की रचना अधिकांश में नगरों में हुई । संस्कृत के लगभग प्रत्येक कवि का किसी न किसी राजदरबार में सम्बन्ध अवश्य रहा है । यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में विभिन्न नगरों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन पाया जाता है । अयोध्या,<sup>३</sup> उज्जयिनी,<sup>४</sup> पाटलिपुत्र,<sup>५</sup> यमेश्वर,<sup>६</sup> विजयपुर,<sup>७</sup> कांची,<sup>८</sup> कलिंगनगरी,<sup>९</sup> प्रवरपुर,<sup>१०</sup> अन्तिपुर,<sup>११</sup> कान्यकुब्ज,<sup>१२</sup> आदि नगरों के वैभव का वर्णन संस्कृत कवियों ने बड़े धटाटोप के साथ किया है । उदाहरण के लिए उज्जयिनी की ही लीजिए ।

१- पवनद्वत, २०

३- कादम्बरी, अनु० ३३५

५- रघुवंश, १३।६१

७- दशकुमारचरित, मुद्रारम्भास

९- पवनद्वत, ३६

११-वही, २१

१३-राज० ५।४४

१४-वाल० १०।६०, नैषधीय,

पुष्पिका ।

२- हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वासा

४- शिशुपाल० १३।२६

६- भैष० ३०, कादम्बरीकथामुत्र, मृ०क०अंक ४

८- हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वासा

१०- वही, १२

१२-राज० ३।३४६-४६, वि०च०-गी १८

संस्कृत के अनेक कवि इसकी शोभा पर मुग्ध हैं। यदि कालिदास में इसे 'दिवः  
कान्तिमत्त्वण्डमकम्'<sup>१</sup> कहा है तो बाणभट्ट में और दो पग आगे बढ़कर  
'सकलन्निभुवनललामभूता,<sup>२</sup> घोषित कर दिया।

इन नगरों में रहने वाले व्यक्तियों का जीवन वैभव से परिपूर्ण और  
विलासिताओं से ओत-प्रोत था।<sup>३</sup> नगर सभी दुख दुविधाओं से स्थल थे।  
स्याणोश्वर का वर्णन करते हुए बाणभट्ट उसे 'मुनियों की तपोवन, वैश्याओं  
की कामायतनः नर्तकियों की संगीतशाला, शत्रुओं की यमनगर, याचकों की चिन्ता-  
मणि, शस्त्रोपजीवियों की वीर दौत्र, विद्यार्थियों की गुरुकुल, गायकों की  
गन्धर्वनगर, शिल्पियों की विश्वकर्ममन्दिर, वणिकों की लाभभूमि, वन्दियों की  
धूतस्थान, राज्ञों की पाशुपतागम, शरणागतों की वज्रंजर, विदग्धों की विट-  
गीष्ठी, कामियों की अप्सरानगर, चरणों की महीत्सव समाज तथा ब्राह्मणों की  
धन का प्रवाह या प्रतीत होता था।<sup>४</sup> इससे स्पष्ट है कि नगरों में सभी जातियों  
और वर्गों के लोग निवास करते थे और किसी के गाय जातीय आधार पर दुविधाओं  
में भेद नहीं किया जाता था।

किन्तु दूसरी ओर चौर, जुआरी, उचकों और मंजूओं की भी कमी नहीं  
थी। सायंकाल के बाद ये लोग राजमार्गों पर बैरौक टीक घूमा करते थे। जिससे  
मले आदमियों का निकलना एकदम आरम्भित था। मृच्छकटिक में जब चारुदत्त  
मैत्रेय की चौराहे पर मातृदेवियों की बलिभेंट करने हेतु भोजना चाहता है तो विदूषक  
कहता है - 'नहीं जाऊँगा, और किसी को भेज दों। -- इस रात्रि के प्रथम पहर  
में यहाँ सड़क पर गणिकाएँ, विट, चट और राजा के मुँह लगे श्वक घूम रहे हैं, अतः  
भेदक के लोभी काले सर्प के नाम से आये हुए ब्रूह के समान मारा जाऊँगा।'<sup>५</sup>

#### ग्राम्य समाज-

यद्यपि संस्कृत साहित्य का सम्बन्ध राजदरबारों से ही अधिक रहा है, फिर  
भी उसमें विभिन्न ग्रामों का उल्लेख और ग्राम्य जीवन के चित्रण का सर्वथा अभाव—

१- मै० दू० ३०

२- काद० कथामुख ।

३- देखिए-मैघदूत, २२-३६ तथा काद०,  
कथामुख (उज्जयिनी वर्णन)

४- मृच्छ०, १। १६ के बाद विदूषक का कथन ।

५५ हर्षा चरित , तृतीय उच्छ्वासे ।

नहीं है। कथापरित्यागर में बहुवर्णग्राम,<sup>१</sup> कलापग्राम,<sup>२</sup> वल्लीलक ग्राम,<sup>३</sup> लावाणक ग्राम,<sup>४</sup> नन्दिग्राम,<sup>५</sup> और वसुमतिग्राम का तथा विभिन्न बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में <sup>७</sup> क्वटग्राम,<sup>८</sup> ब्राह्मणग्राम,<sup>९</sup> रामग्राम,<sup>१०</sup> वणिग ग्राम<sup>११</sup> वासुव ग्राम<sup>१२</sup> कृषि ग्राम,<sup>१३</sup> गौचर ग्राम,<sup>१४</sup> कमग्राम,<sup>१५</sup> कौलिग्राम,<sup>१६</sup> नालन्दा ग्राम<sup>१७</sup> आदि ग्रामों के नामों के साथ-साथ वहाँ के निवासियों की जीवका आदि के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त वर्णन उपलब्ध है। अथशास्त्र,<sup>१८</sup> और शुक्लीति,<sup>१९</sup> में ग्राम-निवेश पर विस्तृत चर्चा हुई है। उपर्युक्त ग्रामों के नाम देखकर यह स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में गाँवों के नाम जाति अथवा व्यक्ति के नाम पर भी रखे जाते थे। इन ग्रामों का स्वरूप क्या था? इसकी जानकारी के लिए विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदत्त ग्राम-परिमाणार्थों पर दृष्टिपात करना होगा।

तथा शुद्रजनप्राया सुसुमदकृष्णवर्णा ।

दौत्रौपर्माणममर्थे वदतिप्रसंज्ञिता ॥<sup>२०</sup>

विप्राश्च विप्रभृत्याश्च यत्रैव वसन्ति ते ।

त तु ग्राम इति प्रोक्तः शुद्राणां वा एव च ॥<sup>२०</sup>

ग्रामाः ह्यटाद्विन्याः<sup>२१</sup>

उपर्युक्त परिमाणार्थों के आधार पर ग्राम का स्वरूप कुछ इस प्रकार का निश्चित होता है कि - गाँवों में ब्राह्मण, ब्राह्मणों के वैक, सुसुमद कृष्ण और

१- कथा०, १।७।४१

२- वहीं, ८।४।३६

३- वहीं, १।२।६।३६

४- वहीं, ३।१।११६

५- वहीं, १।२।३५।११६

६- वहीं १।४।४।४०

७- दिव्या १।२।२०, २४

८- वहीं, २।२।१६

९- वहीं, २।४।११-१४

१०- वहीं, १।२।२४-२६

११- वहीं, १।१-२, ६।११-१२

१२- ललित०, ६०।२

१३- वहीं, १।२।२३, १।७।१२

१४- महावस्तु, जि० २।८।३।१७-१८।६

१५- वहीं, जि० ३।५।१२-१४

१५- वहीं, जि० ३।५।६-७

१६- अथ०, वात० १७, अ०८, अधि० ३।

१६- शुक्र० १।१३२, १६२, २३२, २४४, २७१, २८१

१७- मार्कण्डेयपुराण, ४६।४७

आदि

२०- श्रीमद्भागवत ४।१८।३१ पर श्रीधर स्वामी।

२०- विष्णु० १।६।१८ पर श्री धर द्वारा उद्धृत।

अधिकांश शूद्र रहते थे। उनके चारों ओर कृषियों-य उपजाऊ भूमि होती थी और मध्य में बाजार, उद्यान आदि का आवरण होता था।<sup>१</sup>

संस्कृत कवियों ने ग्रामीण जीवन के चित्रण में विशेष रुचि नहीं दिखाई। उन्होंने केवल कुछ मण्डकप्लुतिन्याय से प्राप्त प्रासंगिक अवसरों पर ग्रामीण ललनाओं, कृषक परिवारों और खेतों के सौन्दर्य का संक्षिप्त उल्लेख मात्र किया है। कालिदास ने रघुवंश में उन ग्रामों का बिना नाम निर्दिष्ट किए ही उल्लेख मात्र किया है जिन्हें राजा विलीप ने ब्राह्मणों का दान में दे दिया था। उनके स्थान-स्थान पर स्तम्भ खड़े थे।<sup>२</sup> ऐसे ग्राम अग्रहार कह जाते हैं। कृषि गाँवों का प्रमुख उद्यम था। कृषि की सफलता अधिकांश में वर्षा पर निर्भर रहती थी। पशुपालन भी ग्रामीणों का एक व्यवसाय था। वसिष्ठ आश्रम में जाते समय राजा विलीप की मार्ग में पड़ने वाले गाँवों के बड़े-बड़े घासी मन्त्र गाय का ताजा मक्खन भेंट में लाये थे।<sup>३</sup> शिशुपाल वध में क्वार के महीने में गीत गाती हुई हिरणों के घान के खेतों की<sup>४</sup> और कुमार पाल चरित<sup>५</sup> में ईश, चना, मटर के खेतों की रखवाली में मस्त गीत गाती हुई कृषक ललनाओं का उल्लेख मात्र हुआ है। गौवधन की खेत रखाने वाली कन्याएँ इतनी सुन्दर हैं कि जाने जाने वाले परिचित व्यक्ति भी उनके मार्ग पृच्छ-पृच्छकर उन्हें तंग करते हैं, गर्जर वनानि वाली के हाथ इतनी सुन्दर हैं कि उनकी आकृषित होकर गजराँ की आवश्यकता न होने पर भी लीग रुक-रुक कर गजराँ के दाम पूछते हैं।<sup>६</sup> दूसरी ओर ग्रामीण युवक भी शहरी युवतियों के लिए कम आकर्षण के केन्द्र न थे।

ग्रामीण जीवन का चित्रण प्रबन्धकाव्यों की औदात्त मुक्तकों में बहुत सफल हुआ है। इस दृष्टि से विद्याकर का सुभाषितरत्नकौश बहुत ही महत्वपूर्ण है। इस कौश में हम श्रीगणेश्वर के नाम से संकलित मुक्तकों में नदी तट पर विश्राम करते हुए ग्वालों की

१- रघु० १।४४

२- त्वय्यायतं कृषिफलमिति--। मैघ० १६

३- रघु० १।४५

४- शिशु०, ६।४६, १२।४३

५- कुमारपाल०, ५।६६-७०

६- आर्या०,

७- वही,

८- ग्रामतरुणां तरुण्या नववज्रमंजरी-एनाथकरम्।

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥

- काव्य० १।३ में गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण।

९- सुभाषितरत्नकौश, २२



(१०)  
खलिहान में काम करते हुए तथा खरगौश को भगाने के लिए औजार फेंकते हुए मजदूरों की, खरगौश का तेल पेरने में लगे हुए किसानों की, और अनाज कूटने में लगे हुए कृषक पत्नियों की ध्वनि है।

गाँवों में जहाँ एक और समृद्ध कृषक थे, वहीं दूसरी ओर भूख-मरणा-  
नियंत्रण की भी कमी नहीं थी। एक भूखा गृहस्वामी अपनी भूखी पत्नी को  
धीरज बँधाता हुआ कह समझाता है कि 'वर्षा आने दो, उस समय हमारी  
कपापड़ी पर जो लौकी पैदा होगी उससे हम राजा की तरह मौज उड़ाएंगे'।  
गिलहरी को गूलर ही भेजा है। वैचारे भूख किसान को लौकी ही मोहनमोग है।  
आज भी गाँवों में न जाने ऐसे कितने परिवार हैं जो वर्षा आने पर लौकी पैदा  
होने की आशा में जीते हैं। एक दूसरे कृषक परिवार को केवल एक ही कपड़े में  
गुजारा करना पड़ता है।<sup>५</sup> एक अन्य परिवार के पास जीविका का साधन एक  
मात्र बैल है, वह भी काम करते-करते इतना थक जाता है कि उससे उठा भी नहीं  
जाता तो पूरे परिवार के हौश उड़ जाते हैं।<sup>६</sup> कितना यथार्थ चित्रण है गाँव  
के गरीब किसान का।

वन्य समाज-

संस्कृत साहित्य में हमें वन्य समाज के दो रूप देखने को मिलते हैं - प्रथम  
तपोवन में रहने वाले कृषि-मुनियों का समाज और द्वितीय शील, कील, किरात,  
चाण्डाल आदि का समाज। तपोवन अत्यन्त पवित्र समझा जाते थे। अभिज्ञान-  
शाकुन्तल में राजा दुष्यन्त कण्व के पवित्र आश्रम के दर्शन के अपने को पवित्र करना  
चाहता है।<sup>७</sup> कृषि लोग वही शान्त स्वभाव के होते थे किन्तु उनमें कष्ट देने वाले  
को भस्म कर देने वाले प्रचण्ड तेज का भी अभाव न था। राजा भी विनीत  
वेश में ही तपोवन में प्रवेश करता था।<sup>८</sup>

१- वही, ३००

२- वही, ३१८

३- वही, ११७८, ११८२

४- वही, १३०६

५- वही, १३१०

६- वही, १३१७

७- राजा शूत, चौदयाश्वत्थ। पुष्याश्रमदर्शन तावदात्मानं पुजिष्ये। अभि० अंक १

८- वही, २७

९- विनीतवैष्णव प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि। अभि०, प्रथमांक।

कृषि लोग स्वयं ही जंगलों से क्षमिधा, कुशा और फल एकत्रित करते थे<sup>१</sup>। वे अपनी पक्षिकृतियों के हृदय-गिदौ विभिन्न प्रकार के वृक्षा लगाते थे जिन्हें कृषि कन्यारों<sup>२</sup> और कृषि पत्नियों स्वयं टींचती थीं। उनकी कुटियाँ के आँगन नीवारों और खों<sup>३</sup> से तथा भीतरी भाग आँवला, लवली, लौंग, बैर, कैला, लकुच, आम, कटहल, और ताड़ आदि फलों से भरे रहते थे। विभिन्न प्रकार के शस्त्रों के अध्ययन-अध्यापन और ज्ञान-तप यज्ञ-युजा आदि के साथ-साथ मूँज की भखला बनाने, रुद्राक्षा की माला गुँथने, क्षमिधा अन्न एवं कमल बीज इकट्ठा करने, कुटिया काँच और मृगचर्म पकाई का काम भी काम कृषि लोग ही करते थे।

भील, चाण्डाल आदि जंगली जातियों के ग्रामों और उनकी जीवन-मदति का विस्तृत वर्णन हमें कादम्बरी और हर्षचरित में मिलता है। चाण्डालों की बस्ती पक्कण कही जाती थी। वे लोग अपने घरों के चारों ओर हड्डियाँ गाड़कर बाँड़ बनाते थे। उनके आँगन प्रायः कटे-कुतरे मॉँस, चवीं, हड्डी, रुधिर से भरे रहते थे। शिकार आजीविका, मॉँसभोजन, चवीं तेल और चमड़ा उनका विक्रीना होता था। वे कुत्ते बूब पालते थे। वे लोग गाँव अथवा शहर में आते समय फाँटे बाँट की जमीन पर पीटते हुए, अथवा जीर-जीर से आवाज़ देते हुए चलते थे जिससे मनुष्य उनके स्पर्शमय से भागे से हट जायें।

१- रघु०, १। ४६

२- वहीं, १। ५१, अमि० १। २६

३- मार्ययालीपासुद्रया स्वयमुपरचितालवाल के करपुटलिले कावर्धिहै। सुतनिर्विशेषीर-पशीमितं पादमे --- । कादम्बरी, आस्त्यक्रम वर्णन।

४- रघु० १। ५२

५- उट जाजिरप्रकीणशुष्यच्छ्यामाकम्, उपरगृहीता-मलकलवली लवंगककैन्दूरकदली लकुचतपनरताल-फलम्-----। काद० जाबाल्याश्रम वर्णन।

६- पूज्यमानपितृदेवतम् ----- ग्रथ्यमानादामालम् -----। वहीं

७- कादम्बरी, उत्तराधै, पक्कण (चाण्डालवस्ती) वर्णन।

८- कादम्बरी में चाण्डाल कन्या के हाथ में फटा हुआ बाँट इसी उद्देश्य से दिखाया गया है।

९- अपररत आयतिः अपररत । कि० प्रेक्षाधै ? - म० क० अंक १०

विन्ध्याटवी के समीप में ही स्थित आदिवासियों के गाँव (वन्ध्यामक) का वर्णन करते हुए बाणा ने बताया है कि गाँव के चारों ओर जंगल फैला हुआ था, दूर-दूर पर छोटि-छोटि इक्के दुक्के खेत थे जिनमें विना हल बैल के ही केवल कुदाल से खेद कर लोग कुछ बीज लेंते थे। वे लोग कीयला घुँकने और लकड़ी काटने का भी काम कर लेंते थे किन्तु अनाधिकृत लकड़ी काटने वाले ग्रामीणों की कुल्हाड़ियाँ अरण्यपालों ने छीन ली थीं। वे लोग प्रायः कुम्भवी जाति के थे जो लकड़ी काटने आदि के लिए जंगल में आते समय गले में कलठा की पोटली और पानी की घालियाँ लटका कर लेंते थे। कुछ लोग जंगलों में शीघु, रुई, अलसी, जून, सहद, मीम, मधुर पिच्छ, कपित्थ, बूटआदि इकट्ठा करते थे। जंगलों पालों को बीनकर उन्हें बचने के लिए गाँव की स्त्रियाँ आस-पास के गाँवों में चली जाती थीं। उनके घर बॉल, नरकुल और सरकड़ों से बने होते थे। कुछ अच्छे किसान भी थे जिनके पास अधिक जमीन होने के कारण हल-बैल भी थे। वे कुल्हाड़ियों से खेतों में खाद डाल लिया करते थे। ईख के लहलहाते खेतों में मैसों की लम्बी हड्डियाँ जंगली जानवरों को डराने के लिए गाड़ देते थे।

#### ऐतिहासिक आधार पर समाज का वर्गीकरण-

पुरुषार्थ चतुष्टय की मानव जीवन का परमलक्ष्य मानकर हमारे कृषि-मुनियों ने मानव समाज को वर्ण और आश्रम धर्मों बाँधकर दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र - यह चार वर्ण हैं जिन्हें ऋग्वेद में पुरुषा के क्रमशः मुख, बाहू, जंघा और पैरों में उत्पन्न बताया गया है। ब्राह्मण, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास - ये चार आश्रम हैं जिनमें रहकर मनुष्य अपने की पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के योग्य बनाता है। ऐतिहासिक साहित्य में सर्वत्र वर्णश्रम व्यवस्था के प्रति दृढ़ आस्था व्यक्त की गई है। इस व्यवस्था की कायम रखना राजा का परम कर्तव्य था। कालिदास ने रघु की 'वर्णाश्रमाणां गुरुः' कहा है। दुष्यन्त ने शासनकाल में नीच से नीच व्यक्ति भी इस व्यवस्था का उल्लंघन नहीं करते थे। इस व्यवस्था की तोड़ने पर ही राम की शूद्र तपस्वी शम्भूक का शीर्ष-च्छेद करना पड़ा था। कालिदास का स्पष्ट अभिमत है कि शूद्र तपस्वी को जी मरणोपरान्त उन्नति प्राप्त हुई, वह वर्णधर्म का उल्लंघन कर शौरतम से नहीं,

१- वैदिक हर्षचरित, अष्टमोऽध्यायः

२- ऋ०, पुरुषाष्टक, १२

४- वहीं, पृ. १६

३- नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मी मनुना प्रणीतः। - रघु, १४। ६५

४- वहीं, पृ. १६  
५- शाकुं, पृ. १०  
६- रघु, १५। ४६-४७

राजा के द्वारा प्रदत्त दण्ड के कारण थी ।<sup>१</sup>

इस वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण की सर्वोच्च सामाजिक सम्मान प्राप्त था । वह सम्पूर्ण पृथिवी पर पूज्यतम माना जाता था ।<sup>२</sup> उसके अमृत अपराध दाम्य थे ।<sup>३</sup> हत्या जैसा क्रूरतम अपराध करने पर भी वह अवध्य था । ऐसी स्थिति में उसे केवल देश से निकाल दिया जाता था, और उसकी पत्नी सम्पत्ति उसे ही दे दी जाती थी<sup>४</sup>

यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना और अध्यापन कराना- ब्राह्मणों का धर्म था । सामाजिक उत्सवों,<sup>५</sup> यज्ञों,<sup>६</sup> और वृत्तीपवास<sup>७</sup> आदि के अवसर पर उन्हें भोजन एवं दक्षिणा दी जाती थी । कुछ ब्राह्मण ऐसे भी होते थे जो दावतों में जाना पसन्द नहीं करते थे और दान-दक्षिणा भी नहीं लेते थे । बाणभट्ट के पूर्वज त्रिवर्ण का भोजन नहीं करते थे,<sup>८</sup> याचना की वृत्ति से पराङ्मुख थे । मुच्छकटिक में शर्विलक भी ऐसे ही अप्रतिग्राह्य चतुर्वर्दी ब्राह्मण का पुत्र है ।

असंस्कृत ब्राह्मण की आदर का पात्र था ।<sup>१०</sup> संस्कृत नाटकों में ब्राह्मण विदूषक को, जो सर्वथा मूर्ख है, राजरानियों द्वारा "आर्य" के रूप में सम्बोधित देखते हैं ।

जिन क्षेत्रों में बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभाव था, वहाँ वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण की दायिग्य के बाद ही स्थान मिला है ।<sup>११</sup> कुछ ऐसे भी ब्राह्मण थे जो उपर्युक्त ब्राह्मण धर्म का पालन नहीं करते थे, मुच्छकटिक में ब्राह्मण के शर्विलक गणिका प्राप्त के लिए -----

१- कृतदण्डः स्वयं राजा लभे शूद्रः एतां गतिः ।

तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलंघिना ॥ वहीं, १५। २३

२- द्विजोत्तमाः पूज्यतमाः पृथिव्याम् । - मध्यमुख्यायोग, १।६

३- अवपराधे वध्यत्वान्मुच्यता द्विजसत्तमः । वहीं, १।३४

४- म०क०, ६।३६

५- वैदन्तीजिजीविषायनलोलुपेनार्थं गीतमेव :- माल० अंक ३ ।

६- पाञ्च० १।४

७- आर्यं सम्पन्नं भोजनम्, निःउपत्तं वा अपि च दक्षिणापि ते भविष्यति । क० अंक० १

८- वर्णत्रयव्यावृत्तिविशुद्धान्त्याः । हर्षा ३६ ६-म०क०, अंक ३।

१०- इति, १।४

११- चत्वारि वै भिदावः वर्णाः । क्रमे चत्वारः - दक्षिणा ब्राह्मणा वेश्या शूद्राः । महावस्तु, जि० सं १३६।५

वीरो करता है,<sup>१</sup> ब्राह्मण वारुदत्त अब साक्षात् है और वह भी गणिकावन्तिका की वधू बना लेता है।<sup>२</sup> भाषाओं में राजा ब्राह्मणों का विशदचित्रण हुआ है। दौमन्त्र में भी देशोपदेश, नर्माला और समयमातृका में प्रच्छन्न पापावारी ब्राह्मणों का मण्डा फौड़ किया है।

समाज में ब्राह्मण के बाद दात्रिय का स्थान था, यद्यपि बौद्ध परम्परा में उसे ही प्रथम और श्रेष्ठ माना गया है जो विपश्चिद<sup>३</sup> दूरों की रक्षा करे उसे दात्रिय कहा गया है।<sup>४</sup> दात्रिय की सम्पत्ति उसके शस्त्र होती थी। ब्राह्मणों के मान ही उनके जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न किए जाते थे।<sup>५</sup> संस्कृत काव्यों में दात्रिय की राजा एवं योद्धा के रूप में विव्रित किया गया है। राजा के रूप में प्रजापालन और लोकानुराजन उसका परमकर्तव्य था<sup>६</sup> और योद्धा के रूप में रण में पीठ दिखाना भीषण पातक और अपयश।<sup>७</sup>

वैश्य वर्णव्यवस्था की तीसरी कड़ी है। धनार्जन हेतु समयानुक्रम कराने के कारण इन्हें वैश्य कहा गया है।<sup>८</sup> वाणिज्य कर्म करने के कारण वाणिक इनकी संज्ञा थी। ये दूर-दूर नगरों में जाकर व्यापार से धनार्जन कर अपने विभव का विस्तार करते थे।<sup>९</sup> संस्कृत बौद्ध साहित्य में विभिन्न वाणिज्य कार्यों के आधार पर इनकी श्रेणियाँ के नाम प्राप्त होते हैं यथा- काष्ठ वाणिज्य,<sup>११</sup> तृणवाणिज्य,<sup>१२</sup> फलवाणिज्य आदि<sup>१३</sup> →

१- अहं हि चतुर्वेदविदो प्रतिग्राहकस्य पुत्रः शक्तिर्लोकं नाम ब्राह्मणं गणिकामदकिकार्थं अकार्यं मनुतिष्ठामि । - मृ० क० तृतीयार्क

२- मृ०क० अंक १०

३- दातात्किञ्चायत इत्युदग्रः दात्रस्य शब्दों भुवनेषु ह्यः । -रघु० २। ५३

४- बाणाधीनाः दात्रियाणां स्मृद्धिः । पंचरात्र, १। २४

५- यत्तदात्रियकुमारस्य जातकमादिपिवानं तदस्य भगवता च्यवननारिषामनुष्ठितम् ।

६- अभिज्ञा०, ५। ७ (७) द्रष्टव्य वैष्णोहरार, ३। ३५, ४। ८ (८) दिव्या०, ३२६। ५-६

८- वहीं, ३२६। १४ (१०) त्रिमनेननगराभिगमनजनितविभवविस्तरी वाणिज्यवा -----  
मृ०क० अंक २

११-महा०, जि० ३। ११३। १८ (१२) वहीं, ।

१३- वहीं, जि० ३। ११३। ६

एक मात्र धनाजैन लक्ष्य होने के कारण थे लोभी, शिष्ट जनद्वेषी और कठोर ही जाते थे ।<sup>१</sup>

वर्णव्यवस्था में शूद्रों का निम्नतम स्थान था । द्विजगण की शूद्र का साक्षिण्य कभी स्वीकार्य नहीं था ।<sup>२</sup> उन्हें वैदपठन का अधिकार नहीं था । उनकी देव पूजा भी बिना मन्त्रों के ही सम्पन्न होती थी ।<sup>३</sup> दिव्यावदान के अनुसार जो विकीर्णप्राप्त के लिए दुष्ट, कर्म अपनाने के कारण इन्हें शूद्र कहा गया है<sup>४</sup> ।

आश्रमस्था के आधार पर समाज चार वर्गों में विभक्त था- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और पुन्यासी । कालिदास ने एक ही श्लोक में इन चारों आश्रमों के कर्तव्यों का इस प्रकार उल्लेख किया है -

शैश्विऽभ्यस्त विश्रानां यौवने विषयेऽभिषिण्णाम्

वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगिनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ( रघु०, १८)

ब्रह्मचारी गुरुकुलों में रहकर विद्याध्ययन करते थे । दण्ड, मृगवर्मा, ऋषि और यज्ञोपवीत उनकी वेशभूषा थी । गुरुओं के लिए कुश, उमिधा, पुष्प, मिट्टी का प्रबन्ध उन्हें ही करना पड़ता था ।

यद्यपि रघुवंश में रघु गुरुकुल न जाकर घर पर ही अध्ययन करता है तथापि उसे रणरमण का पवित्रचर्म पहिनकर ब्रह्मचर्य का पालन करना ही पड़ता है । इसी प्रकार कादम्बरी में चन्द्रापीड गुरुगृह नहीं जाता, उसके अध्ययन के लिए एक अलग विद्यालय बनवाया जाता है किन्तु वहाँ गुरुओं के नियन्त्रण में ही रहना पड़ता है । उसे उस विद्या मन्दिर से बाहर जाने की आज्ञा नहीं है । राजा की विद्यालय से उसे तभी कुलाता है जबकि गुरु अनुमति प्रदान कर देते हैं<sup>५</sup> ।

गृहस्थाश्रम की सभी आश्रमों में श्रेष्ठ कहा गया है ।<sup>१०</sup> धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति ही गृहस्थ का परमलक्ष्य है । इसकी प्राप्ति के लिए देव, पितृ एवं अतिथि पूजा करना आवश्यक है ।<sup>११</sup> एक सुखी गृहस्थ का चित्र इस प्रकार है-

१- लुब्धोऽर्थवान् दायुज्जावमानो वणिक् स्ववत्तावृत्तिककेशश्च । चारु० ३।७

२- द्विज इव वणल पार्श्वे न गच्छति । पुरा० १।६

३- वार्षलिस्तु प्रणामः स्यात्तदमन्त्राचितं देवतः । प्रतिभा० ३।५

४- दिव्या०, ३२।७-८

५- कादम्बरी, कथामुख श्लो० १२, १४

६- कुमार० ५।३०

७- आगृहीतमिदं कुशं कुतुम्भद्विजः अध्ययनसुखेन

शिष्यानुमतेः --- काद० जाबाल्याश्रम वर्णन ।

८- रघु० ३।३१

९- कादम्बरी, पूर्वार्ध, २१

१०- गृही ह्याश्रमिणां वरः । लघु-११- वहीं,  
अश्वत्थि० ५।१।१५२

“हम कलह रहित होकर हर घर में अत्यन्त सुखी रहते थे और देवता, पितर तथा अतिथि को देकर बड़े हुए परिमित अन्न का खाया करते थे।”<sup>१</sup>

वानप्रस्थ जीवन का तीसरा आश्रम है। कालिदास में रघुवंश में इस आश्रम का उल्लेख नहीं किया। रघु अज की राजकायें सँपकर नगर के बाहर एक कुटियाँ में रहते हैं। कालिदास में इसी “अन्तिम आश्रम” की संज्ञा दी है।<sup>२</sup> किन्तु विष्णुपुराण में गृहस्थ जीवन के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम न स्वीकार करने वाले व्यक्ति को “पापकर्म” कहा है।<sup>३</sup> ती फिर वणाश्रमधर्म के प्रबल पोषक कालिदास के वानप्रस्थ का उल्लेख क्यों नहीं किया? कारण स्पष्ट समझ में नहीं आता। किन्तु इतना अवश्य है कि वे वानप्रस्थाश्रम में भी श्रद्धा अवश्य रखते हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में वैरवानस वानप्रस्थ ही प्रतीत होते हैं क्योंकि बृहत्पराशरस्मृति में वैरवानस वानप्रस्थ ही बताए गए हैं।

आश्रमों की इस श्रृंखला में संन्यास अन्तिम आश्रम है। संस्कृत साहित्य में अनेक प्रकार के साधु-संन्यासियों का उल्लेख मिलता है। तस्वी,<sup>४</sup> वैरवानस,<sup>५</sup> भ्रमण,<sup>६</sup> मुनि,<sup>७</sup> वणी,<sup>८</sup> आदि संन्यासियों के अनेक भेद थे। ये संन्यासी विविध धार्मिक एवं दार्शनिक मतों के अनुयायी होते थे। ब्राह्मणभट्ट में हर्षी चरित में बौद्धभिदु दिवाकर मित्र के आश्रमभेदों वाले निम्नांकित मतानुयायी संन्यासियों का उल्लेख किया है। - (१) आर्हत, (२) मस्करी, (३) श्वेतपट, (४) पांडुरि भिदु, (५) मागवत, (६) वणी, (७) केशलुवन, (८) कापिल, (९) जैन, (१०) लौकायतिक, (११) काणाद, (१२) औपनिषद, (१३) ऐश्वरकारणिक, (१४) कारन्धमी, (१५) धर्मशास्त्री, (१६) पौराणिक, (१७) राम्ततन्त्र, (१८) शब्द, (१९) पांचरात्रिक और (२०) अन्य।<sup>१०</sup>

१- वहीं, द। १। १६२

२- रघु० ८। १४

३- विष्णु ३। १८। ३९

४- बृहत्पराशर० अध्याय ११

५- अमि० १। २३

६- अमि० प्रथमांक ।

७- मृ० क० अंक ७ ।

८- अमि० स८

९- काद० अनु० २०८

१०- अग्रवाल, बार्हुवशरणा, हर्षी चरित एक रा० अध्ययन, वृ० १०७

## कर्म के आधार पर समाज का वर्गीकरण-

मानव समाज बहुत विस्तृत है। देश, काल और परिस्थितियों के साथ-साथ उसमें निरन्तर परिवर्तन-परिवर्धन होते रहते हैं। अतः मानव की आवश्यकताएँ, और श्रृंखलाएँ भी उसी द्रुतगति में घटती बढ़ती रहती हैं। फलतः उनकी पूर्ति एवं तृप्ति हेतु विविध प्रकार के व्यवसायों का आविष्कार मानवस्वयं कर लेता है। इन व्यवसायों अथवा जीविकोपार्जन हेतु किए जाने वाले विभिन्न कार्यों का परिगणन कराना प्रायः असम्भव ही है। संस्कृत साहित्य में मालाकार,<sup>१</sup> धीवर,<sup>२</sup> जुलाहा,<sup>३</sup> गौप,<sup>४</sup> धीषा,<sup>५</sup> नापित,<sup>६</sup> चर्मकार,<sup>७</sup> कुम्भकार,<sup>८</sup> नट,<sup>९</sup> नर्तक, गायक, कुशीलव आदि अनेक जातियों के नाम मिलते हैं जो उनके व्यवसाय के आधार पर ही रखे हैं। दुर्लपरम्परा से प्राप्त व्यवसाय निन्दित एवं धृष्टित होने पर भी त्याज्य नहीं माना जाता था।<sup>१०</sup> अध्यापक, छात्र, पुरोहित, शैनिक, कर्मकर, दास, गणिका, वैश्या आदि भी कर्म के ही आधार पर समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक् पहिचाने जाते थे।

विभिन्न प्रादेशिक एवं विदेशी जातियों का भी उल्लेख संस्कृत काव्यों में मिलता है यथा- यवन,<sup>१०</sup> खर, खत्ति, खड़ा, खडह, विलय, कणाट, कर्ग, प्रावरणा, द्रविड़, चील, चीन, बर्बर, खेर, खान, मुख,<sup>११</sup> मधुघात,<sup>१२</sup> हूणा,<sup>१३</sup> कम्बीज<sup>१४</sup> किरात,<sup>१५</sup> किन्नर, आदि।

१- कथा०, ६८। ४। सू३

३- कथा०, ६। २। ६६

५- रघु० १। ४५

८- वहीं, अष्टमांक

१०-अभि०, प्रथमांक

१२-रघु० ४। ६८

१४-वहीं, ४। ७६

२-वहीं, ६। २। ३३६, अभिज्ञा० षष्ठ अंक।

४- वाल चरित द्वितीय अंक

६- मृ० कृ० ६। २२

७- वहीं षष्ठ्यांक

९- रहज किल यद् विनिन्दितं न खलु तत्कर्म

विवर्जनीयम् । अभि० ६। १

११- मृ० क० अंक ६

१३- वहीं, ४। ६६

१५- वहीं, ४। ७८



## खान-पान -

संस्कृत साहित्य में दोनों प्रकार के - आमिष और निरामिष भोजनों का विस्तृत उल्लेख मिलता है ।

### आमिष भोजन-

संस्कृत साहित्य से पता चलता है कि मांस खाना अहिंसित नहीं समझा जाता था । ब्राह्मण और कृषि तक मांस का सेवन करते थे । विक्रमादित्य में भी ब्राह्मण विद्वेषक मृगी का मांस खाने की इच्छा व्यक्त करता है ।<sup>१</sup> और उत्तर राम चरित ~~महाकाव्य~~ में कृषि <sup>वासिष्ठा</sup> आगमन पर उनके स्वागतार्थ मधुमक के लिए बछिया मारी जाती है ।<sup>२</sup> मांस प्राप्ति के दो साधन थे- शिकार और वधशाला । वधशाला में सम्भवतः पकड़कर लिये गये या पालतू पशुओं का वध कर उनका मांस बेचा जाता था ।<sup>३</sup> बाण मट्ट में हर्षचरित में राजा के भोजनालय के सामानों में बूअर के चमड़े की फीति से बंधे बकरे, भूष तथा चटकों का उल्लेख किया है ।<sup>४</sup> पशु, पक्षी और मत्स्य- तीन प्रकार का मांस खाया जाता था । मत्स्यमांस सर्वाधिक लोक प्रिय था । बड़े घरानों में तो मत्स्यमांस की इतनी अधिकता रहती थी कि कुंते तक उन्हें ढोड़कर मृतक का सेवन नहीं करते थे ।<sup>५</sup> धीवर मक्खी पकड़ने का काम करते थे ।<sup>६</sup> पक्षियों का शिकार करने वाले की शकुनिलुब्धक कहा जाता था ।<sup>७</sup>

### निरामिष भोजन-

निरामिष भोजन में विविध प्रकार अन्नों, फलों, शाकीय और दालों के साथ-साथ घृत, तेल मसूर, दूध, दही, शर्करा आदि पदार्थों का प्रयोग होता था ।  
यव,<sup>८</sup> तण्डुल,<sup>९</sup> तिल,<sup>१०</sup> नीवार,<sup>११</sup> श्यामाक,<sup>१२</sup> शलि,<sup>१३</sup> आदि अन्नों और भाषा

१- अहमपि प्रार्थमानो यदा मिष्टहरिणीमांसभोजनं न लभे- विक्रमादित्य

२- येनानुतेषु वसिष्ठ मिश्रषु वृद्धतरो विशणिता । उत्तर० अंक ४

३- अहमपि येनपरिरवर इव गृध्रआमिषलालुषो भोरकश्च । माल० अंक २

४- हर्ष चरित, पृ० ११०

५- म०क० १। २

६- अह शक्रवतारोभ्यन्तराल्वासी धीवर । ७- ततो महत्यव प्रत्युषा दास्याः पुत्रैः शकुनिलुब्धकः । वही, अंक २ ।

८- चारु०, १। २

९- वही, अंक १ में सूत्रधार का विद्वेषक के प्रति वाक्य ।

१०- अन्यथावश्यं चित्तं मे तिलोदकम् ।

११- अमि०, १। १४

अमि० अंक ३

१२- वही, ४। १४, काद० जावाल्याम्रमवर्णन ।

१३- रघु० ११। ५३

( उड़द ), कुल्पाण, <sup>१</sup> मुद्ग, (मुंग) <sup>२</sup> जादि दालों का प्रयोग किया जाता था ।  
 नमक, <sup>३</sup> मिर्च, <sup>४</sup> हींग, <sup>५</sup> जीरा, नागरमोथा, <sup>६</sup> बेव, <sup>७</sup> राँठ, <sup>८</sup> खटाई प्रमुख मसाले थे ।  
 मधु, <sup>९</sup> गुड़, <sup>१०</sup> खण्ड, <sup>११</sup> और मत्स्याण्डिका <sup>१२</sup> भी पदार्थ थे । कथारिक्तानगर में  
 षादरमन्वित मद्य, मोज्य, और लैह - तीन प्रकार की मीजन सामग्री बताई  
 गई है । <sup>१३</sup>

पान-

ब्राह्मणों में पीमामान विशेष प्रचलित था । <sup>१४</sup> अन्तर्गत में मदिरापान  
 का बुरा प्रचार था । मदिरापान की प्रशंसा करते हुए नीमर्व में लिखा है कि यह  
 विचित्र राग के नागर को उत्पन्न करता है, बन्धु के मान शोक को दूर करता है,  
 मित्र के मान वृद्धि करता है और मोह के मान स्मृति का नाश करता है । <sup>१५</sup>  
 विन्ध्याटवी के ग्राम का वर्णन करते हुए बाणभट्ट बताते हैं कि वहाँ प्रत्येक घर  
 में महुए की शराब थी । <sup>१६</sup> स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं । मालविकाग्निमित्र में  
 रानी इरावती मदिरा पीकर मूला मूलने जाती है । शिशुपाल वन में मदिरा के  
 नौ धुव उड़ट मटंग बकती व लड़खड़ाती हुई यादवस्त्रियों का बड़ा ही जीव-वर्णन  
 हुआ है । <sup>१७</sup>

वैशभूषा-

संस्कृत साहित्य में हैं अनेक प्रकार की वैशभूषा का पता चलता है ।

- १- दिव्या० १८४। ५, पुराणकुल्लुत्थुषाशकलानि ० मृ०क० अं० ८  
 २- दिव्या० १८४॥ १० ३- घृतमरिचकवगार षिखी---। प्रतिज्ञा० अंक ४  
 ४- मृ०क० ८। १४ ५- वहीं, ८। १३ ६- वहीं,  
 ७- वहीं, १०। २६ ८- बालच० अं० १, ९- प्रारिक्तमधुरंगत इव।  
 १०- एषा लुल्लुखण्डमौदक्यं श्री ३। ११- मालवि० अं० ३, अवि० अं० २  
 १२- तस्मान्नाविधं मद्यमौज्यलैश्चादिषादराम् ।  
 दिव्यमन्त्रं दुमुक्तिं पपुः पानमपीयम् ।। अथा० २। २३०  
 १३- कादम्बरी, श्लो० ११ १४- मान० ५। १०। १५- हर्षचरित, उच्छ्वा ७।  
 १६- शिशु० १०। १२-१८ १७- ४४०-४४१

वैशम्पायनविष्णुक उपलब्ध- उल्लेखों के आधार पर स्त्री-सुरक्षा दोनों ही अपनी शारीरिक सुरक्षा के लिए विविध प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। ये वस्त्र प्रायः दो प्रकार के थे- कटि प्रदेश<sup>१</sup> ऊपरी भाग को आवृत करने वाले और कटि प्रदेश से अधोभाग के ढँकने वाले। इन दोनों वस्त्रों ( ऊर्ध्ववस्त्र एवं अधोवस्त्र ) की सम्मिलितरूप से 'वस्त्रयुग्म' कहा जाता था।<sup>२</sup> ऊर्ध्ववस्त्र उत्तरीय, या प्रावारक<sup>३</sup> कहलाता था। ( अधोवस्त्र के रूप में शाटिका, शाटी का व्यवहार होता था।<sup>४</sup> पुरुषादिर पर वैष्टन या शिरीविष्टि, बाँधते थे। राजा लोग इय शिरीविष्टन के ऊपर एक स्वर्णपट्ट बाँधते थे जिसे उष्णीषपट्ट कहा जाता था। बाणमट्ट में राजाओं की वैशम्पायन भूषा में तीन प्रकार के पाजामों- स्वस्थान, पिंगा, तुला वार चार प्रकार के कौटों- कुंक, चीन बोलक, वारबाण और क्मरिक का उल्लेख किया है। स्वस्थान तो मोहरी का बूड़ीदार पाजामा था। पिंगा ढीली लवंग जैसा और तुलाजोड़िया जैसा अधोवस्त्र था।<sup>५</sup> कुंक पैरों तक लटकने वाला एक प्रकार का कुर्ता या शेरवानी जैसा कौट था।<sup>६</sup> वारबाण युद्ध के समय पहिना जाता था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार पहलवी वैशम्पायन थे।<sup>११</sup> चीन बोलक चीन देश का पहिनावा था।<sup>१२</sup> इससे ज्ञात होता है कि भारतीय लोग विदेशी वैशम्पायन को फैशन के रूप में अपनाते होंगे। क्रमिक स्त्री-सुरक्षा- दोनों का पहिनावा था। किन्तु दोनों में अन्तर था। स्त्रियों का क्रमिक चालीनुमा था जबकि पुरुषों का क्रमिक मिर्छ के ढंग का।<sup>१३</sup>

१- कथा०, ६। ३। ५०

३- द्रुताक्ष, १। ३

३- अर्ध प्रावारकः समोपरि उल्लिखितः मृ० क० अंक २

४- एकस्य शाटिका का नामरत्न मूल्येन । प्रति० अंक ३

५- जर्जरस्नानशाटी निबद्धम् । मृ० क० अंक ३ (६) पतामि शीर्षीणा स्वविष्टनना मृ० क० प। ३१

७- बु० न०, २३। ६

(८) हर्षविरित उच्छ्वाः ७ ।

( ६- हर्षविरित एक शा० अध्यायन, पृ० १५१ (१०) आगुल्यतावलम्बिता नीलकुंकनावच्छिन्न शरीराम् । काद० अनु० १०

११- हर्षविरित एक शा० अ०, पृ० १५३ (१२) वहीं, पृ० १५४

१३- वहीं पृ० १५५

कृष्ण - मुनि वलकलवस्त्र धारण करते थे ।<sup>१</sup> कृष्णकन्धारें भी वलकल ही पहिनती थीं ।<sup>२</sup> इनके वस्त्र कषायवर्णों के होते थे ।<sup>३</sup> पैरों की रक्षा के लिए मुनिगण काष्ठनिर्मित पादुका<sup>४</sup> और अन्य व्यक्ति उपातह<sup>५</sup> (जूत) तथा पादुकाएँ<sup>६</sup> (चप्पल) पहिनते थे । ब्रह्मचारीगण कृष्णाजिन धारण करते थे ।<sup>७</sup>

## बौली -

संस्कृत काव्यों और जलंकार शास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक प्रकार की भाषाओं का पता लगता है । भाषा है तात्पर्य हमारा उन बोलियों से है, जो समाज एवं साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुकी थीं । और अपेक्षाकृत अधिक भूभाग में समझे जाते बौली जाती थीं । किन्तु बौली का दायें केवल प्रदेश विशेष अथवा जातिविशेष तक सीमित होता है । भरत ने इन्हें विभाषा कहा है -

शबरामीरचण्डाल उचरद्रविडोद्भवाः ॥

हो नवचराणां च विभाषा-----॥ ना०शा० १८। २६-२७

लेकिन संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त संस्कृततर भी भाषाएँ, नम्बडस्त्री, महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती, मागधी, पेशाची, शकरी, चाण्डाली, शावीरी, जमीरी, रक्की, नागूर, उपनागर ब्राह्मण आदि भाषा - विभाषाएँ भी तत्कालीन बोलियाँ ही हैं । इनका विस्तृत वर्णन हम इस प्रबन्ध के आठवें परिच्छेद में करेंगे ।

संस्कृत ग्रन्थों में तत्कालीन वाक्यपद्धति का परिचय मिली नैति मिल जाता है । लोकोक्तियों और मुहावरों बौली के ही विशिष्ट अंग हैं । इनका विवेचन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है । सामान्य बोलचाल की पद्धति के नमूने भाषासाहित्य में दुरदिता हैं । कादम्बरी का एक प्रयोग देखिए जिसे -

१- प्रतिमा० १। २४

२- अतिपिनद्धन वलकलैः प्रियंवदाभिपञ्चितास्मि  
अभि०, अंक १

३- माल० अंक ५, म०क० अंक ८

४- प्रतिमा० ४। २५

५- उपानदयुगलनिदिताप्ततिलचिक्कणाभ्याम् । म०क० अ० ४

६- वन्दनं सलुममा पादुकीपरीणिन दूषिताम् । मा०क०, अंक ५

७-

कुमार० ५। ३०

८- विशेषाविराग के लिए द्रष्टव्य, प्राकृत वैश्व ।

विषाधायन के उपरान्त नगर में प्रविष्ट हुए कुमार चन्द्रापीड के करीनों ने उतावलों में स्त्रियाँ एक दूसरी बुलबाजी कर रही हैं - 'ओ उतावली ! मुझे भी ले चल । जरी जाँच के लिए पगली ! उरगिन तो उँमाउ है । जो पगली ! मुँह पर बिखर बाँधी हो जो डीक कर ले । अरी बेबूझा ! माँघ की चन्द्र लैखा तो डीक कर ले । अरी उन्मादी ! उपहार कुम्भी पर फिरोल मत जाना । अरी कामान्व ! बिखर झूठ को मेट ले । -- ओ निगीड़ी ! कर्णिल्लव की तो ऊपर उरकाले । अरी यौवन की उन्मादी ! लीग देख रहे हैं, हाथी ठक ले । अर बे शरम ! दुपट्टा का ले । अरी प्यासी ! कब तक देखोगी ? ओ पिशाचिन ! तेरी जाननी गिर गई है, लीग देख रहे हैं । ओ शमीली ! कनकियाँ दे, क्या देखती है, आँख नर कर देख । ओ धींगरी, जाननी के मार है मुझे क्या कुकल डाल रही है ।<sup>१</sup>

एक अन्य उदाहरण हर्षो चरित से लीजिए जिमें प्रमाण करती हुई देना के श्लोक में काँवरत विभिन्न कर्मचारियों और शूनीकों की बात-चीत के नमूने इस प्रकार हैं - 'चलो जो देर क्या लगा रहो - ही? अरे घौड़ा तंग कर रहा है । मले आदमी पाँव टूट की तरह क्यों रँग रहे ही यह आँखे वाले लीग हमारे ऊपर गिर पड़ते हैं । -----अरे, बेल लीक झौड़कर कहाँ घौड़ों के बीच भाग रहा है । अरी धीवरी, कहाँ घुरी पड़ती है । ----- मैं चिल्ला रहा हूँ, फिर भी तू नहीं सुनता । अरे गहूँ मैं गिरोगे क्या ? ओ गलवज्जू चुप चाप बैठ । --- ये लौंडे कब तक बेर बीनता रहेगा, डूर जाना है, जल्दी चल । ----- ओ बुड्डे राब की गगरी मत फोड़ देना । --- ए, कौर, सामने उड़द के खेत में - बेलों के लिए एक पूली ली दर्रांत में जल्दी काट ले । कौन जाने यात्रा में चारा मिले या मिले । -- -- ए पगले औरतों की रौंद डालिगा ? क्या तेरी आँख फूट गयी है । -- ओ शराबी धक्का मुक्की के फौर में पड़कर कीचड़ में लीटने लगे ? ----- ए, लौंडे, इधर भागना जा , हाथियों के भीड़ मड़के में पड़ गया तो काम तमाम हो जायेगा ।'<sup>२</sup>

इस प्रकार के उदाहरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत कवि साहित्य में बील-चाल की पद्धति पर भी कितनी सुन्दर वाक्य विन्यासों की रचना करत थे । ये वाक्यों में वक्ता के स्वयं की सहजविव्यक्ति व्यक्त होती है ।

१- 'त्वरितगमन : मामपि प्रतिपालय । ----- मकरध्वजम् ॥

कादम्बरी, अनु० ८२ ।

२- हर्षो चरित, उच्छ्वा ७ (२१०)

## :- गालियाँ :-

### गालिदान की मनोवैज्ञानिकता-

गालियाँ आक्रोश आदि के आवेग से प्रेरित जनमानस की सुव्यक्त अभिव्यक्ति की अत्यन्त प्राचीन और परम्परागत सशक्त साधन हैं। जब कभी मानव में अपने प्रतिद्वन्द्वी की देखा, उसे अपने से होन सम्भरकर गाली देने लगे ललकारा। मार-पीट बू-बू-में-में आदि में शिष्टता जहाँ की तहाँ रखी रह जाती है। ऐसी अवसरों पर मानव के मुख से अनायास ही अपशब्द निकल पड़ते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध हृदय से होता है, मस्तिष्क से नहीं, क्योंकि आवेग की स्थिति में नीचे की दामता ही नष्ट हो जाती है। धीरे-धीरे इस प्रकार के अपशब्द दैनिक व्यवहार में आने लगते हैं, विशेषकर उन लोगों के जो बात-बात पर धैर्यच्युत हो उठते हैं।

मानसिक उद्वेग गालियों के प्रादुर्भाव का मूल कारण है। मानसिक उद्वेग के भी अनेक कारण हो सकते हैं जैसे आक्रोश, जुगुप्सा, उपेक्षा, ईर्ष्या आदि, किन्तु 'अहं' का बर्तन सर्वत्र प्रतिष्ठित रहता है। संसार की प्रत्येक भाषा में 'अहं' की उच्च पुरुषा अथवा फास्ट परसन की जीटि में रखे जाने का यही अभिप्राय है। संदेशन शास्त्र भी आत्म दर्शन की ही परमसुख की संज्ञा देकर प्रकारान्तर से 'अहम्' की रक्षा के प्रति जागरूक दिखाई पड़ता है। 'शरीरमाघं खलुधर्मायनम्' 'आत्मनश्च वीती रक्षीत्' जैसे नीति वाक्यों में भी 'अहम्' के ही स्वत्व की रक्षा की गयी है। अन्य व्यक्ति यदि हमारी आकांगक्षाओं के प्रतिकूल आवरण कर हमारी भावनाओं का तिरस्कार करता है, तो हमें उसकी मलाई से कोई सरोकार नहीं रहता। यही नहीं, हमारे हृदय में उसके प्रति उपेक्षामय जागृत हो उठता है। उसके ऊपरों के प्रति आक्रोश, जुगुप्सा, ईर्ष्या आदि की भावनाएँ बलवती हो उठती हैं और हम अनायास ही उसे मला-बुरा कहने लगते हैं। यह मानव मान की स्वाभाविक प्रकृति है। अतः गाली देने की परम्परा उतनी ही प्राचीन मानी जा सकती है जितनी कि मानव जाति। लेकिन हमें समाज के हमेशा से ही गालि पकन करना मूर्खों की सरलता माना जाता रहा है। - मनस्वियों की नहीं ( राज० ७। ३०४)

## गाली और उसके अन्य समानार्थी शब्द -

संस्कृत कोशकारों में गालि शब्द की निष्पत्ति गल् + णिनि से मानी है। यह धातु उपलब्ध धातुपाठों में गाली के अर्थ में कहीं दृष्टि गीचर नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द प्राकृत अथवा किसी देशी भाषा से संस्कृत में गृहीत कर लिया गया है और संस्कृत में इसके प्रचलित हो जाने के बाद ही टीकाकारों और कोशकारों में इसकी उपर्युक्त प्रकार से व्युत्पत्ति कल्पित कर ली है। इस अनुमान की इस तथ्य से भी बल मिलता है कि गालि शब्द मृच्छकटिक ( ८। ३३ ) और मर्तृहरि के वैराग्यशतक ( १३३ ) से पूर्ववर्ती संस्कृत ग्रन्थों में तो अनुपलब्ध है ही, उचर्यती संस्कृत काव्यों में भी इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है। संस्कृत लेखकों में इस अर्थ में प्रायः 'अधिपेयवचन'<sup>१</sup> शब्द का प्रयोग किया है। कहीं-कहीं आ + कुश, गहाँ, कुत्ता, मत्स्यना, तर्जना जैसे शब्द भी लगभग गाली के ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये सभी शब्द गाली के प्रेमियों की ही सूचित करने में समर्थ हैं। गालि शब्द के पूर्ण भाव की अभिव्यक्ति इनसे नहीं होती। अधिपेयवचन आदिपात्मक गालियों का पर्यायमात्र है। गहाँ अथवा कुत्ता में निन्दा की भावना प्रबल होती है जो अस्वीकार्य है।<sup>२</sup> मत्स्यना अथवा तर्जना गाली-गलीज से युक्त डांट-फटकार को कहते हैं। इसके मूल में क्रोध होता है जिसका पर्यायार्थ है- मयीत्यादन।<sup>३</sup> आ + कुश का वास्तविक अभिप्राय 'कोसना' है। किसी को कोसना भी एक प्रकार की गाली है किन्तु यदि कोसने वाला किसी आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न है, तो उसके कोसने को 'शाप' कहा जाएगा।

## गालियों का वर्गीकरण -

गालियों को प्रमुखतः से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - प्रत्यक्षा, अप्रत्यक्षा और मार्गलिक। सामने खड़े हुए प्रतिद्वन्द्वी को हुना-मुना

१- श्रुतयित्संवाद, पृ० ७१, महाभाष्य ६४, किराता० १। २

२- भाव, पश्य पश्य आक्रीशाति माम्- पृ० ८। ४

३- परगुणानाम्प्रहममुवा ८। १। ८  
परकोशिका

४- अपकार शब्दमयीत्यादनं मत्स्यनम् - वही

कर दी जान वाली गालियाँ प्रत्यक्षा और प्रतिद्वन्द्वी की अनुपस्थिति में उसे लक्ष्य कर दी जान वाली गालियाँ प्रत्यक्षा वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। विवाह आदि मांगलिक अवसरों पर दी जान वाली गालियों में कुत्सा, मलना आदि का भाव न होकर गाली दी जान वाले व्यक्ति के प्रति मात्र परिहास अथवा उसका अनिष्ट निवारण प्रयोजन होता है।

इन तीनों <sup>भेदों</sup> में से प्रत्येक के द-द प्रभेद किये जा सकते हैं - अश्लील, श्लील, व्यंग्य, प्रेम, उपेक्षा और आक्षेप। अश्लील गालियाँ भी दो प्रकार की होती हैं - साक्षात् श्रोता को लक्ष्य कर दी जान वाली गालियाँ और श्रोता के माँ-बाप <sup>अर्थात्</sup> कुल की लक्ष्य कर दी जान वाली गालियाँ। सामान्य और जुगुप्साव्यन्क भेद से श्लील गालियाँ भी दो प्रकार की होती हैं। जाति, कर्म, गुण, आकृति भेद से व्यंग्यात्मक गालियों के चार प्रभेद हैं। प्रेमपणी गालियाँ स्नेह और प्रणय भेद से दो प्रकार की होती हैं। स्नेह में दी जान वाली गालियाँ विषय की दृष्टि से अनेक प्रकार की हो सकती हैं। प्रणयकलह की गालियों का क्षेत्र पति-मत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका तक सीमित होता है। प्रतिद्वन्द्वी अथवा उसके सहयोगियों की शक्ति आदि के प्रति उपेक्षापूर्ण साहसिक कथन उपेक्षात्मक गालियाँ कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के चरित्र आदि पर कीचड़ उछालना ही आक्षेपात्मक गाली है।

उपर्युक्त सभी प्रकार की गालियों के उदाहरण संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, जैसे-

अश्लील गालियाँ-

इस प्रकार की गालियों में अश्लील शब्दों का प्रयोग बिना किसी सीध-विचार के केवल आवेश में किया जाता है। जैसे-

साक्षात् श्रोता को लक्ष्य कर दी जान वाली गालियाँ-

१- मातरं चीदयामि - यह एक सामान्य गाली है जिसका प्रयोग आज भी लोक में होता है। डॉमिन्ड्र के अनुसार गौड़ देश के उददण्ड क्षत्र इस गाली का बात बात में प्रयोग करते थे ( देशोपदेश द। ४४ )।

२- स्युह शक्ति बड़ा महत्त्वपूर्ण और मूलनीय है कि डॉमिन्ड्र के समय तक बुद्ध का प्रयोग गौड़ देश से कश्मीर तक यानिच्छद (सम्मोह) के अर्थ में भी होना लगा था किन्तु काव्य में इसका यह अर्थ आज तक मूलतः नहीं किया गया और न ही धातु से व्युत्पन्न शब्दों को काव्य शास्त्रियों ने अश्लील के रूप में ही स्वीकार किया है। (लेखक)



२- यथातमाऽस्तुमवतः - ( ऐसी - तैसी ही तैसी अथवा तैसी ऐसी कम तैसी ) इस गाली का एक शिष्ट अर्थ यह भी गा कि आप जो है, वैसी ही रहें । किन्तु इसका व्यंग्यार्थ अश्लील ही है । देखिये -- पद्मप्रामृतक भाषा, पृ० १७४

३- पुंश्चलीक (क्लिनारा) - पद्मप्रामृतकभाषा पृ० २१, प्रच्छन्नपुंश्चलीक (वृष्पाक्लिनारा) वहीं पृ० २१, इसका स्त्रीलिंग पुंश्चली (क्लिनार) वहीं, पृ० १६।

४- नटी (नटिनी) लौक में प्रचलित गाली है जो नटस्त्रियों की लौकिक स्थिति के आधार पर निर्मित है । महाभाष्य ६।१।२ में नटस्त्रियों की लौकिक स्थिति का सजीव चित्रण मिलता है । "नटानां स्त्रियी रंगगा यीयः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयं तं तं त्व त्वेत्याहुः ।"

५- वृषली ( नीच रण्डी ) - १।३।२३ पर काशिका में "तिष्ठति वृषली ग्रामपुत्रस्यः उदाहरण से ज्ञात होता है कि वह ग्राम पुत्रों की कामतृप्ति का सहज साधन थी । अतः किसी कुलीन स्त्री लिये यह शब्द गाली ही हो सकता है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने वृषली का अर्थ हरामजादी किया है - दे० पद्मप्रामृतक, १६ ।

६- अम्ब - बेचारी, "अरी मेरी अम्मा" यह गाली भी है । इसे पिता की रखैल से अभिप्राय है (पृ० ८।३६)

७- शिर्षेक्ष - यह वैदिक शब्द है । दौर्मन्त्र में दक्षीपदेश में रण्डा के प्रसंग में प्रकाशान्तर से उल्लेख किया है ।

माँ-बाप अथवा कुल को लक्ष्य कर दी जाने वाली गालियाँ-

दासीपुत्र (धृतिवितसंवाद, पृ० ७१), कुट्टनी पुत्र ( पृ० ६।३०), वैध्वय-विधवा का पुत्र ( अमि० २।४), दास्यापुत्र, गर्भदास्याः पुत्र, वैश्यापुत्र, पुंश्चलीपुत्र, कौल्टेय, कुलटापुत्र आदि गालियाँ समान्यतः माँ के दुश्चरित्र को व्यक्त करती हैं ।

दौष्कुल्य - दुष्टित कुल में उत्पन्न (पादताडितक, पृ० २१६), गीगलनप्ता-गिरिया बेल का नाती अर्थात् तू क्या तेरा बाप और तेरा बाबा भी गिरिया बेल जैसे थे ( वहीं पृ० २४६), कुलनासिका (वहीं, १।२३), कुलपासनी, गर्भदासी, बन्धुल

२- बन्धुल - परगृहललिता : परान्नपुष्टाः,  
परपुरुषोन्नयिताः परांगनासु ।  
परधननिरता गुणोष्वावाच्या,  
गकलमा इव बन्धुलाललामः ॥ मृ०क० ४।२

आदि गालियाँ कुल की अकलौनता की बताती हैं। 'पिता तपस्विज्वरः' तेरा बाप लुच्चा है (पृ० २१५) बाप के चरित्र पर आदीप लगाती है।

### सामान्य श्लील गालियाँ-

उनका प्रयोग सम्य समज में भी होता है। ये सामान्यतया व्यक्ति के कार्यकलापों और समाज में उसकी स्थिति की बोधित करती हैं जैसे-

घटदारी या कुम्भदारी<sup>१</sup> - पानी भरने वाली बेलिका। सामान्य बौलवाल की भाषा में आज भी 'पानी भरना' मुहाविरा गुलामी करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अनन्य - अनार्य - दुष्ट, स्त्रीलिंग में अनार्य - दुष्टा, दुर्जन, दुर्मनुष्य, पाप-मापी, अज्ञ, लण्ठ - सूँ, छठी - दुर्बुद्धि, निकृष्ट - नीच, जल - दुष्ट, जातदोष - जन्म से ही बीटा, साहसिक - दुःस्साहसी, तपस्विज्वर - चरित्रहीन, अनृशंस - खोसनिपीर (धूर्तवित्संवाद पृ० १०७), बल-बटोर (उपयामिसारिका, पृ० १२१), कद्वी-कायर, दास - गुलाम, दणोणपुण्य - हतमाग्य, दुदुणा - दबीड़ा (पादताडितक पृ० १५२), अनात्मज्ञ - अपनी औकात न जानने वाला (वही, पृ० १५३), अवर - अधम, उन्मत्त - पागल, निर्लज्ज - लुच्चा, चीर, स्त्रीलिंग चीरि - बीटटी, दुरात्मन, मूर, दुर्विदग्ध - धमण्डी, दगुद्र, स्त्रीलिंग दगुद्रा - नीच (इसका प्रयोग मौली या नरामा अर्थ में भी होता है, मालविकाग्निमित्र, ४।५), छ-बलमाश, धान्त्र - कैमान, अविनीत, दुर्विनीत - नालायक, दुभाति - सड़ी अकल वाला, वैध्य - सूँ, पाटवर - बीटटा, गण्डभेदक - गिरहकट (अभि० षष्ठान्त), हताश - लीचड़ (Whitchee), प्राकृत-मामर, प्रलापी - बकवास करने वाला, अस्वबद्ध - प्रलापी - उट - पटांगे बकने वाला (पृ० ६१ १६), वाचाद, अपध्वस्त - पतित, जालिम - जालिम (पृ० ८।४३)।

### जुत्साव्यंजक श्लील गालियाँ-

ये वे गालियाँ हैं जिनसे गाली दी जाने वाले व्यक्ति के प्रति जुत्सा या घृणा की भावना लक्ष्य में आ जाती है - जैसे —

१- कुम्भदारी का अर्थ मौली चन्द्र में धूर्तवित्संवाद (पृ० ६७)

में खवासिन औरत किया है।

कामपिशाच- घोरकामासुच, ज्वन्यकामुक- नीच कामी, वैशकुण्ठ-वैश्या  
 लय का मुर्गा ( पादताडितक पृ० १६८ ), सुरतीक्ष्वर - सुरत का टुकड़ाखोर अर्थात्  
 वैश्याओं के यहाँ सुरत की मोव मर्ग-मर्गकर अपनी कामिच्छा तृप्त करने वाला  
 ( पद्मप्राभृतक पृ० २७ ), पारश्व- शूद्रा में उत्पन्न ब्राह्मण या कुजात, विटपारश्व-  
 विट का ग्रामी पिछला ( पद्मप्राभृतक पृ० २३ ), कुणाय- नाली का कीड़ा,  
 कुणपासन- नाली के कीड़ा जाने वाला कौजा आदि पदों ( अभिज्ञा० ६। २७-२८ ),  
 पिशाचिका- डाहिन, रणहा- दुश्चरित्राविधवा आदि ।

व्यंग्यात्मक गालियाँ ( जाति को लक्ष्य कर )

ब ब्रह्मन्धु-<sup>१</sup> ब्राह्मणाधम ( वैशीसंहार तृतीयांक ), ब्राह्मण्डुः-<sup>२</sup> ब्राह्मणाधम;  
 महाब्राह्मण= इसका प्रारम्भिक अर्थ श्रेष्ठ ब्राह्मण था किन्तु बाद में पैदू ब्राह्मणों-  
 के विद्वेषक आदि के लिये इसका व्यवहार होने लगा है, अपसद- कुजात यथा  
 सूतापसद ( वैशीसंहार, तृतीयांक ) धातुराष्ट्रापसद ( वही ) । मनु ने छ. प्रकार के  
 अपसद गिनائये हैं -

विप्रस्य त्रिषू वर्णेषु तृतेर्गणयो द्वयोः ।

वैश्यस्य वर्णो वैकस्मिन् षाडैऽपसदाः स्मृताः ॥ १०। १०

जाति को लक्ष्य कर दो जाने वाली गालियाँ से मरा एक मनोरंजक कथीपकथन  
 मृच्छकटिक के षाष्ठ अं में वीरक और चन्दनक के कर्णाटिककलह के प्रसंग में प्राप्त  
 होता है । चन्दनक चमार था और वीरक नहीं । दोनों का गाली-गलौज से मरा  
 बातलाप इस प्रकार है स

चन्दनक :- कौ तुमम् ? ( तू कौन है ? )

वीरक :- और तुमं पि कौ ? ( और तू भी कौन (लाठेलाहब है ? )

चन्दनक :- पूहज्जन्ती मागिज्जन्ती तुमं अप्पणी जादिं पा तुमिरेसि ?

( और पूजनीय और आदरणीय तुम अपनी जाति की याद नहीं करते ? )

वीरक :- ( सक्रीधम् ) और, का म्हा जादी ( और क्या है मेरी जाति ? )

चन्दनक :- कौ मणात ( कौन कहें ? )

----- 7 -----

१- ब्रह्मन्धुरधिलोपे निर्देश च द्विजन्मनाम् इति विश्वः ।

२- कुवीहीनः पदात्परै- वैज्यन्ती

## व्यंग्यात्मक ( गुण के आधार ) गालियाँ-

कपटकपिटिक - धूर्त का भी धूर्त ( मृ०क० पृ० ३०-३१, खल जनीपाध्याय-  
लुच्चा का गुरु ( उभयामिश्रारिका माणा पृ० १४०), उपेक्षाविहारिन्- यह  
मूलतः उन बौद्धों के लिये प्रयुक्त होता था जो भैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा  
में ही केवल उपेक्षा का पालन करते थे किन्तु उसका व्यंग्यार्थ है निकम्मा ( पादताडितक  
पृ० १६४), मक्तिमात्र- गिरदमंगा अर्थात् दुरदुराँ पर भी वैश्या के घर का चक्कर  
लगाते वाला ।

अशुभगदम- गन्धीला गधा अर्थात् वह व्यक्ति जिसने गन्धीले गधे के समान  
दुर्गन्ध आती रहती है ( पादताडितक पृ० २५४), सर्वव्यक्तिवैध्यस्य- आस्तीज  
का साप ( स्वप्नवासवर्ण० ८२), विट-गुण्डा, डिंडिम- डांडिया अर्थात् कैला,  
शंकरवाहन नन्दी अर्थात् बेल के समान मूर्ख ( दर्पदलन ४।१५), वैशाखनन्दन - गधा  
गीतम- निरा बेल ( नैषध -----), देवानां प्रियः - राजाओं का प्यारा  
या देवताओं का प्यारा । लेकिन व्यंग्यार्थ है मूर्ख । हिन्दी में इसी में मिलता-  
जुलता मुहाविरा है- भगवान् का प्यारा होना, अर्थात् मर जाना ।

## व्यंग्यात्मक गालियाँ कर्म के आधार पर --

मक्तिमात्र- गिरदमंगा अर्थात् दुरदुराँ पर भी वैश्या के घर का चक्कर काटने  
वाला ( धूर्तविट, पृ० १०७), हण्डे- जनानिय, यह सम्बोधन मूलरूप से चट्टी आदि  
निम्न वर्ग की सेवाओं के लिये प्रयुक्त होता था । किन्तु वैश्यालय में इसका अर्थ  
था - पुरुष होने पर भी स्त्रीवर्चित व्यवहार करने वाला व्यक्ति । हैज भी इसी  
प्रकार का शब्द है ।

गुल्फाल्लविक- क्षिप्ता रुस्तम ( मुकुन्दानन्द माणा, २२), उदरम्भर पैटू  
माल ३६) ।

नरपशु अथवा नृपशु - पशुवत् आचरण करने वाला मनुष्य ( वैष्णवी संहार  
३।४७) । पशु नीच कर्म का धीतक है । कुत्ता, भैंसा, गधा, सूअर, शूगल आदि  
पशुओं और कौआ, नगुला, उल्लू जैसे पाक्षिकावक शब्दों की प्रायः किसी अन्य  
शब्द के साथ जोड़कर अथवा स्वतन्त्र रूप में भी गाली के रूप में प्रयोग किया जाता  
है । जैसे - काकीदर- कौआ के समान सभी कुछ खाकर पेट भरने वाला ( स्वप्न  
वासव० ८२), वृद्धकौल- बूढ़ा सूअर अर्थात् सूअर के समान आचरण करने वाला बूढ़ा  
व्यक्ति ( मृ० अष्टमांक )

सिष्णासिलाजलहत्थी पुरिणाणां कुक्काष्ठि संवर्णा ।

कवरिवावुदहत्थौ तुम पि सौणावहै जादी ॥

( टूट हुए पत्थर के टुकड़े को हाथ में रखने वाला, पुरुषों की दाढ़ी बनाने वाला, कैंची चलाने में व्यस्त हाथ वाला तू भी सेनापति हो गया ? )

वीरक :- और चन्दणाऊ, तुम वि माणिज्जान्तौ अप्पणां केरिक जादि ण सुमिरसि ?

( और चन्दनक, मान्यवर तुम भी अपनी जाति का स्मरण नहीं करते ? )

चन्दनक :- और का मह चन्दणाअस्य चन्दविगुदस्स जादी

( और चन्द्रमा के समान विशुद्ध मुक्त चन्दनकी क्या जाति ? )

वीरक :- कौ भणइ ( कौन कह ? )

चन्दनक :- भणउ भणउ ( कहौ- कहौ )

- - - - -

वीरक :- और तुणाहि तुणाहि ( और, तुन तुन )

जादी तुज्जा विमुद्धा मादा भेरी पिदा विदे पहनौ ।

दुम्पुह करडम मादा तुम वि सैणावहै जादी ॥

( तेरी जाति बड़ी शुद्ध है, माता भेरी है और बाप पटह, करटक भाई है, तू भी सेनापति बन गया )

वैष्णोसंहार में अश्वत्थामा महारथी कर्ण के उसकी जाति की याद दिलाकर उसका मनोबल गिराने का प्रयत्न करता है -- स्तुतिवंशकीर्तनविदां सारथी नां कुले जातः ( ३।१५) अर्थात् रात-दिन बाबू जो-बाबू जो करके पैट पालने कौवान के कुल में उत्पन्न हुये हैं ।

आकृति को लक्ष्यकर दी जाने वाली व्यंग्यात्मक गालियाँ--

तृणापिशाच - अत्यधिक कृश होने के कारण तिकर्ण से बना मून जैसा मयावह, कंवा या धौखा ( पादताडितक पृ० २६६ ) ।

निनासा - नकटी पृ० क० १।२३), अनास् - कट्टा अरु नास् अथा अरु १ आस् - अनास् - टैङ्गे मुखवाला ( पृ० ५।२६।१०)

बुल्लो - चिमघा ( मुकुन्दानन्दभाषा, पृ० ५२)

\* और काकमदशोषवस्तक दुष्ट बटुक, पृ० क० ( १।५०-५१) में कौआ के पंजे जैसी तिकर्ण शिर और मस्तक वाले विद्वेषक के प्रति शकार की यज्ञ गाली है ।

वृद्धशाल - बूढ़ा सियार अर्थात् बूढ़े सियार की तरह बालाकों से काम निकालने वाला ( वही ), जर्बुजा - पुराने विषाघर के समान मंथकर, नृकुक्षुर - मनुष्य में कुप के समान आवकरण करने वाला ( राजतरंगिणी ७।२० ), क्लेशरिम-मै के समान अड़ियल मुख ( श्री कण्ठवरित २।१० ), दुर्जनसारभय - कुप के समान नीच ( वही, २।२२ ), नरकाक - ( महाभाष्य २३६ ), मन्त्रिक - व्युत् के समान स्वाधी किन्तु दिवावटी स्वाभिक्तमन्त्री ( महाभा० २५६ ), ब्रिबक ( पादताडितक २१७ ), गौह गिरगिट की तरह रंग बदलने वाला ( मृ० दशमांक ), स्त्रीघातक, पितृहा, मातृहा, प्रातृहा, पुत्रह्नी, कृतघ्न, स्त्रीघातक ( मृ० नवमांक ), पुरोमाणी - मनमानी करने वाला, स्त्रीलिंग - पुरोमाणा ( अभिज्ञा० षाष्ठ्यां ), तीर्थे काक - तीर्थों में इधर-उधर घटकने वाले कौआ के समान, कपदेकडाकिनी - कौड़ी की डाइन ( मं० चतुर्थी ), विपणिवृषा - हाट का सौँह ( पादताडितक १६४ ), चत्वर वृषाम - चौराहे का सौँह ( मृ० क० ---- ), मरुपिशाच - रेगिस्तानी भूत ( पादताडितक २१७ ), बिहार-वैताल- बिहार का भू ( पञ्चप्राभृतक ३२ ), छेदनग्रथनचर्मकार - फाटे जूते गँठने वाला भावी ( पञ्चप्राभृतक १० ), अविनयनौका - कर्णधार - धृष्टता की नौका का मल्लाह ( वैष्णो० चतुर्थी ), श्वेतकाकीय - कौआ श्वेत है, इस प्रकार की मूठी अफवाहों पर भी विश्वास करने वाला ( मृ० ६।४१ ), मद्रमुख - इसका मूल अर्थ बाल घुटाने वाला बौद्ध भिक्षु था किन्तु बाद में इसका व्यंग्यार्थ हो गया - मुँह की मद्रा करने वाला ( पादताडितक १६६ ), ।

प्रणय व्यापार में प्रयुक्त होने वाली गालियाँ -

निर्वृणा - बिंदी ( अभिज्ञान० ३।१३ ), निस्त्रिंश - निर्दयी, चण्डी - गुस्सेबाज ( मालविका० १३३ ), मानिनी - गवीली, अधम - नीच, गूढभाव - गुम्हम ( पञ्चप्राभृतक ५५ ), मुग्धा - मीली, उन्मत्तिक - पगली ( चारुदत्त ८२ ), दूतकर - जुआरी ( मृ० पंचमांक में वसन्तसेना द्वारा चारुदत्त की लक्ष्य कर व्यंग्यपूर्ण प्रणयभरा सम्बोधन है ), कित्त - धूर्त, दुर्नियार - हठी, कामुक - कामी, हताश - कम्बख्त, शठ - धूर्त, चटुल - चटीर ।

## उपेक्षात्मक गालियाँ-

कस्त्वम् - तू कौन है ( मृ०क० षाष्ठांक ), किं त्वमा शुनकस्यैककुतः  
जो तुमसे क्या डर अर्थात् तू कुत भरा क्या विगाड़ सकता है ( मृ० क० षाष्ठांक ),  
जीवसि - जिन्दा है, मरातो नहीं ( मृ०क० अष्टमांक ), निघनं गच्छ- मर जा सल्लि  
( मृ०क० अष्टमांक ), प्रियतां गर्भदात्री प्रियताम्- मर जा उल्लू की पट्टी मर जा  
( मृ० अष्टमांक ), आदि गालियाँ क्रीध के अवैश में दी जाती हैं । गौरयम्- यह  
तो बेल है कौड़ी इसे ( पादताडितक १५७ ), राज- बल्लभप्रगत्य- चापलूस ( वैष्णोसंहार ),  
रणमीर - युद्ध से डरपीक, आत्मश्लाघ- अपनी शैली बघारने वाला आदि गालियाँ  
विशुद्ध उपेक्षात्मक गालियाँ हैं । आग्न्यभागिन्, - आगा ( राज० ७।३२२ )

## आक्षेपात्मक गालियाँ-

इस प्रकार की गालियाँ में प्रायः माँ-बाप अथवा कुल की प्रतिष्ठा  
की धूमिल करने का आरोप लगाया जाता है । जैसे - रक्कारकुलकलंक ( वैष्णोसंहार-१,  
अंक ३ पृ० १४० ), कमी-कमी प्रतिबन्धी की उसके जन्म की निःसारत आदि वतीन  
के लिये भी ऐसी गालियाँ का प्रयोग किया जाता है । यथा- सधागर्भमारमूत  
( वैष्णोसंहार, वही ),

कमी-कमी गाली में किसी विशिष्ट शब्द का प्रयोग न कर प्रतिबन्धी  
या उसके माँ-बाप आदि पर केवल आरोप लगा दिया जाता है या फिर उसकी  
औकात खील दी जाती है । यथा- जलमपि च ते नास्त्यावसि तथापि चकत्यः- घर  
में पानी भी नहीं है शैली बघारता है ( पादताडितक १५८ ) । इसी प्रकार का एक  
वाक्य मृच्छकटिक के प्रथम अंक में भी मिलता है- के तश्श गुणा जश्श गेहं पविशिज  
आशिदव्वं पि णात्थि - उसके क्या गुण हैं जिसके घर में छुकर खाने की भी  
कुछ नहीं है । तवपितृसम्बन्धिवहणम् - तेरे बाप की गाड़ी है ( मृ० अष्टमांक ),  
अनभिजातिश्वर- नया रईस ( धूर्तवित्तवाद ६८ ) के नाथ का बैल- अनाथ ( मुकुन्दा-  
नन्दभाषा पृ० १८ )

## प्रणय-चित्रण-

प्रणय का मूल 'काम' है। वह शरीरी मात्र सामान्य धर्म है।<sup>१</sup> इसका स्फुरण शृंगार द्वारा होता है। रति उसका स्थायीभाव है। इस रति का प्रथम उन्मेषा युवक-युवतियों के हृदय में इन्द्रियचापलय के ही कारण होता है। रति का आलम्बन नायक-नायिका-दोनों होते हैं, पर साहित्य में नायिका की विशेष महत्त्व दिया गया है। उसे अभिनव ने 'स्त्रीति नामापि मधुरम्' और भीज ने 'नामापि स्त्रीति संज्ञादि विकर्षत्येव मानसम्' के रूप में स्मृत किया है। कालिदास ने भी कहा है -

चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागं,  
प्रागैव रागमलिनानि मनांसि युनाम् ॥<sup>३</sup>

यही शृंगार-चेतना का मूल है। प्रणयी-युगलों की स्वच्छन्द प्रेम में पिता आदि गुरुजनों का अनुशासन कभी पसन्द नहीं रहा - वे उन्हें 'सिरदद' ही प्रतीत हुए हैं।<sup>४</sup> और तो और, ऐसे लोगों की विष्णु, शंकर, स्कन्द आदि देवताओं से भी कोई प्रयोजन नहीं रहा है। वे तो सुरतान्तकालान्तकालिनी वक्त्र के ही पुजारी रहे हैं।<sup>५</sup> देवपूजा ती वृद्धावस्था का धर्म है। गाथासप्तशती की नायिका युवावस्था में तो गणेशप्रतिमा की सुरतकाल में तकिया बनाती है, किन्तु वृद्धावस्था में उसकी पूजा करती है। अमरक का एक नायक अपना अनुभव बताता है कि जब भेदों के प्रथमवार मिलने से प्रेम उत्पन्न हो जाता है, मिलने के उपायों का चिन्तन करने से मानसिक परिचय हो जाता है, प्रेम अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है

~~यत्कालं यत्कालं यत्कालं~~

~~यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं यत्कालं~~

१- शरीरस्थितिः तु त्वादाहारसधर्माणां हि कामाः । काम०, १। २। ४६  
२- शृंगः कामादिकम् कृच्छति जनेन ( शृंग + कृ + जण् ) इति शृंगारः ।

३-

४- पितृनाम साक्षात् शरीरैः खलु सयौवनस्य

५- तन्व्या मत्पुस्तान्तितान्तमन वक्त्र रतिव्यत्यये । अमर०, २

६- गाथा०, ४। ७२



और दूसरी के मिलने पर अत्यन्त विकसित हो जाता है, तब नायिका के बालिंगन का नाम तो दूर रहा, उसके घर के पास की गलियों में चक्कर लगाने में मजा आता है।<sup>१</sup> और इस काम में माझूक की लात या चप्पल भी पड़ गई तो युवक का परम सामान्य समझिए।

परकीया नायिका में अतुरक्ति साहित्य में अनुचित नहीं मानी गई।<sup>३</sup> लेकिन समाज में इसे उचित नहीं ठहराया गया, यद्यपि यह एक सामान्य बात थी। लींग-लुक-स्मिन् परस्त्रीगमन करने के लिए उत्सुक रहते थे। यह अधिक दिन तक नहीं स्मिन् जा सकती थी, फिर भी लींग एक-दूसरे के प्रवाद के डर से नहीं कह सकते थे। यह तो रही युवक-युवतियों की बात। धनी लींगों के गरीब पत्नियों के प्रति कामाक्षी होने, गरीब युवकों द्वारा कृष्णक पत्नियों के साथ सम्प्रेम करने, भिदुषों के गृहिणीयों की ताक में रहने, प्रेषित भर्तृकार्यों के पथिकों के प्रति कामाक्षी होने और नागरिक युवतियों के ग्राम युवकों की ओर आकृष्ट होने के चित्र भी संस्कृत साहित्य के कम नहीं हैं। भेल और बरातों के अवसर भी मनकल युवक-युवतियाँ जैसी लड़ा लिया करते थे।<sup>१०</sup> ऐसे अवसरों पर कभी-कभी प्रेमी-प्रेमिका को उड़ा ले जाते थे। देवर-भाभी की नीक-भाँक और उनके स्निग्ध प्रणय सम्बन्धों का भी उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में मिल जाता है।<sup>११</sup>

एक ओर जहाँ संस्कृत साहित्य में इस प्रकार के उत्सुक शृंगार और प्रणय के-लिप्ता का चित्रण हुआ है, वहीं दूसरी ओर संयत, सात्विक और आदर्श प्रणय

१- अमरशतक, १००।

२- तरुणीपदपल्लवप्रहार तरुणानां परमं वदन्ति माग्यम्। मुकुन्दा० १५०

३- परस्त्रीगतीऽप्ययं रस उपनिबध्यमानो न पातकाय। अमर० १ पर अजुनवर्गदेव।

४- क्रीडा परस्त्रीषु स्निग्धभिरेव दिनैश्चिह्नापि न गूढमिति। मुकु०, ६३

५- सुचरितमीदृशामाखिलं सर्वं जानन्ति सर्वेषाम्।

न तु परिवदन्ति निमुणाः स्पष्टतरमिति परस्परत्रासात् ॥ वहीं ६४

६- आर्या०, १२२

(७) वहीं, ६८

(८) वहीं, १७१

६- वहीं, ७२

(१०) निषाध० १५।७८, मुकुन्दा० श्लोक १८२

११-आर्या० १३१, मुकुन्दा० पृ० ५२।

१० दाम्पत्य प्रणय का कितना सुन्दर चित्रण किया है -

अद्वैतं सुखदुःख यौरजुगतं सर्वस्ववस्थासु य -

द्वे द्विविश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहापी रसः ।

कालेनावरणात्ययात्परिणतै यत्प्रमसरि स्थितम्

पदं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थयति ॥<sup>१</sup>

अमरक के नवविवाहित प्रणयि-युगल का यह प्रणय चित्र भी कितना स्वाभाविक है -

शून्यं वासगृहं बिलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-

निद्राव्याज्जुपागतस्य सुचिरं निर्वप्य पत्युमुखम् ।

विप्रव्यं परिवृष्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं

लज्जानम्रमुखी प्रियैरात्सता वाला चिरं बुम्बिता ॥<sup>२</sup>

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित जनसमान एक और ती वणाश्रम काल की मर्यादा का पालन कर रहा था, वहीं दूसरी ओर उच्छ्रांसल प्रवृत्ति के लीनों की भी कमी नहीं थी ।

---

१- उचर ० १। ३६

२- अमरशतकम्, ८२,

: - लौकधर्म :-

- :: लौक धर्म का स्वरूप
- :: लौक धर्म के उपादान
- :: लौक धर्म के भेद
- :: संस्कृत साहित्य में उल्लिखित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय
- :: देवता, उनका स्वरूप और बगीकरण
- :: संस्कृत साहित्य में उल्लिखित देवी-देवता
- :: पशु पूजा
- :: पितृ पूजा
- :: श्रद्धा
- :: बलि विधान
- :: व्रतौपवास
- :: तीर्थ यात्रा
- २२ :: ज्ञातप सिद्धि
- :: मन्त्र
- :: तन्त्र-यन्त्र
- :: टीना एवं टीटका
- :: पुरोहित

### परिच्छेद- ३

:: लोकधर्म ::

#### लोकधर्म का स्वरूप

धारणार्थक धृञ् धातु से निष्पन्न 'धर्म' शब्द 'धारक शक्ति' का परिचायक है। अतः किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप की वह धारकशक्ति, जिसके बिना वह पदार्थ 'वह' नहीं रह सकता, धर्म कही जाती है। जैसे, उष्णता अग्नि का धर्म है, उसके अभाव में अग्नि का अस्तित्व कहाँ ? इसी प्रकार मानव समाज में धर्म की यह धारकशक्ति सामाजिक व्यवहार की नियन्त्री है। इसीलिए 'धृष्टते लोकः अनेन इति धर्मः', अथवा 'धरति धारयति वा लोकमिति धर्मः', यह धर्म, का अर्थ किया जाता है। धर्म का पालन लोक के द्वारा ही किया जाता है, अतः 'धृष्टते यः स धर्मः' धर्म की यह व्युत्पत्ति भी उचित है। महाभारत में 'धर्म' की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है --

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।  
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥<sup>१</sup>

धर्म किस प्रकार धारण किया जाता है ? वः प्रजा का धारण किस प्रकार करता है ? और स्वयं किस प्रकार धारणसंयुक्त रहता है ?

इत्यादि प्रज्ञा के उत्तर है -- 'आरम्भो न्यायसूक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः' <sup>१</sup>  
 'स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चयः' <sup>२</sup>, 'आचारश्च सतां धर्मः' <sup>३</sup>, 'आनृशंस्यं  
 परोधर्मः' <sup>४</sup>, 'अहिंसापरमो धर्मः' <sup>५</sup>, 'योस्मिन् यथा वर्तते यो मुष्यस्तस्मिंस्तथा  
 वर्तितव्य स धर्मः' <sup>६</sup> और 'यतोऽहमुदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' <sup>७</sup> ।

इस प्रकार लोकव्यवहार की संचालिका शक्ति होने के कारण धर्म मूलतः  
 'लोकधर्म' ही है, किन्तु शास्त्रीय परम्परा में लोकधर्म की परिभाषा इस प्रकार है --

कल्पितः कृतिमूलो वामूलो लोकैर्धृतः सदा ।  
 देशादिधर्मः स ज्ञो यो देशे देशे कुले कुले ॥

अर्थात् प्रत्येक देश तथा कुल में जो लोगों के द्वारा कल्पित, वेदमूलक अथवा वेदमूल से  
 रहित (अर्थात् वेदातिरिक्त अन्य किसी परम्परा या श्रोत से प्राप्त) आचार सदा  
 किया जाता है, वह देशादिधर्म है ।

लोकधर्म सदा ही परम्परायित धर्म है । उसका पालन उही रूप में किया  
 जाता है जिस रूप में वह अनादिकाल से चला आ रहा है और पुरखों के द्वारा माना  
 जाता रहा है । किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन-  
 परिवर्द्धन होता ही नहीं । वास्तविकता यह है कि अनेक परिवर्तनों और परिवर्द्धनों के  
 होते रहने पर भी उसकी आत्मा सदैव अपरिवर्तित रहती है ।

१- वही, ३।१६।७२

२- वही, ३।१६।१५

३- वही, ३।१६।७०

४- वही, ३।३७।७६

५- वही, १३।११७।३७

६- वही, १२।११०।२६

७- वैशेषिक दर्शन ।

८- शुक्र० ४।६४

९- येषां परम्पराप्राप्ताः पूर्वैरप्यनुष्ठिताः ॥

त एव तेन दुष्येयुराचारान्तेरस्य तु । वही, ४।५०-५१

देशजातिकुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्तिताः ॥

तथैव ते पालनीयाः - - - - - । वही, ४।४६-४७

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में वेद को सभी धर्मों का मूल माना गया है ।<sup>१</sup> वैदिक धर्म भी तो विशुद्ध लोकधर्म ( गुरुपरम्पराया ढनुश्रविकाः ) संस्कृति कही जाती है। वैदिक कृषि लोकानुरागी थे । उन्हें यह विश्व सबसे प्यारा था । वे किसी अन्य संसार की प्रतीक्षा न कर यहीं और इसी समय सुखी रहने के अभिलाषी थे ।<sup>२</sup> किन्तु ज्यों-ज्यों शास्त्रीयचैतन्य का अहं ऊंचा होता गया, त्यों-त्यों वेद और लोक का भेद बढ़ता गया । श्रुति की दो धारारे स्पष्ट हो चलीं -- वैदिकी और तान्त्रिकी । इनमें भी तान्त्रिकी धारा ही प्राचीन है, क्योंकि वह लोकमानस के सान्निध्य में वैदिकी धारा की अपेक्षा अधिक है। बृहद्दर्शनपुराण में तन्त्र को वेद से प्राचीन बताया गया है ।<sup>३</sup> श्री कण्ठाचार्य तो वेद को आगम (तन्त्र) का ही भेद मानते हैं। भर्तृहरि ने धर्म का मूल 'आगम' ही माना है। यही नहीं, उनके मत में ज्ञानान (वेद) भी आगमपूर्वक है --

न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते ।

कृष्णिणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम् ॥<sup>७</sup>

इस प्रकार लोक धर्म ही प्राचीन है । उसका प्रवाह अनेक अवान्तर प्रवाहों में विभक्त होकर निरन्तर अग्रसर है । उन्हें लोकसम्मत होने के कारण किसी तर्क या शास्त्र से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता --

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानां ये व्यवस्थिताः ।

न तांल्लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित् तर्केण बाध्यते ॥

१- वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । -मु० २। ६

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद् विपर्ययः । -- श्रीमद्भागवत, ६। १। ४४

२- अर्ध० ५। ३०। १७

३- कृ०, ६। ८४। १

४- श्रुतिद्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च। मु० २। १ पर कुल्लुकभट्ट ।

५- बृहद्दर्शनपुराण, मध्य खण्ड, ५। १३८

६- अतः शिवागमो द्विविधस्त्रैविणिकेदागमौ । ब्रह्मसूत्र २। २। ३८ पर श्री कण्ठ

७- वाक्यदीप, १। ३०

८- वही, १। ३१

वह किसी धर्म का विरोधी भी नहीं होता --

धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्मतः ।

अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मः सत्ताविक्रमः ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त कथन लोकधर्म के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य है । शास्त्रीय धर्मों में एक दूसरे के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का काट करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, किन्तु लोकधर्म में समन्वय की भावना प्रबल रहती है ।

### लोकधर्म के उपादान -

सरसरी दृष्टि से देखने पर धर्म का सम्बन्ध शास्त्र से प्रतीत होता है । वेदोदखिलं धर्ममूलम् जैसी मान्यताओं की पृष्ठभूमि यही है । शास्त्र शिष्टव्यक्तियों द्वारा क्राये जाते हैं । अतः शिष्ट व्यक्तियों का आचरण लोक का धर्म बन जाता है । 'महाजनो यमगतः स पन्थाः' उसका प्रमाणवाक्य है । यही बात गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कही है । लेकिन शिष्ट व्यक्तियों के लिए भी तो लोक ही प्रमाण है-- 'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयं नाचरणीयम् ।' और शास्त्र भी लौकिक व्यवहारों का ही अनुसरण करता है । अतः शास्त्र और लोक दोनों ही लोकधर्म के प्रमुख उपादान हैं । 'लोक' बहुत विस्तृत शब्द है । प्रस्तुत प्रसंग में लोक शब्द से लोकपरम्पराएँ, लोक विधियाँ और लोकरीतियों का ग्रहण कर लेना चाहिये, शुक्राचार्य ने लोकधर्म की जो परिभाषा दी है, जिसे हम पीछे उद्धृत कर आये हैं, से हमारे उपर्युक्त मन्तव्य की सम्पुष्टि हो जाती है । जय, तप, दान, देवाराधना और आत्मतुष्टि भी लोकधर्म के सशक्त उपादान हैं ।

१- यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तैवैतरो जनः ।

स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ -- गीता, ३।२१

२- विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य- प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के निम्न विषयप्रवेश (उ०पी०)

के अन्तर्गत 'लोक' का महत्व 'शीर्षक', पृ० २४

३- तुलनीय, हान्दोय० २।२३।१, याज्ञ० १।७ स्वं मनु० २।६, १२

## लोकधर्म के भेद -

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में कहा गया है कि "यह लोक बहुत विस्तृत है, अनेक प्रकार से फैला हुआ है, कौन इसे प्रयत्न करके भी जान सकता है।" लोक का यह नैकविधत्व उसके प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त है। धर्म लोकव्यवहार की नियामकशक्ति होकर भी लोक से पृथक् नहीं है। अतः धर्म के भी अनेक भेद होना स्वभाविक है।

धर्म की अनेकविधता के सम्बन्ध में सर्व प्रथम ऋग्वेद से कुछ संकेत प्राप्त होता है।<sup>१</sup> किन्तु वह संकेतमात्र है। अथर्ववेद स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि इस पृथ्वी पर विभिन्न भाषायें बोलने वाले लोग हैं जो अपने अपने क्षेत्रों के अनुसार विभिन्न धार्मिक व्यवहार सम्पादित करते हैं। महाभारत में भी धर्म की अनेकश्रिता और अनेकता का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रन्थ में एक सदाचारि ब्राह्मण से उसके घर पर आया हुआ अतिथि संसार में धर्म की अनेकविधता का उल्लेख करता हुआ कहता है कि "कोई मोक्ष की प्रशंसा करता है तो कोई यज्ञफल की। कोई वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करता है तो कोई गृहस्थधर्म को श्रेष्ठ बताता है। कोई राजधर्म, कोई आत्मज्ञान, कोई गुरुशुश्रूषा और कोई मोनव्रत का ही आश्रय लिये बैठा है। कुछ लोग केवल माता-पिता की सेवा से अहिंसा से, सत्य से, युद्ध में वीरगति प्राप्त करने से या उज्ज्वृत्ति के आचरण से ही स्वर्गप्राप्ति हो गए। कुछ संयमी वेदोक्त व्रत का पालन तथा स्वाध्याय करके और कितने ही अपनी सरलता से ही संयुक्त को कुटिल मनुष्यों द्वारा मारे जाने पर भी स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो गए हैं। इसप्रकार लोक में धर्म के विविध एवं बहुत से दरवाजे खुले हुए हैं,

X १- एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति । ३०

✓ २- जनं विप्रति बहुधा विवाचसं नाना धर्माणि पृथिवी यथोक्तम्। अथर्व० १२।१५

३- बह्व्यायो बहुमुखो धर्मः । -- शा० पर्व, २८।२६



उनसे भरी बुद्धि भी उसी प्रकार उद्विग्न एवं चंचल हो उठी है जैसे वायु से घनघटा <sup>१</sup>। वही एक अन्य स्थल पर तन्त्रे, स्मृति और आगम की लोकतन्त्र का धर्म बता कर सप्त चित्रशिल्पिण्यो ( मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ ) द्वारा एक लाख श्लोकों में उसकी रचना का उल्लेख हुआ है ।

कर्तव्य के अर्थ में धर्म का ग्रहण कर मेघातिथि <sup>३</sup>, गोविन्दराज <sup>३</sup>, और हरदत्त <sup>४</sup> ने धर्म के पांच भेद किये हैं-- वर्णधर्म आश्रम धर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म और गुणधर्म ।

लोकाचार या लोकविधियों के अर्थ में धर्म का स्वरूप उतना ही विस्तृत है जितना कि ब्रह्माण्ड । किन्तु हमारे ऋषि मुनियों ने उन्हें वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है । वसिष्ठ ने देश धर्म, जातिधर्म, कुलधर्म, तीर्थधर्म और समयधर्म -- ये पांच तथा शुक्र ने जाति, देश, श्रेणि एवं कुल -- ये चार भेद लोकधर्म के माने हैं। महाभारत में जिते आपद्धर्म की चर्चा हुई है, उनका अन्तर्भाव 'समयधर्म' में हो जाता है । वसिष्ठ ने तीर्थधर्म और शुक्रश्रेणि धर्म की अलग कल्पना की है ।

परलोक एवं देवताओं में विश्वास के आधार पर लोकधर्म के अन्तर्भेद हैं । भारतीय परम्परा में ३३ करोड़ देवताओं की कल्पना की गयी है। यदि हममें से प्रत्येक की

१- कैन्विन्मोर्णं प्रशंसन्ति केचिद् यज्ञफलं जिज्ञाः ।

वानप्रस्ताश्रयाः केचिद् गार्हस्थ्यं केचिदाश्रिताः ॥

० ० ० ० ० ०

एवं बहुविधैर्लोकधर्मैर्द्वारैरनावृतेः ।

ममापि मतिराविमा मेघलेखे वायुना ॥

२- मोक्षधर्मपरं, ३३५।२७--४६

३- मनु० २।२५ पर मेघातिथि और गोविन्दराज ।

४- गोतमधर्मसूत्र १६।१ पर हरदत्त ।

५- यथादेशजातिकुलर्तुर्धर्मसमयधर्माश्चास्मायैरविरुद्धाः प्रमाणम् । --पादतल्लिक

पृ० १५८ पर वसिष्ठ के नाम से उद्धृत ।

६- जातिज्ञानपदान्धर्मान् श्रेणिधर्मास्तथैव च ।

समीक्ष्य कुल धर्माश्च स्वधर्मं प्रतिपालयेत् ॥ शुक्र० ४।४५-४६

एक एक देवी (पत्नी) की भी कल्पना की जाय तो यह संख्या ६६ करोड़ तक पहुँच जाती है। प्रत्येक देवी - देवता की उपासना पद्धति भी पृथक्-पृथक् है। फलतः उनके उपासकों के भी पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय बन जाते हैं। समय-समय पर उत्पन्न होने वाले महापुरुष भी कभी-कभी या तो स्वयं देवता बन जाते हैं या फिर किसी नर धर्म का प्रवर्तन कर देते हैं। इस प्रकार लोक धर्म अनेक भेद-प्रभेदों को प्राप्त होता हुआ समय-साथ-साथ निरन्तर गतिशील रहता है।

### संस्कृत साहित्य में उल्लिखित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय-

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की उत्पत्ति के कारणों पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। धर्मशास्त्र की परिभाषिका शब्दावली में हम इन धार्मिक सम्प्रदायों को वैदिक, अवैदिक और वैदविरोधी -- इन तीन वर्गों में विभजित कर सकते हैं। वैदिक धर्म यज्ञ प्रधान धर्म था। संस्कृतसाहित्य में 'यज्ञ' अपरिचित कृत्य नहीं है। अवैदिक धर्मों में उन सभी धार्मिक सम्प्रदायों का जन्तर्भाव समझना चाहिए जिनका 'वेद' नहीं है, जैसे -- शाक्त, शैव, गाणपत्य, तथा विभिन्न तान्त्रिक-सम्प्रदाय। बौद्ध, जैन, लोकायतिक वेद विरोधी धर्म थे। इन विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की एक विस्तृत सूची हर्षचरित में उपलब्ध होती है। दिवाकर मित्र के आश्रम में निम्नलिखित सम्प्रदायों के अनुयायी निवास करते थे।

आर्हत ( जैन ), मस्करी, श्वेतपट ( श्वेताम्बर जैन ), पाण्डुरभिन्दु ( श्वेतवस्त्रधारि बौद्धभिन्दु ), भागवत, वणी, केशलुञ्ज, कापिल, जैन, लोकायतिक, काणाद, औपनिषद, ऐश्वरकारणिक ( नैयायिक ), कारन्धमी ( धातुवादी ), धर्मशास्त्री, पौराणिक, सप्ततान्त्र ( मीमांसक ), शैव, शाब्द ( वैयाकरण ) और पांचरात्रिक।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने उपर्युक्त सभी सम्प्रदायों का गवेषणात्मक परिचय 'हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन' नामक ग्रन्थ में विस्तार के साथ दिया है।

देवी-देवताओं से सम्बन्धित विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का परिचय  
आगे प्रस्तुत किया जायेगा ।

### देवता, उनका स्वरूप और वर्गीकरण--

लोकमानस में देवताओं की प्रतिष्ठा कब और कैसे हुई, इस प्रश्न पर विद्वानों ने काफी ऊहापोह की है । कीथ ने इस सम्बन्ध में मानवाकृतिदेववाद, पशुदेववाद, चेतनवादी भावदेववाद, प्रतीकवाद और प्रेतात्मावाद सिद्धान्तों का उल्लेख कर उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है<sup>१</sup> किन्तु ये सभी सिद्धान्त अपने में अपूर्ण और रकांगी है । भारतीय देवताओं का संसार इतना व्यापक है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ में उसके अधिष्ठातृदेव के रूप में कोई न कोई देवता अवश्य प्रतिष्ठित है । अतः उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों का समन्वय भी कर दिया जाय तो भी भारतीय देवों की उत्पत्ति और उनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता ।

देवता, वस्तुतः लोकमानस में जन्म लेते हैं, उसी से उनका सम्बन्ध रहता है और उसी के संकल्पितार्थ की सिद्ध करते हैं । यजुर्वेद इस तथ्य को स्वीकार करता है<sup>२</sup> । स्पष्ट है, उनका प्राकट्य लोकमानस के संकल्पित किंवा इच्छितार्थ की सिद्धि के लिए ही होता है, भले ही इसप्रक्रिया में लोकमानस में वर्तमानभय, श्रद्धा अथवा रहस्य का कितना ही हाथ क्यों न हो ।

देवशब्द की व्युत्पत्ति ग्रीहा, विजिगीषा, व्यवहार, धृति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कांति और गति--इन दश अर्थों में प्रयुक्त होने वाली दिव्धातु से हुई है । भारतीय देवों में ये सभी गुण विद्यमान हैं । यास्क के मत में दान, दी पद धीतक

---

१- कीथ: दी रिलीजन एण्ड फिलोसाफी आफ् द वेद एण्ड उपनिषदस का हिन्दी

अनुवाद वैदिकधर्म एवं दर्शन (डा०सूर्यकान्त) प्रथम भाग, पृ० ७२-६३

२- ये देवा मांजाता मांयुजो ददाकृतवस्ते नोऽवन्तु ते<sup>नः</sup> पातु तेम्यः स्वाहा ।-यजुर्वेद

गुणों से युक्त होने के कारण अथवा <sup>धु</sup>स्थान में रहने के कारण देवताओं को देव कहा जाता है।<sup>१</sup> इससे चार बातें सामने आती हैं-- दान देवताओं का प्रथम गुण है। इसलिए दान देने वाले देवता हुए। देव स्वयं दीप्त अर्थात् प्रकाश सम्पन्न है अतः दूसरों को भी प्रकाशित कर सकते हैं। इस आधार पर सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवों की कल्पना की गई होगी। देवों का निवासस्थान ब्रूलोक है। ऋग्वेद से यह भी ज्ञात है कि देवताओं में सबसे पहले मेघ का जन्म हुआ।<sup>२</sup> इससे यह भाव निकाला जा सकता है कि जब आदिम मानव ने बादलों से पानी बरसता देखा तो उसका हृदय बादलों के प्रति अनायास ही श्रद्धा, कृतज्ञता एवं रहस्य से आपूरित हो उठा होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव ने सर्व प्रथम प्रकृति में ही देवत्व के दर्शन किए। फिर उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रकृतिदेवताओं पर उसने मानवीय गुणों का आरोप कर लिया। अन्तःकरण की बात वाणी में आ चुकी थी। फलतः देवों की स्तुति के साथ साथ उनके स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विचार होने लगा।

यास्क ने वैदिक देवताओं के स्वरूप पर विचार करते हुए एतद्विषयक तीन मतों का उल्लेख किया है -- पुरुषविधाः स्युः इत्येकम्, अपुरुषविधाः स्युः इत्यमपरम् अपिवा उभयविधाः स्युः अर्थात् देवताओं का स्वरूप पुरुषों के समान है, यह एक मत है। देवता पुरुषों के समान नहीं है, यह दूसरा मत है। देवता - दोनों ही प्रकार के हैं, यह तीसरा मत है जिसमें स्वयं यास्क श्रद्धा रखते हैं।

१- देवो दानाद्वा, दीप्ताद वा, यीतनाद्वा, युस्थाने भवतीति वा।

निरुक्त।

२- देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन् कृन्त्रादेणामुपरा उदायन्।

अयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा ज्ञा बृहत्कं वहतः पुरीषम् ॥ ऋ० १०।२७।२३

इस मन्त्र पर यास्क की व्याख्या भी द्रष्टव्य है। निरुक्त, २।७

३- वही, ७।२

वैदिकधर्म मूलतः लोकधर्म था और उसमें स्वीकृत देवता भी लोकदेवता हैं। इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ को—विद्वान् ब्राह्मणों या पुरोहितों के परितोषक की ऐसी उपाय नहीं थी जो लोकपदा की अवधारणा और जटिल कर्मकाण्ड की प्रतीक्षा कर रही हो। इस सम्बन्ध में कीथ के विचार बहुत स्पष्ट एवं सुसंगत हैं।<sup>१</sup>

यास्क ने स्थान के आधार पर देवताओं के तीन वर्ग किये हैं—  
पृथ्वी स्थानीय देवता, अन्तरिक्षस्थानीय देवता और <sup>धु</sup>युस्थानीय देवता। पृथ्वी स्थानीय देव अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय देव वायु अथवा इन्द्र और युस्थानीय देव सूर्य हैं। इनकी बड़ी महिमा के कारण इनमें प्रत्येक के बहुत से नाम हैं। स्पष्ट, यहाँ यास्क ने पार्थिव आग्नेय, अन्तरिक्षिय - वायव्य या ऐन्द्र और स्वर्गीय - सौर -- ये तीन वर्ग स्वीकार किए हैं।

इस प्रकार यास्क ने आकृति अथवा स्वरूप और स्थान के आधार पर देवताओं का वर्गीकरण किया है। यह वर्गीकरण उत्तरकाल में विकसित लोकधर्म के विशाल देव-परिवार के सम्बन्ध में फिट नहीं बैठता।

संस्कृत साहित्य में प्रतिबिम्बित लोकधर्म में स्वीकृत देवी-देवताओं को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है --

१- अनुसंधान से प्रकट होता है कि वैदिक यज्ञ में अधिकांश लोकप्रचलित अनुष्ठान मौजूद हैं जिन्हें पुरोहितों ने आडम्बर से ढँक तो दिया है किन्तु जो फिर भी जीवन्त हैं, और सचमुच राजसूय, वाजपेय और महाव्रत रहस्यात्मक अनुष्ठान नहीं, प्रत्युत घरेलू अनुष्ठान हैं, ये जादू-टोने से ओत-प्रोत हैं और इनमें भाग लेने वालों के लिये ये बोधगम्य हैं। \*

--- फीट, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६८

२- तिस्रः स्वं देवताः- इतिनिरुक्ताः। अग्निः पृथ्वीस्थानः, वायुर्वान्द्रोवा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो युस्थानः। तासां महाभावात् रक्तस्यः अपि बहुनि नामधेयानि भवन्ति।

--- निरुक्त, ७।२

(१) पृथिवी स्थानीय देवता--

प्राकृतिक	पशु-पक्षी	प्रेतात्मा
पृथ्वी, नदी, पर्वत, वृक्षा अग्नि नगरदेवता, <del>मन्दरा</del> , वनदेवता	गौ, नन्दी	यक्षा भूत-प्रेत

(२) पातालीय या समुद्रीय देवता--

नाग, कूर्म, वरुण आदि ।

(३) अन्तरिक्ष या आकाश स्थानीय देवता--

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, गन्धर्व, अप्सरा, विश्राधर<sup>१</sup> ।

(४) स्वर्गस्थानीय देवता--

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, यम आदि ।

(५) जातीय अथवा कुलीय देवता ।

(६) बच्चों के देवता ।

देवताओं की पत्नियों की भी कल्पना संस्कृत साहित्य में प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी है । अतः देवताओं को सर्व प्रथम स्त्री, पुरुष अर्थात् देवी और देवता-- इन दो वर्गों में बांट कर उपर्युक्त वर्गीकरण करना चाहिए ।

संस्कृत साहित्य में उल्लिखित विभिन्न देवी-देवता

संस्कृतसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में निम्नलिखित देवी-देवताओं और उनकी पूजा का उल्लेख प्राप्त होता है --

१- गन्धर्वों, अप्सराओं तथा विश्राधरों को स्वर्ग में नाच-गान और पुष्पवृष्टि करने वालों के रूप में वर्णित किया गया है । अतः वे स्वर्ग में देवता नहीं हैं । हाँ, हम पृथ्वी-निवासियों के लिए देवयोनि में ही जाते हैं । पुराणों और संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में इन्हें गमचारी कहा गया है । अतः हमने भी इन्हें आशीयदेवों की कौटि में रखा है।-लेखक

विष्णु-- विष्णु जगत् के नियन्ता और त्रैलोक्य के कारण माने गए हैं। इनका दूसरा नाम नारायण है। वह क्षीरसागर में सहस्रफणधारी शेषनाग की शय्या पर योगनिद्रा में मग्न रहते हैं। समीप में ही कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी उनके पादसंवाहिन करती है। उनका विशालवक्रास्थल कौस्तुभ मणि, भृगुमाद और श्रीवत्सलान्न से सुशोभित बताया गया है। गरुड़ उनका वाहन है। वह उनकी सेवा में हाथ जोड़ खड़ा रहता है। सुदर्शन चक्र, शार्ङ्गकृष्ण, कामोदकी गदा, पार्वजन्य शंख और नन्दक खड्ग-- उनके आयुध हैं। वह दैत्यों का विनाश करते हैं। संसार की रचना, उसका पालन और संहार भी वही करते हैं। सामवेद के सातों प्रकार के गीतों में इन्हीं का गुणगान है, वह सातों समुद्रों में निवास करते हैं, सातों अग्नि इन्हीं के मुख हैं, सातों लोकों के वही सहारे हैं, इन्हीं के मुख से चतुर्वर्ग का फलप्रदायक ज्ञान उत्पन्न हुआ है, चारों युगों और चारों वर्णों का निर्माण भी वही करते हैं। वह शब्दादि विषयों का भोग करने के लिए (राम-कृष्ण आदि के रूप में), कठोर तपस्या करने के लिए (नर-नारायण के रूप में), प्रजापालन के लिए (राम आदि के रूप में) और शान्ति अथवा उदारसिन्धिता स्थापित करने के लिए (बुद्ध के रूप में) समर्थ हैं। धर्मस्थापना के लिए वह विधि अवतार लेते हैं।

१- नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय नारायणाय । -- अभि० अंक ४

२- रघु० १०।६-७

३- वही, १०।८

४- वही, १०।१०

५- अये अयं भगवतो वाह्नों गरुडः प्राप्तः। -- दू०वा०, अंक, १

६- रघु० १०।१३

७- दू०वा०, अंक १

८- रघु० १०।१४

९- वही, १०।१६

१०-वही, १०।२१-२४

११-बालचरित, १।६

## विष्णु के अवतार-

प्राचीन संस्कृत साहित्य में विष्णु के केवल दो अवतारों का उल्लेख मिलता है - राम और कृष्ण। कालिदास ने रघुवंश में इस बात का स्पष्ट वर्णन किया है कि रावण के अत्याचारों से घबड़ा कर विष्णु की शरणा में उसी प्रकार गए जैसे धूम से व्याकुल पक्षि छाया वाली वृक्षा के नीचे पहुँचता है।<sup>१</sup> तब देवताओं के दुःख दर्दों को सुनकर विष्णु ने उनसे कहा कि मैं राजा दशरथ के यहाँ जन्म लेकर अपने तीखे बाणों से उनके सिरों को कमल के समान काटकर रणभूमि का मंड चढ़ा दूँगा।<sup>२</sup> समजन्म के प्रसंग में कालिदास ने लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के भूषणों का भी विष्णु का ही तैज कहा है।<sup>३</sup>

उन्होंने विष्णु के दूसरे अवतार 'कृष्ण' का उल्लेख 'विष्णुगीत' के रूप में किया है - 'बह्णीव स्पृष्टरितरुचिना गीपवैषस्य विष्णोः'।<sup>४</sup> यही नहीं, कालिदास ने उनके माई लक्ष्मण और पत्नी रुक्मिणी का भी उल्लेख किया है।

'मधुदूत' के एक श्लोक में विष्णु के वामनावतार का भी संकेत मिलता है। भृगुपति (परशुराम) का नामोल्लेख भी 'मधुदूत' में है किन्तु उनका विष्णु से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया।<sup>५</sup> कुमारसंभव में युवा महावराहंष्ट्रायां विद्वान्तः<sup>६</sup> उल्लेख से वराह अवतार का संकेत भर मिलता है। माघ में नृसिंहवतार का उल्लेख किया है।<sup>१०</sup>

गुप्तीचरवती संस्कृत साहित्य में विष्णु के दश अवतारों की कल्पना प्रतिष्ठित दिखायी देती है। दामिन्द्र ने तो दशावतार को काव्य का विषय चुनकर दशावतार-चरित की रचना की। कथासरित्सागर में विष्णु के मन्दिर का भी उल्लेख हुआ है।<sup>११</sup>

१- रघु०, १०।५,

२- वहीं, १०।४४

३- वहीं, १०।६५

४- भेष०, १५

५- वहीं, ६३

६- मालवि०, ५।२

७- भेष०, ६१

८- वहीं, ६१

९- कुमार०, ६।८

१०- शिशु०, १।४८

११- कथासरि०, ७।२।११५



## शिव-

स्मृतियों में शिव की ज्ञान का देवता माना गया है।<sup>१</sup> यही कारण है कि संस्कृत के प्रायः सभी कवियों ने मंगलाचरण में उनका सादर स्मरण किया है। कथा-सरित्सागर के प्रत्येक लम्बक के प्रारम्भ में शिव अथवा गणेश की ही वन्दना की गई है। जल, अग्नि, पुरीधा, चन्द्र, सूर्य, आकाश, वायु और पृथ्वी-ये शिव की अष्टमूर्तियाँ कही गई हैं।<sup>२</sup> अर्धनारीश्वर,<sup>३</sup> भी उनका एक रूप है। काम का दहन और त्रिपुरासुर का विनाश करने वाले गजवर्धारी शिव सर्पों से परिवर्णित और गौरी से आश्लिष्ट हैं।<sup>४</sup> उज्जयिनी में ये महाकालेश्वर के रूप में विराजमान हैं। त्रिशूलधारी शिव घनुष की धारण करते हैं जिसका नाम 'पिनाक' है।<sup>५</sup> सम्भवतः यहीं 'पाशुपत अस्त्र' है जिसकी प्राप्ति के लिए अर्जुन ने कठोर तपस्या की थी।<sup>६</sup> बाण के अनुसार श्री कण्ठ जनपद के घर-घर में शिव की पूजा होती थी।<sup>७</sup>

## कार्तिकेय-

यह शिव के पुत्र हैं जिनका वास्तविक नाम स्कन्द है किन्तु क. कृत्तिकाओं द्वारा पाले जाने के कारण 'कार्तिकेय' और सरकण्डी के वन में उत्पन्न होने के कारण 'शरवणभट्ट' के नाम से विख्यात है। वे आजन्म ब्राह्मचारी हैं तथा उनका निवास स्थान गन्धमादन पर्वत अथवा देवगिरि है।<sup>८</sup> कालिदास ने मेघ की देवसेना की रक्षा के निमित्त अग्नि में हवन कट्टे किए गए भगवान् शंकर के तेज से उत्पन्न इस मयूर वाहन देवता की पूजा करने के लिए कहा है।<sup>९</sup>

१- ज्ञानमिच्छन्तु शंकरात् ।

२- अमिज्ञा० १।१, कथास० ७।१।६८-६९

३- कान्तासम्मिद्वर्द्धा । माल० १।१, कथा० ६।१।१००-१०२

४- कुमार० ३।७२, कथा०, स १।१

५- कथा०, १०।१।२ (६) माल० १।१, शिशु० १।४

७- मृ०क० १।१

८- वहीं, १।२

९- मेघ० ३६; कादम्बरी अनु० २६; कथा० १८।२।१०६ (१०-) अमि० १।६

११- किराताजुनीय का सारा कथानक ही इस अस्त्र की प्राप्ति की घटना से सम्बन्धित है।

१२- विक्रमा० ४।७२, मेघ० ४७

(१२)- हर्ष चरित, १००

१४-१४- मेघ०, ४७-४८

इन्हें षडानन<sup>१</sup> एवं षाण्मातुर<sup>२</sup> भी कहा गया है। इन्होंने देवताओं की सेना का सेनापतित्व<sup>३</sup> स्वीकार कर तारकासुर का बध<sup>४</sup> किया था। मूच्छकटिक में उन्हें वीरों का इष्टदेव<sup>५</sup> बताया गया है। सूतिकागृह में इनकी स्थापना किए जाने का उल्लेख बाण ने किया है। अतः बालदेवी में भी इनकी गिनी की जा सके।

गणेश-

यद्यपि गणेश की विभिन्न स्तुतियाँ में उन्हें शिव और पार्वती का पुत्र बताया गया है किन्तु हमें संस्कृत साहित्य में इनके जन्म का वृत्तान्त कहीं नहीं मिला। इसके विपरीत कथासागर में ती बताया गया है कि कुमार कार्तिक्य की उत्पत्ति के लिए स्वयं भगवान् शंकर ने भी गणेश की पूजा की थी।<sup>७</sup> बिना इनकी पूजा किए देवताओं की भी सिद्धि नहीं मिलती। सृष्टि निर्माण करने से पूर्व ब्रह्मा ने निर्विघ्न सिद्धि के लिए गणेश का ही पूजन किया था। तारकासुर के बध के लिए इन्द्र भी उन्हीं की पूजा करते हैं।<sup>१०</sup> ये बारह सूर्यों के समान तेजस्वी, एकदन्त, लम्बोदर, और त्रिनेत्रधारी हैं।<sup>११</sup> कथासरित्सागर में इनके द्वाद नामों का उल्लेख हुआ है।<sup>१२</sup> सग्राम राजदरबार और जुर में विजय प्राप्त के लिए तथा चार, अग्नि स्वप्न हंसिक जन्तुओं से भयमुक्ति हेतु इनकी पूजा लोकर में प्रचलित थी।<sup>१३</sup> कुमारी लड़कियाँ मनीषुल प्रति प्राप्त करने की इच्छा से गणेश का ही पूजन करती थीं।<sup>१४</sup>

जैसा कि नाम से विदित होता है, गणेश गणों के स्वामी थे। ये गण सम्भवतः रुद्र के उपद्रवकारी गण थे। इसी लिए कालिदास ने कुमार सम्भव में शिव-समाधि के प्रसंग में लतागृह के द्वार पर पहेरदार हमदण्डधारी नन्दी की अपने झोठों पर उँगली रख कर इन विघ्नकारी गणों की चुप करते हुए वर्णित किया है।<sup>१५</sup>

१- कुमार०, ११।२

४- वहीं, १७।४६-५०

७- कथास० ३।६।८३

१०- वहीं, ३।६।६८

१३- वहीं, ६।५।६६७

२- वहीं, ११।२४

५- मू०क०, तृतीयंक

८- वहीं, ३।६।१००

११- वहीं, ८।७।१७४

१४- वहीं, ३।६।५६

३- कुमार० १३।५०

६- कादम्बरी, अनु० ६४

९- वहीं, ३।१।१

१२- वहीं ६।५।६६५

१५- कुमार० ३।४१

ब्रह्मा -

ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न होने वाला स्वयम्भू,<sup>१</sup> चतुर्भुज, वागीश और सृष्टिकर्ता<sup>२</sup> हैं। वह पितरों के भी पिता, देवों की भी देव और ऋषियों के ऋषि हैं। वह हवि भी हैं, होता भी, भीष्म भी हैं, माता भी ; श्रेष्ठ भी हैं, ज्ञाता भी और ध्येय भी हैं ध्याता भी हैं।<sup>३</sup> जब वे जागति रहते हैं तो सृष्टि चलती रहती है, जब वे सोते हैं तो प्रलय रहता है।<sup>४</sup>

सूर्य -

कथासरित्सागर के अनुसार सूर्य ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का ही स्वयम्भू है।<sup>५</sup> इनके सारथि का नाम अरुण है। जिसके जघाएँ नहीं हैं। उनके रथ में रात ही रात के घोंड़े जुते हुए हैं। उन्होंने अपने रथ को एक ही बार जोता है, उसी से बिना विश्राम किए निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं।<sup>६</sup> उन्हें इक्ष्वाकुवंश का प्रसूतिक बताया गया है।<sup>१०</sup> बाण ने सूर्यपासकों को उल्लेख किया है।<sup>११</sup> प्रभाकर सूर्य का भक्त था।<sup>१२</sup> सूर्य की अर्घ्य दिया जाता था। रक्तचन्दन से सूर्यमण्डल बनाकर करवीर के दुर्षा से उसकी पूजा की जाती थी।<sup>१३</sup> राजतरंगिणी में सूर्य के मन्दिरों का भी उल्लेख हुआ है।<sup>१४</sup>

कुबेर -

वह यक्षों का अधिपति है।<sup>१५</sup> और कैलास पर्वत पर स्थित अलकापुरी<sup>१६</sup> का स्वामी है। वह धन का देवता माना गया है।

१- कुमार० स १

२- वहीं, ३। १७

३- वहीं, स १४-१५

४- वहीं, स ८

५- कथा०, ६। ६। ३०

६- अभिज्ञा०, ४। २

७- शिशु० १। २

८- रघु० ३। २२

९- अभि० ५। ४

१०-रघु १। २

११- दिवसेनेव मित्राक्षरदिना १२- इषा० ४। ३।

काद० पृ० ८८।

१३-हर्षा०, पृ० ७८।

१४- राज०,

१५- मेघ० १,

१६-वहीं, ६७

१७- रघु० ५। २८

१८- प्रतीक्षा०, ५। १७

इन्द्र -

देवतार्जों का राजा है। किन्तु ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के बाद ही उसका नम्बर आता है। दानवों से त्रस्त होने पर वह इन्हीं देवत्रय की शरण में जाता है। यद्यपि यज्ञ का भाग सबसे पहले उसे ही मिलता था।<sup>१</sup> फिर भी वह यज्ञों में विघ्न डालता था।<sup>२</sup> और तपस्वियों की तपस्या को मर्ग करने के लिए कामदेव और अप्सराओं का सहारा लेता था। सौ यज्ञ करने के कारण शक्तु उसका नाम था।<sup>३</sup> पर्वतों का पंख काटने वाला कठोर वज्र उसका शस्त्र है।<sup>४</sup> इन्द्र ध्वज की पूजा प्रचलित थी। यह पूजा यात्रोत्सव के रूप में मनायी जाती थी। मल्लिनाथ के अनुसार वृष्टि की कामना से राजार्जों द्वारा इस उत्सव का आयोजन किया जाता था। उन्होंने भविष्यीय पुराण से प्रमाण प्रस्तुत किया है।<sup>५</sup> राक्षसगिणी के अनुसार इन्द्र की पूजा भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को हुआ करती थी।<sup>६</sup> किन्तु रामायण के अनुसार आश्विन पूर्णिमा को इन्द्रध्वजोत्सव मनाया जाता था।<sup>७</sup>

कामदेव -

वसन्तोत्सव के अवसर पर आश्विनमेखरियों से इन्की पूजा की जाती थी।<sup>१०</sup> रत्नावली में इन्क चित्र का भी उल्लेख हुआ है।<sup>११</sup> यह वसन्त और चन्द्रमा का मित्र है। अपनी समाधि में विघ्न डालने के अपराधी काम को भगवान् शंकर ने अपने तीसरे नेत्र से भस्म कर दिया था।<sup>१२</sup> ब्रह्मा जी के शाप के कारण इसे भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र की अग्नि से भस्म होना पड़ा था। पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर उन्हें विवाह करने की इच्छा उत्पन्न होने पर भगवान् शंकर ने उसे पुनरुज्जीवित कर दिया है।<sup>१५</sup>

१- रघु० ३। ४४

२- वहीं, ३। ३६, ४४

३- कुमार०, ४। २८

४- रघु०, ३। ४६

५- वहीं, ३। ६३

६- वहीं, ४। ३

७- एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकृत्यायुधिष्ठिर ।

पञ्चैतः कामवर्णी स्यात्तस्य राज्यं न संशयः ॥ रघु ४। ३ पर संजीवनी

८- राज० ८। १८२

९- रामा० ३। १६। ३९

१०- तस्मिन् अवलम्ब्य मां यावदप्यपारिक्ता भूत्वा वृत्तकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करामि- अमि०, अक ६

११- रत्ना०, अक १

(१२)- कुमार० ४। २९-३८

(१३)- वहीं, ४। १३

१४- वहीं, ३। ७२

(१५)- वहीं, ४। ४१-४३

यम -

यह मृत्यु का देवता है जिसके अन्य नाम हैं- कृतान्त,<sup>१</sup> वैवस्वत,<sup>२</sup> परंतमती<sup>३</sup> महिषा दत्तका वाहन है जिसके सींगों को रावण ने उखाड़ लिया था। यह भयंकर शाल्मलि दण्ड धारण करता है।<sup>४</sup> यह सूर्य के पुत्र है।<sup>५</sup> बाणभट्ट ने हर्षचरित में यमपट्टिक का उल्लेख किया है जो बाँधे हाथ में ऊँची लाठी पर महिषावाहन यमराज के चित्र से अंकित चित्रपट में परलाक में भेलने वाली यातनाओं का वर्णन कर रहा था।

वरुण -

इसका दूसरा नाम रविता है। तपों से बना हुआ पार इसका अस्त्र है।<sup>८</sup>

देवताओं के समान देवियों की पूजा के भी लोक में अतिप्राचीन काल से प्रचलित रही है। उचता यह है कि भारतीय धर्म में जिसकी मान्यता विभिन्न देवियों की है, उतनी देवताओं की नहीं। वासुपुराण में ४६, का काश्यपसंहिता के खत्तिकल्प में लगभग ७५ और मृत्युपुराण में लगभग २०० देवियों के नामों से उल्लेख मिलते हैं।<sup>६</sup> संस्कृत साहित्य में निम्नलिखित देवियों का उल्लेख हुआ है -

सरस्वती -

यह ब्रह्मा की मानसपुत्री है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में उस ब्राह्मण के ऊपर चँवर डुलाते हुए चित्रित किया है। उस वर्णन के अनुसार उसके पैरों में दो बज्रों वाले मूलपुर थे, कन्ध पर ब्रह्मचक्र था और शरीर महीन एवं स्वच्छ वस्त्रों से आच्छादित था।<sup>१०</sup> वह विद्या की अधिष्ठाता देवी मानी गई है।<sup>११</sup>

सावित्री -

हर्षचरित में बाणभट्ट ने इसकी वंश भूषा का विशद वर्णन किया है।

- |                    |               |                       |
|--------------------|---------------|-----------------------|
| १- भयं (उ०), ४७    | २- रघु० १२।६५ | ३- शिशु० १।५७         |
| ४- वहीं।           | ५- रघु० १२।६५ | ६- कादम्बरी, अनु० २१५ |
| ७- हर्ष०, १५३, १३८ | ८- शिशु० १।५६ | ९-                    |

१०- द्रष्टव्य- अश्वाल, वासुदेवशर्मा; प्राचीन भारतीय लोक धर्म, पृ० १२-१६

११- सुखरूपुर युगलं ---- अश्वलायना ब्रह्मसूत्रा पर वित्रीकृतात्म्या ---- सूक्तम

विमलनासकुनाच्छादित शरीरा ---- । हर्ष० ८

११- कथाव० २।३।६६

यह ब्रह्मा के समीप में रहने वाली ( कदाचित् उनकी पत्नी ? ) है । ब्राह्मणों के पास में वाराणसी के पास रहते हैं ।<sup>१</sup>

गायत्री -  
-----

कथासरित्सागर में इनकी पूजा हान की उल्लेख मिलता है ।<sup>२</sup>

श्री -  
-----

रघुवंश में सरस्वती के साथ श्री का उल्लेख कालिदास में किया है । प्रारम्भ में यह स्वतन्त्र देवी थी किन्तु जागे चलकर इसका लक्ष्मी के साथ रूपांतर हो गया।<sup>३</sup>

लक्ष्मी -  
-----

यह धन की अविष्ठा देवी श्री विष्णु की पत्नी कहे गये हैं ।<sup>४</sup> श्रीरामायण में पद्मनाभ पर विराजमान हो शेषशायी विष्णु के पद सेवा करने लगी लक्ष्मी का कालिदास में भी उल्लेख किया है । श्रीराम के शीर्ष पर प्रान्न होकर उन्ने पर प्रदान करती हैं । बाणभट्ट के अनुसार असन नरवाचार्य की पिद्धि की सफलता के साथ-साथ सम्राट् पुष्पभूति को पुत्र प्राप्ति का भी वरदान दिया था ।<sup>५</sup> राज्यलक्ष्मी के रूप में इसे अत्यधिक चकल बताया गया है ।

माया -  
-----

इस देवी का उल्लेख अश्वघोष ने लीदरनन्द में किया है ।<sup>६</sup>

उपश्रुति -  
-----

कादम्बरी में रानी विलास वती की सेविकाएँ उपश्रुति से देव प्रश्न सुनने जाती हैं । इससे प्रतीत होता है कि वह अदृष्ट कथन करने वाली देवी थीं । महाभारत में इन्द्राग्नि द्वारा ऋद्धि उपश्रुति से इन्द्र के सम्बन्ध में पूछे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।<sup>७</sup> यह यक्षाग्नि की कोई देवी होनी चाहिए ।

१- हर्ष, १०

२- कथा०, १४। १-३०

३- रघु०, ६। २६

४- अष्टांग, वाणभट्ट, वही, ५- अवि०, २। ३, पृ० १०५।

६- रघु० १०। ८

७- हर्ष, ६। १

८- अष्टांग-वाणभट्ट, ४३- अवि०, १०। ३।

९- सौ०, २। ४६

१०- महा०, उद्यो०, १४। १-४

हर्षविरित -

हर्षविरित में सप्तमातृकाओं का उल्लेख<sup>१</sup> हुआ है। अमरकोश के अनुसार इन सात मातृदेवियों के नाम हैं -

प्राची मातृदेवी के नामों की सूची दी जाती है।

प्राची मातृदेवी के नामों की सूची दी जाती है।

कालिदास ने इन्हें संयुक्त रूप से 'मातरः' कहा है।<sup>२</sup> कादम्बरी में मातृदत्ता<sup>३</sup> और मातृमयी<sup>४</sup> का भी उल्लेख हुआ है।

वासुण्डी या वण्डिका-

इस देवी का उल्लेख जाम्बवी, उषरी और व्रजिणी के द्वारा या देवी के रूप में हुआ है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में वण्डिकायतन का विस्तृत वर्णन दिया है।<sup>५</sup> रामदेव ने वण्डिका मन्दिर का वर्णन करते हुए एक निरन्तर प्राणियों की निर्लज्जता, विशाल उदरवाला और लटकते हुए घंटापी दाँतों वाला काल का प्रत्यक्ष मुँह बताया है। वासुण्डी का नरबलि द्वारा भी प्रसन्न किया जाता था।<sup>७</sup>

जगन्मयी -

इस वाण्डाली का देवी का उल्लेख हर्षविरित में हुआ है। डॉ० वाणदेव सराफ अग्रवाल ने 'टू को पुजती' के रूप में इस मंगियों और उमाओं की ही देवी माना है। जोक में ऐसी और भी अनेकों जातीय देवियाँ अवश्य हो रही होंगी।

अवन्तिमाताएँ-

ये अवन्तिदेश की स्थानीय मातृदेवियाँ थीं। अन्य देवीयों में भी स्थानीय देवियों की पूजा अवश्य प्रचलित रही होगी।

<sup>१६</sup> जातमातृका, <sup>१७</sup> बलुक्रिका, <sup>१८</sup> आयामुद्धा और <sup>१९</sup> षष्ठी देवी-

ये षड्वर्गा की देवियाँ हैं। जातमातृका और बलुक्रिका - दोनों एक ही देवी के

१- कालिदास, कादम्बरी, ६०

२- कुमार, ७। ३८

३- काद०, अनु०, ६४

४- वहीं, अनु० ५६

५- काद० अनु० २१६

६- कथा० पृ० ३। १४४

७- वहीं।

(क) हर्षविरित: एक मातृदेवी, ११६, मादटिप्पणी।

८- काद०, अनु० ३१६

१०- हर्ष वसुप, ६

११- काद० अनु० ६४,

१२- वहीं, अनु० ६४

१३- वहीं।

नाम है। इस बिल्ली में मुख वाली देवी का चित्र सुतिकागृह के द्वार के ऊपर बनाया जाता था।<sup>१</sup> हर्षा चरित की टीका में शंकर में भी बताया है - जातमातृ-  
देवता माजोरानना बहुवृत्तपरिवारा सुतिकागृह<sup>२</sup> में स्थापित।<sup>३</sup> जायवृद्धा देवी की स्थापना प्रभुता के निहहान अदात चावलों के मध्य में की जाती थी।<sup>४</sup> टाण्वासुदेव शरणा अग्रवाल ने छठे पश्चिमी उ०प्र० में जन्मोत्सव के अवसर पर पूजी जाने वाली 'बिहाई' माना है।<sup>५</sup> हल्दी से रंग हुए पीतवस्त्रधारिणी षण्ठे देवी भी सुतिका-  
गृह में ही स्थापित की जाती थी। आज कल बच्चों के जन्म के छठे दिन इन देवी की पूजा की जाती है।

### नागदेवता-

पातालवासी देवताओं में नाग प्रमुख देवता है। तदनु, वायुकि, शेषनाग आदि अनेक नागों का नामोल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है। लोक विश्वासों के अनुसार नागों का निवास या तो भूमिविवर है या फिर जलाशय। बाणभट्ट में लिखा है कि रानी विलासवती प्रसिद्ध नागकुल के जलाशयों में रनान करने जाती थीं।<sup>५</sup> संस्कृत साहित्य में नाग दो-प्रकार के रूप में प्रसिद्ध हैं।

### शेषनाग-

ये अनेक सङ्घ कण्ठी पर पृथिवी को धारण करते हैं। वे जब भी सुस्ताने के लिए एक फाण से दूसरे फाण पर पृथिवी का बोझ बदलते हैं तो भूकम्प आन लगता है।<sup>६</sup> ये कारिसागर में रहते हैं और विष्णु इन्हीं की सहायता बनाकर शायन करते हैं।<sup>७</sup>

### श्री कण्ठनाग-

यह श्रीकण्ठ जनपद का स्थानीय देवता था। उसी के नाम पर उस जनपद का नाम श्री कण्ठ पड़ा था। वह भूमिविवर में निवास करता था। इसका विशेष वर्णन बाणभट्ट में हर्षा चरित के तीसरे उच्छ्वास में किया है।

१- वहीं, अनु० ६४,

२- वहीं अनु०, ६४

३- कादम्बरी: एक सा०

४- काद०, अनु०, ६४

५- प्रसिद्धांशु नागकुलहंसेषु

अध्ययन, पृ० ८०-८१, पादटिप्पणी

ममज्जा-काद०, ६४

६- हर्षा पंचम उच्छ्वास।



### कालियनाग-

यह गरुणा के डर से यमुना में छिपकर रहता था ।<sup>१</sup> वह गौ-ब्राह्मण आदि को कष्ट देता था ।<sup>२</sup> इसीलिए कृष्ण ने मानसदेन कर उसे यमुना नदी से बाहर भेज दिया था ।<sup>३</sup>

### नदी देवता-

नदी भी देवियों के रूप में पूजी जाती थी । गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सरयू, कावेरी और सरस्वती - नदियों की परम्पवित्र माना गया है । उत्तर रामचरित में तमसा, मुरला,<sup>४</sup> गोदावरी और भागीरथी की देवियों के रूप में ही चित्रित किया गया है । कालिदास ने गंगा और यमुना की शिव की चामरधारिणी सैविकृती के रूप में वर्णित किया है ।<sup>५</sup> गंगा विष्णु के पैर के अंगूठे से उत्पन्न हुई है । गंगा-यमुना के पवित्र संगम का मनोरम वर्णन करते हुए कालिदास ने उसे मोक्ष प्रदाता कहा है ।<sup>६</sup>

### पर्वत देवता -

पर्वतपूजा सम्बन्धी उल्लेख संस्कृत साहित्य में विरल हैं । हरिवंश, श्रीमद् भागवत आदि पुराणों में पर्वतपूजा सम्बन्धी अनेक प्रसंग प्राप्त हैं । किन्तु आलोच्य परिधि से बहिर्हीन होने के कारण हम उसका विवेचन करना उचित नहीं समझते ।  
नैस- गोवैद्यनपूजा महत्वपूर्ण विषय का उल्लेख भी संस्कृत के किसी न किसी काव्य में अवश्य मिल जाना चाहिये ।

इतना तो निश्चित है कि संस्कृत कवियों ने पर्वतों की पवित्रता का प्रतिपादन किया है । हिमालय देवतात्मा है ।<sup>७</sup> तथा यज्ञ में मातृ पाने के अधिकारी पर्वतों का वह स्वामी है ।<sup>८</sup> उसकी पत्नी मैना के गर्भ से मैनाक पुत्र उत्पन्न हुआ

१- भगवतो वरवाहनाद् गुरुडाद् भीर्ता हर्मिह प्रविष्टो स्मि । -बाल० अंक १

२- वहीं, ३। १६

३- वहीं, चतुर्थांक ।

४- उत्तर०, तृतीय स्क सप्तम अंक ।

५- कुमार०, ७। ४२

६- वहीं, ६। ७०

७- रघु० १३। ५४-५८

८- कुमार०, १। १

९- वहीं, १। १७, ७२

जिसने समुद्र के साथ मित्रता कर जनें ऊपर महाप्रतापी इन्द्र के वज्र का प्रहार नहीं होने दिया।<sup>१</sup> उसकी पुत्री पार्वती शिव की अर्धांगिनी है। सज्जन लोग आकर इसके शरीर की पूजा करते हैं।<sup>२</sup>

बाण मट्ट में आन्ध्रदेश में स्थित श्री पर्वत का उल्लेख किया है। दूर-दूर से लोग अपनी मनोकामना पूरी कराने के लिए श्रीपर्वत की यात्रा करते थे। तत्कालीन जनविश्वास था कि त्रिपुरच्छाह के समय गणेश द्वारा उत्पादित विध्वनी से रक्षा करने के लिए शिव ने जिस तैजस्वी अग्नि का उत्पन्न किया था, वही उस पर्वत की चारों ओर से रक्षा करता है।<sup>३</sup> यहां के वृद्ध ब्रह्मिष्ठ पुजारी महारक्षककारी सिद्धियों के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे।<sup>४</sup>

### वृक्षादेवता-

वृक्षा पूजा सम्बन्धी उल्लेख भी संस्कृत काव्य ग्रन्थों में बहुत कम मिलते हैं। संस्कृत काव्यों में बहुधा उल्लिखित वनदेवी और वनदेवता - वृक्षापूजा के ही समष्टिरूप हैं। अभिज्ञान शकुन्तल में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसके प्रणयन के लिए विभिन्न वृक्षा वस्त्र, आलता आदि देते हैं और वनदेवी अनेक आभूषणा<sup>५</sup> कल्पवृक्षा सभी की मनोकामनाओं को पूरा करने वाला कहा गया है। ( उ० भव० १२ )। महामाथ्य में उद्धृत 'आम्राश्व सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः वक्रव्य से अनुमान होता है कि आम के सेवन से पितृगण प्रसन्न होते हैं। बाणमट्ट में लिखा है कि रानी विलासवती पुत्र प्राप्ति की कामना से अश्वत्थादि महावनस्पतियों की पूजा, प्रदक्षिणा<sup>६</sup> और वन्दना करती थी। भविष्यपुराण के अनुसार अश्वत्थादि महावृक्षा है-अश्वत्थ, च्यग्रोथ, पित्रुमर्द (नीम), इल्ली, कपित्थ, बिल्व, आमलक और आम्र। इन वृक्षाओं को लगाने वाला व्यक्ति नरक में नहीं जाता -

१- वहीं, १।२०

२- वहीं, १।७३

३- सकलप्रणादिमनोरथसिद्धिपर्वतः।

४- श्रीपर्वताश्चर्यवातसिद्ध्याभिज्ञान जरद्विष्ठ धामिना - हर्ष० ७।

५- अभि०, ४।५

६- काद०, अनु० ५

अश्वत्थीकं पित्रुमर्त्यकं न्यग्रोधमर्त्यकं दशार्जिचिपतीकम् ।

कपित्थबिल्वामलकान्यं च पंचाग्नयापी नरकं न पश्येत् ॥<sup>१</sup>

बालचरित नाटक में वासुदेव गोकुल जाते समय न्यग्रोधवृक्षा के नीचे खड़े होकर उससे प्रार्थना करते हैं - 'मो मो न्यग्रोधदेवता, यद्यं बाली लोकहितायै कंसवधायै वृष्णिभुले प्रभूतशब्द, घोषात् कार्श्वदिहागच्छ ॥ न, न, मम क्यस्या नन्दगीप स्वागच्छ ॥'<sup>२</sup>

### पशु पूजा-

गौ, वृषभ, ऐरावत और सिंह- ये चार महापशु माने गए हैं। शिव का वाहन नन्दी वृषभ है, ऐरावत हाथी इन्द्रा का और सिंह अम्बिका का वाहन है। कामधेनु देवताओं की पूजा गौ है। राजा दिलीप को इसी की उपेक्षा कर देने के कारण सन्तान सुख नहीं मिला। बाद में उसकी पुत्री नन्दिनी की सेवा करने से उसे पुत्र राम हुआ। कालिदास ने रघुवंश के दूसरे सर्ग में दिलीप की गौसेवा का विस्तृत वर्णन किया है। बालचरित में वृद्धोपालक कहता है - 'सूर्योदय से पूर्व अमृत से परिपूर्ण, संसार की माता गौर्जा की आदर के साथ सिर झुकाकर प्रणाम करो। हिन्दु समाज में गौपूजा भी घर-घर में प्रचलित है।

### पितृ पूजा -

पितृ पूजा गृहस्थ का आवश्यक धर्म थी। पितृकृपा से मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पादन आवश्यक था।

### यक्षा-

मेघदूत में यक्षा को अलका का निवासी बताया है। उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता। आँसू केवल आनन्द में आते हैं, प्रिय का इच्छित संयोग न हो पाने के कारण कामजन्य सन्ताप के अतिरिक्त अन्य कोई ताप नहीं, प्रणयकलह के क्षणों के अतिरिक्त कोई वियोग नहीं और नवीन यौवन की झड़कर और कोई अवस्था नहीं होती

१- धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) पृ० ४७५ की पादटिप्पणी में भविष्य पुराण के नाम से उद्धृत।

२- बाल०, अंक १

३- रघु०, १/७६

४- अणुविजयन्ते षु धे पणमह षाव्वाक्लेशा वी षेणा ।

णिञ्चं जामाद्वृणं गौणाणं अभिदपुष्णा ॥ - बाल० १/३

५- रघु० १/७२

६- मेघ० (उत्तर), ४

इनकी शक्ति दिन में क्षीण हो जाती है।<sup>१</sup> इन्हें प्रसन्न करने के लिए बलि दी जाती थी।<sup>२</sup> सामदेव ने मणिमद्र नामक यज्ञ के मन्दिर का उल्लेख किया है जहाँ लोग मनीषी मनीं आया करते थे।<sup>३</sup> बाणभट्ट ने वीरपुराणां (वीरब्रह्म-यज्ञ का नाम) के घास-फूस, लकड़ी आदि से बने हुए यानों का उल्लेख किया है।<sup>४</sup>

यज्ञों के अतिरिक्त विद्याधर, गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चरणा, किन्नर, या किम्पुरुष भी देवताओं के अन्तर्गत गिने गए हैं। किन्तु इनकी पूजा का उल्लेख संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता। सामान्यतया इन्हें देवसभाओं में गायक, नर्तक, प्रशंसक और पुष्पां की वषां करने वाले के रूप में ही वर्णित किया है।

### बलिविधान-

विभिन्न देवी-देवताओं का प्रसन्न करने के लिए बलिप्रदान करने की प्रथा थी। बलि के दो प्रकार थे-एक, प्रतिदिन सन्ध्यावन्दनापरान्त गृहस्थद्वारा सम्पादित की जाने वाली और दूसरी किन्हीं विशिष्ट मनोकामनाओं की संपूर्ति हेतु मन्दिर या चौराहे आदि पर सम्पादित की जाने वाली।

मुच्छकटिक में चारुदत्त विदूषक का बलिकर्म की आवश्यकता एवं उपयोगिता सम्पाति हुए कहता है कि यह गृहस्थ का नित्य धर्म है। व्यक्ति को तब से, वाणी से और मन से बलिकर्म के द्वारा देवों का प्रसन्न अवश्य करना चाहिए। इसमें सौच-विचार अथवा तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं है।<sup>५</sup> बाण भट्ट ने लिखा है कि रानी विलासवती पुत्र प्राप्ति की कामना से कृष्णायज्ञ की चतुर्दशी की रात्रि में चौराहे पर महागारुडिक द्वारा बनाए हुए मंडल के बीच में बैठकर दिग्देवताओं को बलि से प्रसन्न कर मंगल स्नान करती थी और कभी-कभी रत्नजटित दांलावलय पहनकर दोनों हाथों में चांदी के पत्र भज्जात तण्डुलों से बनी हुई आत और दही की बलि कीर्तों को खिलाती थी<sup>६</sup> उसके परिजन भी रात में शृंगारियों के लिए मांसबलि के पिण्ड

१- कथा०, १।७। ३५

२- वहीं, १४। १। ५७

३- वहीं, २। ५। १६६

४- जननिर्जित तृणपत्रांकाष्ठकोटिभूटप्रकटित वीरपुराणघात स्थान्या- । काद०, अनु० २१५

५- म०क० १। १६

६- काद०, अनु०, ५६

पाँकत थे।<sup>१</sup> शबर, मील आदि में पशुबलि की प्रथा सर्वाधिक थी। कादम्बरी में शुक शबरसेना की देखकर सोचता है कि ये कूर कर्मा पशुओं के राधिर से अपने देवताओं को पूजते हैं और मांस की बलि चढ़ाते हैं।<sup>२</sup> चण्डिकायतन के वर्णन के प्रसंग में बाण ने लिखा है कि उसके आंगन की देखकर ऐसा लगता था कि वहाँ हिरा की बेल खूब बढ़ी हुई है - उस हिरा रूपी बेल के बलि किए गए मृत्तों के सींग अंकुर थे, जो भी पल्लव, नेत्र पुष्प और मुण्ड फल थे। रक्त की अधिकता से आंगन में कीचड़ हो गई थी।<sup>३</sup> राम देव ने भी चण्डिका मन्दिर का वर्णन लगभग ऐसा ही किया है।<sup>४</sup> मरण काल धारुण होने पर मृत्तों के रक्षा के लिए भी बलि दी जाती थी।<sup>५</sup> महानवमी पर दुर्गा के लिए भैंस की बलि दी जाती थी।<sup>६</sup> कथा हरितसार में नरबलि का भी उल्लेख मिलता है।<sup>७</sup>

### व्रतोंपवास -

अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना में व्रत और उपवास रखने की परम्परा इस देश में बहुत प्राचीन है। राजा दिलीप ने पुत्र प्राप्ति की कामना से अपनी रानी सुदाक्षिणा के साथ इक्कीस दिन तक नन्दिनी की जी सेवा की थी, उसे कालिदास ने 'व्रत' ही कहा है।<sup>८</sup> पुत्र की दीर्घायु-आदि की कामना से माताएँ उपवास करती थीं। अभिज्ञान शाकुन्तल में राजमाता तपो-वनस्थ दुष्यन्त का करमक द्वारा सन्देश भिजवाती है कि 'आज से चौथे दिन मेरे व्रत का पारण होगा, उस अवसर पर आमुष्मांर का उपस्थित रहना आवश्यक है।'<sup>९</sup> राष्ट्रप्रिय को प्रसन्न करने के लिए पत्नियाँ प्रियानुप्रसादन व्रत करती थीं।<sup>१०</sup> इसी प्रकार जन्माङ्गार में भी वर्तमान पति को ही पति पुनः पतिरूप में प्राप्त की कामना से

१- वहीं,

२- वहीं, अनु०, २८

५- वहीं, अनु० २१६

४- कथा० ५।३।१४४

५- हर्षा०, उच्छ्वास ५

६- वहीं, उच्छ्वास ८

७- कथा० ५।३।१४४

८- रघु० २।२५

९- अभिज्ञा०, द्वितीयंक

१०- मर्तुः प्रियानुप्रसादनं नाम - विक्रमा० अंक तृतीय ।

स्त्रियाँ 'अभिरूपपति' नामक व्रत रखती थीं ।<sup>१</sup> मृच्छकटिक में चारुदत्त की पत्नी धूता रत्नषाष्ठी नामक व्रत करने के उपरान्त ब्राह्मण विद्वेषक को रत्नमाता दान में देती है ।<sup>२</sup> रानी विजय वती सिद्धयन्तों में जाकर भिक्षावृत्ति से पचावन करती थी ।<sup>३</sup> यह भी एक प्रकार का व्रत था । उज्जैन में मगवान् महाकाल को प्रसन्न करने के लिए प्रदोषव्रत करने की परम्परा थी ।<sup>४</sup>

सती-साध्वी स्त्रियाँ पतिविरह में विरहव्रत का पालन करती थीं ।<sup>५</sup> कुछ लोग जीवन के अन्तिम क्षणों में व्यथियों से कृत्कारा पाने के लिए तीर्थयात्राओं में प्रायोपवेशन भी करते थे ।

व्रतोपवास के बाद पारणा की जाती थी<sup>७</sup> और व्रतधारी व्यक्ति अपने सामाजिक स्तर के अनुसार ब्राह्मण को भोजन कराता और उन्हें दक्षिणा देता था ।<sup>८</sup>  
तीर्थ यात्रा-

तीर्थ यात्रा लोक धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है । कथासरित्सागर में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थ यात्रा उसके लिए उचित है । जिसके पास वैदिक कर्म करने के लिए प्रचुर धन सम्पत्ति नहीं है<sup>६</sup> । तत्कालीन जनविश्वास था कि पवित्र नदियों तथा उनके संगमों में स्नान करने से पापों का नाश, स्वर्ग तथा मोक्षा की प्राप्ति होती है ।<sup>१०</sup> नित्य शुद्धि के लिए तीर्थ यात्रा आवश्यक थी ।<sup>११</sup> 'कारिदार के यज्ञ की विश्वास था कि मेष जब सरस्वती का जलान करता, तो उसका अन्तःकरण पवित्र हो जायेगा ।<sup>१२</sup> आज गंगा सरयू के पावन संगम पर शरीर त्यागकर देवत्व प्राप्त करते हैं ।<sup>१३</sup> गंगा यमुना का संगम तो इतना पवित्र माना गया है कि वहाँ स्नान करने मात्र से ही तत्त्वज्ञान बिना भी मोक्षा प्राप्ति हो जाता है ।<sup>१४</sup>

१- चारुदत्त, प्रश्नांक, प्रस्तावना में और मृ० क० प्रश्नांक प्रस्तावना में नहीं का वाक्य ।

२- अहं खलु रत्नषाष्ठीमुपांशितासम् । मृ० क० तृतीयांक । ३- काद०, अनु, ५६

४- पादताडितका पृ० २३४ (५) अभि०, ७। २१

६- रघु०, ८। ६४-६५ (७) वहीं, २। ३६, ५५

८- अस्मादृशकयोग्या ब्राह्मणे न्येषितव्य ।

-- अपि च दक्षिणापि ते मविष्णति । मृ० क० प्रश्नांक, प्रस्तावना ।

९- कथा०, ८। ६। २२४ (१०) रघु० २४। ६५, १३। ५८

११- कथा०, १२। १६। २१ (१२) पूर्यमेष, ५३

१३- रघु० ८। ६५ (१४) वहीं, १३। ५८

दुष्ट ग्रहों की शान्ति हेतु करम के लिए भी तीर्थ यात्रा की जाती थी । कण्व शकुन्तला के प्रतिकूल ग्रहों की शान्ति हेतु ही रामतीर्थ की यात्रा करते हैं<sup>१</sup>;

संस्कृत में अनेकों तीर्थों का उल्लेख मिलता है । कुछ प्रसृत तीर्थों के नाम हैं- रामतीर्थ, शवीतीर्थ, अम्बर तीर्थ, महाकालतीर्थ, कनकल, बदरिकाश्रम, पुष्कर कश्मीर में तो अनेकों समयस्मृतीर्थ बताए गए हैं ।<sup>६</sup>

जप-तप-सिद्धि-

सन्ध्यामन्दन और जप उच्चरणों के निष्ठानात्र व्यक्तियों की दैनिक क्रियाओं के अनिवार्य अंग थे । मृच्छकटिक में चारुदत्त सन्ध्यामार्गना<sup>१०</sup> और जप<sup>११</sup> की दैनिक व्यर्थ का अंग मानता है । मन्त्रों का जप सम्भवतः मीन हांकर किया जाता था, जोड़ों के चलते रहने से उसकी प्रतीति हो जाती थी । कादम्बरी में चंकल जोड़ों वाली वृद्धों की मन्त्रजप करने वालों के रूप में कल्पना की गई है ।<sup>१२</sup>

भैमिष्ठिक क्रिया के रूप में भी मन्त्रों का जप किया जाता था । अनावृष्टि होने पर वर्षा की कामना से जप या साकल्य संहिता का पाठ किए जाने का उल्लेख पवनजलि में भी किया है ।<sup>१३</sup>

तपस्या मुनि जीवन का अनिवार्य अंग थी । दुःसाध्यता मानों उसकी कसौटी थी । अमिज्ञान शाकुन्तल में एक कठोर तपस्या में निरत मुनि का वर्णन करता हुआ मातलि कहता है - " मुनि के दाहिने शरीर तक दीमकों ने बांझी बना ली है, छाती पर सांप की कुँडल पड़ी है, गले में सूजी लताएं उलझी पड़ी हैं, कन्धों तक लटकी जटाओं में चिड़ियाँ ने घाँसल बना लिए हैं और वे स्थाणु के समान अकल होकर सूर्य बिम्ब पर दृष्टि लगाए समाधिस्थ हैं ।<sup>१४</sup> कितनी कष्टसाध्य है, तपश्चर्या ।

विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए जो तपस्या जादि की जाती थी, उसे साधना या सिद्धि कहते थे । संस्कृत साहित्य में ऐसी सिद्धियाँ के उल्लेख प्राप्त होते हैं । तत्कालीन जनविश्वास था कि मन्त्रीद्वारा विभिन्न देवी देवताओं की

१- अमि०, अंक १

२- वहीं ।

३- वहीं, षाष्ठांक

४- रघु०, ८। ३३, १८। ३१

५- कथ०, १८। २। १०६

६- वहीं, १। ३। ४

७- वहीं, १। ५। १३ २

८- वहीं, ८। २। ८३

९- वहीं, ६। १। ४५

१०- अहमपि कृतसौचः सन्ध्यामुपासि । मृ०क० अंक ३

११- समाप्तमो रिमावहीं, अंक १

१२- कादम्बरी, चण्डिकायतन वर्णन ।

१३- महामनस्य १। ४। ८४

१४ अमि०, ७। ११

प्रसन्न कर अमोघ सिद्धि की जा सकती है। राकारणियों में उलूख सिद्धि का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> बाणभट्ट ने भी राकारणियों का विस्तृत वर्णन किया है। इस सिद्धि में असुर विवर प्रवेश, महामांस-विश्रय, गहन रात्रि में अलंकृत शव की छाती पर बैठकर उसके मुंह में अग्नि जलाकर हवन करना जैसे त्रीमत्स कार्य भी किए जाते थे।<sup>२</sup> कथासरित्सागर में पिशाचाधना का प्रकार बताया है कि रात को कश नगनावस्था में हाथ में चावल लें मंत्रजप करते हुए चौराहे तक जाय जाएं वहां दो मुठ्ठी चावल रखकर बिना पीछे देखे लौट आए।<sup>३</sup> उसी ग्रन्थ में प्रज्ञप्ति,<sup>४</sup> कास-कषिणी,<sup>५</sup> मायापत्नी,<sup>६</sup> परियतिनी,<sup>७</sup> कृत्या,<sup>८</sup> हेमसिद्धि<sup>९</sup> आदि सिद्धियों के नामों का भी उल्लेख मिलता है।

**मन्त्र-**

डा० सत्येन्द्र ने मन्त्र कालीक्यातां और लोकाहित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है।<sup>१०</sup> वस्तुतः मन्त्र का तीघा सम्बन्ध लोकाहित्य है। पास्क ने मन्त्र शब्द का निर्वाचन करते हुए 'मननात् मन्त्र' कहकर परांदासप से इसी सिद्धान्त को पुष्ट किया है। मन्त्रों का मनायांग पूर्ण सिद्ध किया जाता है, उनमें जो शब्द जिस स्थान पर नियत है, उस हटाया जथा बदला नहीं जा सकता, उसे अन्यथा प्रयुक्त नहीं किया जा सकता और न इसका अशुद्ध उच्चारण ही किया जा सकता है। मूढ से या जानबूझकर ऐसा कर देने पर मन्त्र का उल्टा प्रभाव होता है। पतंजलि ने महामाष्य में इसी सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कोई प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है-

दुष्टः शब्दः स्वरतो नातीतो वा

वि-प्यप्रयुक्तो न तमथैवाह ।

स माग्लग्री यजमानं हिनासि

यथन्द्र शत्रुः स्वरतोपराधात् ॥

११

१- राज० ७। २८

२- हर्षचरिते तीर्थ उच्छ्वास

३- कथा०, ६। २। १६४-६६

४- वहीं, ६। १। ५१

५- वहीं, १२। २। ६६

६- वहीं, अष्टाध्यायी ७। ८। ३८

७- वहीं, ८। ३। ११८

८- वहीं, १। ५। १२१

९- वहीं, १४। ४। ८१

१०- फलतः साधनासिद्धि का रूप किन्तु ही मनीषी ज या न हो, मन्त्र का रूप तो

लोकाहित्य और लोकाहित्य दोनों ही वस्तु है - सत्येन्द्र-लोकाहित्य-

मिश्रान, पृ०, ४६७

११- महामाष्य, प्रथाहिक ।



यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि प्रस्तुत पद्य में 'अर्थ श्लो' का प्रयोग-  
 कर्णों में 'पद्यायै' के रूप में गृह्यता किया है किन्तु वास्तविकता यह है कि यहाँ  
 अर्थ से प्रयोग सिद्धि जमी नहीं, क्योंकि मन्त्र के स्वर शब्दों का निशिष्ट अर्थ  
 व्याकरणाशास्त्र द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता, यद्यपि उनका अपना गूढ़ अर्थ  
 होता है किन्तु वह भावना और क्रिया की निशिष्टता पर ही निर्भर करता है।  
 इसी लिए यज्ञों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के प्रबल पक्षपाती महामीनांक कौत्स का मत  
 था- 'अनर्था हि मन्त्राः'। अर्थात् व्याकरणा, निरुक्त आदि के आधार पर उनका  
 अर्थ नहीं निकाला जाता।

मन्त्र का निशिष्ट स्वरूप होता है और निशिष्ट प्रयोग एवं प्रयोगन भी।  
 अतः मन्त्र का प्रतिनिधि अन्य भाषा या मन्त्र नहीं हो सकता। यह क्रिया और भावन  
 का सारण करता है। इस विषय का विवेचन करते हुए सारस्वती लिखते हैं -

‘तथा मन्त्रानां नान्यो मन्त्रः प्रतिनिधीयते।

आः अन्त्यायै संयोगात् । मन्त्रस्य हि एतत्प्रयोगः,  
 यत्स्मारयति श्रियां साधनं वा । अकस्मिन् स्मरते न श्रियां गतिम् । तद्वचरितं मन्त्रं  
 यदि तस्यायै त्वं शब्दमुच्चारयति, पूर्वं प्रीतिं ये शब्दमुच्चारयन् शब्दनाथं प्रतीयते ।  
 अथ प्रतीतमपि पुनः प्रतिनिधिशब्दोच्चारणेन प्रतीयाच्छब्दात् प्रतीतिं कुर्यात् । एवं  
 च प्रतिनिधिशब्दोच्चारणानुराधी नर्कः स्यात् । न हि शब्देन प्रत्यापयितव्यमिति  
 किञ्चित् प्रमाणमस्ति ? यदस्ति, तद्विशेषणार्थमेव शब्देन बहिर्वाङ्मनस्यम् । तदभावे  
 शब्दान्तरानुराधी नर्कः स्यात् । तस्मान्न शब्दस्य प्रतिनिधिः ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मन्त्र का गूढ़ अर्थों के साथ प्रमाण सम्बन्ध है। मन्त्रों  
 की यही शक्ति उक्तमानस पर कार्य कर रही है। इसीलिए आगे चलकर मन्त्र शब्द का अर्थ  
 'मननात् वाणनात्', हो गया।

१- इस सम्बन्ध में यह सिद्धान्त प्रवर्तित है -

मन्त्रे तीर्थे द्विजं देवं देवसे मिषां गुरी ।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

२- निरुक्त, १।५

३- मीमांसादर्शन ६।३।१५ पर सारस्वती ।

४- रामतापनीय ० पू० १।२२

मन्त्रात शब्दों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध सूत्र बहुत ही दुर्लभ है, यह भी बाग चलकर बिलकुल टूट हो गया जबकि लोकमानस ने मन्त्रों में हर-कार की मूर्त घोषित कर दिया । एक बार सिद्ध पुरुष का मुँह में जो शब्द निकल गया, वही मन्त्र बन गया । वैदिक ऋषियों के मन्त्र उनकी चमत्कार-शक्ति ने घोषितों ही हैं जिनमें किसी प्रकार का परिवर्तन आज के वैज्ञानिक युग में भी हो सका नहीं है ।

संस्कृत साहित्य में हम दो प्रकार के मन्त्र मिलते हैं - प्रथम मन्त्र जिन्हें किसी न-निर्दिष्ट रूप में वेदों में जोड़ा जाता है, द्वितीय वे मन्त्र हैं जिनकी रचना सामान्य सिद्ध पुरुषों द्वारा की गई है । दोनों ही प्रकार के मन्त्र सिद्ध हो जाने पर अभीष्ट फल की प्राप्ति कराते हैं ।

जिस प्रकार मन्त्र का रहस्य निगूढ़ होता है उसी प्रकार उसकी साधना भी उतनी ही निगूढ़ होती है । कादम्बरी ने कादम्बरी में बताया है कि शरीर दुर्नि में निगूढमन्त्र साधन से अपना शरीर अत्यन्त कुल कर लिया था ।<sup>१</sup> जघमर्षणा नामक मन्त्र पवित्र करने के लिए था । अदृष्ट होने तथा अदृष्ट वस्तुओं का बताने में भी मन्त्रों का प्रयोग किया जाता था । महाकाष्ठसूय नामक मन्त्र से श्मशान की कालीमाता को रिद्ध किया जाता था । राक्षसुच्छि वृक्षा मृत्यु पर राज्य प्राप्त करने के लिए मृत्युंजयमन्त्र का जप किया जाता था । सर्वाभिसिद्धि और सरस्वती साधना के लिए श्री हर्ष ने चिन्ता भूषा मन्त्र का जप किया था ।

वैदिक मन्त्रों की रचना ऋषियों द्वारा हुई थी । रघुवंश में पतिष्ठ को मन्त्रों का रचयिता और मन्त्र शक्ति के कारण महान् प्रभावशाली बताया गया है । कादम्बरी में वर्णित द्रविड़ पुजारी के पास जो मन्त्र-तन्त्र की पाठियाँ थी, वे सम्भवतः किसी देशी भाषा में लिखी रही होंगी । संस्कृत साहित्य में भी लौकिक मन्त्र पाये जाते हैं । नाट्यशास्त्र में जगैर पूजा के लिए निम्नलिखित मन्त्र बताया गया है -

यथाक्री गिरिर्नरहिमर्षाश्च महाबलः ।

ज्यावहौ नरेन्द्रस्य तथा त्वमक्री भव ॥<sup>६</sup>

ऐसे अनेकों मन्त्र पुराणों तथा गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं जिनका शास्त्रीयमानस से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

१- कादम्बरी, अनु० ३४

४- हर्ष०, तृतीय उच्छ्वास

७- रघु० १।६१

२- वहीं, अनु० १३५

५- काद० अनु० ३४८

८- काद० अनु० २६६

३- वहीं, अनु० २६६

६- नैषाधायचरित

६- ना० शा० २।६८

आगे चलकर मन्त्रों पर शास्त्रीय कवी हुईं । मन्त्रांशद्वय में मन्त्र के तीन प्रकार बताए गए हैं - स्त्री, पुरुष और नपुंसक । जिन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' लगाया जाता है वे स्त्री जाति के हैं । जिन मन्त्रों के अन्त में 'ह्रस्व' या 'फट' लगाया जाता है वे पुरुष जाति के और जिनके अन्त में 'नम' लगाया जाता है, वे नपुंसक जातीय मन्त्र हैं । ये निम्नलिखित मन्त्र जान्ति, क्षीरसागर, स्तम्भन, क्षिप्र, उच्चाटन और मारणा- इन छः कर्मांशों में प्रयुक्त होते हैं । सान्त ज्ञान, और अतिरीद्र मन्त्र की तीन जातियाँ हैं । किसी भी मन्त्र में 'हु फट' लगा देने पर वह अतिरीद्र हो जाता है । गुरुकी जन्म का एक उदाहरण लीजिए, जिसका अर्थ स्वर्ग से आकर भैयाकरणा पाणिनि भी नहीं कर सकते, केवल मन्त्र सम्प्रदायावुरोध से ही इन बीजपाठों को कुछ कुछ समझा जा सकता है ।

मन्त्र है - 'ह्रीं ह्रस्वां स्वां ह्रीं ह्रस्वां स्वां ह्रस्वां' ।

नमः । इन बीजपाठों का स्पष्टीकरण कुछ कुछ इस प्रकार है -

ह्रीं - ह ( गगन ), वी ( मनु ), ( अगार इन्दु )

ह्रस्वां - ह पू फट र + इन्दु + ए ( भग ) ।

स्वां - व फट र + इन्दु + ए ( भग ) ।

ह्रीं - ह ( वाकाश ), ए ( मृग ), रु अग्नि ), वी ( मनु ), अगार ( इन्दु ) ।

ह्रस्वां - ह ( वाकाश ), ए ( मृग ), व फट र ( अग्नि ), ए ( भग ), अगार ( इन्दु ) ।

स्वां - ह ( वाकाश ), ए ( मृग ), वी ( मनु ), अगार ( इन्दु ) ।

इस मन्त्र में ह्रीं, वी व वीर 'ह्रस्वां', शक्ति है । कृष्ण रामचन्द्र जी देवता ह्रीं और ह्रस्व जाती है । स्पष्ट है, इस वैदिक मन्त्र में भी कृष्ण देवता और ह्रस्व की कल्पना की गई है । लोकावतारों के मन्त्रों में भी यह विशेषता पाई जाती है । वहाँ केवल ह्रस्व निदिष्ट नहीं होता ।

1990 1991 1992 1993 1994 1995 1996 1997 1998 1999 2000 2001 2002 2003 2004 2005 2006 2007 2008 2009 2010 2011 2012 2013 2014 2015 2016 2017 2018 2019 2020 2021 2022 2023 2024 2025 2026 2027 2028 2029 2030 2031 2032 2033 2034 2035 2036 2037 2038 2039 2040 2041 2042 2043 2044 2045 2046 2047 2048 2049 2050 2051 2052 2053 2054 2055 2056 2057 2058 2059 2060 2061 2062 2063 2064 2065 2066 2067 2068 2069 2070 2071 2072 2073 2074 2075 2076 2077 2078 2079 2080 2081 2082 2083 2084 2085 2086 2087 2088 2089 2090 2091 2092 2093 2094 2095 2096 2097 2098 2099 2100 2101 2102 2103 2104 2105 2106 2107 2108 2109 2110 2111 2112 2113 2114 2115 2116 2117 2118 2119 2120 2121 2122 2123 2124 2125 2126 2127 2128 2129 2130 2131 2132 2133 2134 2135 2136 2137 2138 2139 2140 2141 2142 2143 2144 2145 2146 2147 2148 2149 2150 2151 2152 2153 2154 2155 2156 2157 2158 2159 2160 2161 2162 2163 2164 2165 2166 2167 2168 2169 2170 2171 2172 2173 2174 2175 2176 2177 2178 2179 2180 2181 2182 2183 2184 2185 2186 2187 2188 2189 2190 2191 2192 2193 2194 2195 2196 2197 2198 2199 2200 2201 2202 2203 2204 2205 2206 2207 2208 2209 2210 2211 2212 2213 2214 2215 2216 2217 2218 2219 2220 2221 2222 2223 2224 2225 2226 2227 2228 2229 2230 2231 2232 2233 2234 2235 2236 2237 2238 2239 2240 2241 2242 2243 2244 2245 2246 2247 2248 2249 2250 2251 2252 2253 2254 2255 2256 2257 2258 2259 2260 2261 2262 2263 2264 2265 2266 2267 2268 2269 2270 2271 2272 2273 2274 2275 2276 2277 2278 2279 2280 2281 2282 2283 2284 2285 2286 2287 2288 2289 2290 2291 2292 2293 2294 2295 2296 2297 2298 2299 2300 2301 2302 2303 2304 2305 2306 2307 2308 2309 2310 2311 2312 2313 2314 2315 2316 2317 2318 2319 2320 2321 2322 2323 2324 2325 2326 2327 2328 2329 2330 2331 2332 2333 2334 2335 2336 2337 2338 2339 2340 2341 2342 2343 2344 2345 2346 2347 2348 2349 2350 2351 2352 2353 2354 2355 2356 2357 2358 2359 2360 2361 2362 2363 2364 2365 2366 2367 2368 2369 2370 2371 2372 2373 2374 2375 2376 2377 2378 2379 2380 2381 2382 2383 2384 2385 2386 2387 2388 2389 2390 2391 2392 2393 2394 2395 2396 2397 2398 2399 2400 2401 2402 2403 2404 2405 2406 2407 2408 2409 2410 2411 2412 2413 2414 2415 2416 2417 2418 2419 2420 2421 2422 2423 2424 2425 2426 2427 2428 2429 2430 2431 2432 2433 2434 2435 2436 2437 2438 2439 2440 2441 2442 2443 2444 2445 2446 2447 2448 2449 2450 2451 2452 2453 2454 2455 2456 2457 2458 2459 2460 2461 2462 2463 2464 2465 2466 2467 2468 2469 2470 2471 2472 2473 2474 2475 2476 2477 2478 2479 2480 2481 2482 2483 2484 2485 2486 2487 2488 2489 2490 2491 2492 2493 2494 2495 2496 2497 2498 2499 2500 2501 2502 2503 2504 2505 2506 2507 2508 2509 2510 2511 2512 2513 2514 2515 2516 2517 2518 2519 2520 2521 2522 2523 2524 2525 2526 2527 2528 2529 2530 2531 2532 2533 2534 2535 2536 2537 2538 2539 2540 2541 2542 2543 2544 2545 2546 2547 2548 2549 2550 2551 2552 2553 2554 2555 2556 2557 2558 2559 2560 2561 2562 2563 2564 2565 2566 2567 2568 2569 2570 2571 2572 2573 2574 2575 2576 2577 2578 2579 2580 2581 2582 2583 2584 2585 2586 2587 2588 2589 2590 2591 2592 2593 2594 2595 2596 2597 2598 2599 2600 2601 2602 2603 2604 2605 2606 2607 2608 2609 2610 2611 2612 2613 2614 2615 2616 2617 2618 2619 2620 2621 2622 2623 2624 2625 2626 2627 2628 2629 2630 2631 2632 2633 2634 2635 2636 2637 2638 2639 2640 2641 2642 2643 2644 2645 2646 2647 2648 2649 2650 2651 2652 2653 2654 2655 2656 2657 2658 2659 2660 2661 2662 2663 2664 2665 2666 2667 2668 2669 2670 2671 2672 2673 2674 2675 2676 2677 2678 2679 2680 2681 2682 2683 2684 2685 2686 2687 2688 2689 2690 2691 2692 2693 2694 2695 2696 2697 2698 2699 2700 2701 2702 2703 2704 2705 2706 2707 2708 2709 2710 2711 2712 2713 2714 2715 2716 2717 2718 2719 2720 2721 2722 2723 2724 2725 2726 2727 2728 2729 2730 2731 2732 2733 2734 2735 2736 2737 2738 2739 2740 2741 2742 2743 2744 2745 2746 2747 2748 2749 2750 2751 2752 2753 2754 2755 2756 2757 2758 2759 2760 2761 2762 2763 2764 2765 2766 2767 2768 2769 2770 2771 2772 2773 2774 2775 2776 2777 2778 2779 2780 2781 2782 2783 2784 2785 2786 2787 2788 2789 2790 2791 2792 2793 2794 2795 2796 2797 2798 2799 2800 2801 2802 2803 2804 2805 2806 2807 2808

संस्कृत साहित्य में जनक प्रकार की तन्त्र-यन्त्र सम्बन्धी साधनाओं का बल्लेख मिलता है। हर्षचरित में भैरवाचार्य की भैताल साधना तान्त्रिक पद्धति पर ही है। कबीरमंजरी में भैरवाचार्य भी तान्त्रिक ही हैं। तान्त्रिक उपारणों में जनक धार कृत्य करने पड़ते हैं। भैरव, भैताल, यक्षा, पिशाच, योगिनो, कारी-भूत आदि की साधना तान्त्रिक साधना ही है। इन तान्त्रिकों का जीवन बहुत ही धृष्टित होता था, गन्धान्ध राग भक्ष्याभक्ष्य का उन्हें कोई विचार नहीं था। कबीरमंजरी में भैरवाचार्य कहता है -

मन्त्राणां तन्त्राणां च किं पि जाणं,  
काणं च णां किं पि गुरुष्पादा ।  
मज्झं निजायां महिं रानाणी ।  
नोक्तं च जानी कुरु मंगलग्गा ॥ (१२२)

रंढा चंढा दिव खदा वम्मदारा,  
मज्जं मंसं पिज्जाए तज्जाए अ ।  
मिक्खा माज्जं वम्मखंडं अ सेज्जा ।  
कीडी धम्मो कन्स जा आदि रम्मा ॥ ( १२३ )

१- बह्वर्णपुराण, भा.स.पु. ५। १३८  
१- द्रष्टव्य, हर्षचरित तृतीय उच्छ्वास, कथा ७०  
३। ६। ५०-५१, ११०-११२, ५। ३। २०५-६

2

२- अगमं शिष्यकर्मणां गतं च गिरिजाश्रिता ।  
भूतं च जगद्वसुधय सुखादागम उच्यते ॥ लोकांस्कृतिमिश्रं वाङ्मय ०३५

३- अतः शिष्याणां धर्मिष्वेवैविक नैवागमां प्रसूत्रं रा रा ३५ परं की कण्ठ नाथ्य

कोत्सम्प्रदाय में भैरवी चक्र की बड़ी मान्यता थी । इस सम्बन्ध में कुलाकर्णितन्त्र में कुछ बूलश्लोक उद्धृत करना अप्राप्तिक न होगा -

आदर्शनमात्रा तर्पणैः प्रशुच्यते ।

तद्वान्वध्रागनामिना सकलदुःखं भवेत् ॥

यापन्नं निद्रियैककर्मं यापन्नोन्तुत निद्रिया ।

तादृ यः शिवत न्यं उक्ता नात्र तैजः ॥

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यापय पतति भूतल ।

उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्तु न विवर्त ॥

आनन्दारूप्यत देवि ब्रह्मणाद् भिराः सम्यग् ।

अमनाद् तर्पणेश्च तस्मात् त्रिविधा भवेत् ॥

प्रवृत्त भैरवी चक्रं तर्पे गणाः धिजात्यः ।

निवृत्त भैरवी चक्रं तर्पे गणाः पृथक् पृथक् ॥

सामान्यतया पूजा में प्रयुक्त होने वाले रत्नाक्षि यन्त्र कंड जाते हैं । किन्तु पूजा में प्रयुक्त होने के कारण ही इनमें देवी शक्ति की कल्पना कर ली जाती है और फिर ये प्रतीक चिन्तन बन जाते हैं । इसी प्रकार किसी देवता की पूजा में प्रयुक्त होने वाली रत्नाक्षि यन्त्र और अन्य सामग्री भी प्रतीक बन जाती हैं । ऐसी स्थिति में चिन्तन, रंग, पदार्थ, प्राणी, पुष्प, मृदा, शस्त्र, नाथ, जल और एकैत - ये सभी प्रतीक यान्त्रिक विधिक महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं । उदाहरण के लिए स्वास्तिक चिन्तन गणेश पूजा से सम्बन्धित है और चूंकि गणेश विघ्नविनायक है, अतः उसका यह प्रतीक भी विघ्नविनायक एवं कल्याणकारी बन गया ।

संस्कृत साहित्य में अनेक इन यन्त्रों का प्रत्यक्ष उल्लेख हुआ है । राक्षसी गिरासमती पुत्र प्राप्ति की कामना से गौरीवन से भूजैत्र पर यन्त्र लिखनाकर उसे तानीज में रखकर राह में बांधती थी ।<sup>१</sup> उनके पंथ में भी अनेक जादू-विद्या और

यन्त्र बाँधे जाते हैं। उसके द्वारा गृह के द्वार के दोनों पक्षों पर गोबर से स्मारक बनाए गए थे जिनमें बीच-बीच में रंग-बिरंगे कपड़े के गुल्ले और तीखियाँ भी लगाई गई थीं। दूर-दूर की बाकृतियाँ तथा आपाँ से अलंकृत कपड़े भी चिपकाए गए थे। हल्दी का आपा (स्थासक या हस्तक) आज भी लोक में मांगलिक अवसरों पर पूजा जाता है। निश्चय ही यह भी यन्त्र का ही एक रूप है। यथामान (मिट्टी के शकरीयों के तीन समुदायों की रस्ती में घिराकर बनाया गया) भी एक प्रकार का यन्त्र ही है। इस प्रकार के समृद्ध साहित्य की रचना भी बड़े पैमाने पर निश्चय ही हुई होगी। कादम्बरी में वर्णित चण्डिका मन्दिर के द्रविड़ पुजारी के पास तन्त्र मन्त्री की बाकृतियाँ का विशाल संग्रह था। तन्त्र-यन्त्र सम्बन्धी कुछ नुस्खे कीटल्य के वैशाख में भी वर्णित हैं। इनका इन्द्रजाल विद्या से मिलना-जुलना है। ८०० डा० गोपीनाथ कपिराज ने ऐसे विशाल वादम्य की एक परिवर्धिका प्रस्तुत की है जिसकी सच्ची पाण्डुलिपियाँ अभी भी विभिन्न पुस्तकालयों एवं संग्रहालयों में प्रकाशन की प्रतीक्षा में पड़ी हैं।

### टाँना एवं टाँटका -

टाँना और टाँटका - दोनों ही अभिचार क्रियाएँ सम्बन्धित हैं। टाँना में अपने मंगल की मायना तो प्रकट होती है किन्तु दूसरे के अमंगल की मायना का अभाव होता है, जबकि टाँटका में अपने मंगल की मायना हेतु दूसरे का अनिष्ट भी निहित होता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में पुत्र प्राप्ति हेतु रानी गिलासनती द्वारा किए जाने वाले और प्रसव के बाद प्रभुति का गृह में किए जाने वाले टाँनों का विशद उल्लेख किया है जो -

(१) विविध फूल-मालों से युक्त दूध वाले गूदों के पक्षों में अलंकृत रत्नगमित सोने के धड़ों में पवित्र जल भर कर घुलवाणा गायों के नीचे बैठकर स्नान करती और गालिमें गीत गाती थीं।

१- वहीं, अनु० ६४

२- वहीं, अनु० २६

३- वहीं,

४- काद०, अनु० ५६, ६४

- (२) कृष्णपद्मा की चीन्स को अंधरी रात में चौराहे पर दिग्देवताओं की बलि देती थी ।
- (३) अखण्ड चाचलों में बना हुआ भात दही के साथ चांदी के पतैन के कीजों की खिलाती थी ।
- (४) उसके पलंग में बालों की ब्टी हुई डोरी में पीपल के पंख गूँथकर लटकाए गए थे ।
- (५) उसके पलंग के दोनों ओर दही के गण्डे रखे गए थे और पीली सरसों मिखरी गई थी ।
- (६) अन्तःपुर की बृद्धारानियाँ द्वारा उतारा (अपतरणकर्माल) किया गया था । इस कार्य में जो गुणपात्र प्रयोग में आए जा रहे थे उनपर पांच या सात स्थानों पर दही की फिटकें, किसी में सफेद चावल का भात, किसी में बिना सिर कटी मछलियाँ और मांस के टुकड़े थे ।
- (७) कुछ स्त्रियाँ उतार के लीट से अखण्ड ऋ की धार झोंड़ रही थी ।
- (८) लाल रंग के कपड़े से ठंके हुए टांटों में कच्चे दिये बाँधकर वहाँ ला रही थी
- (९) सुसिकागृह के दरवाजे पर दोनों ओर रंगीन भिट्टी की गोलियाँ की लाला लटकाई गई थी ।
- (१०) दरवाजे के पास पुष्पमालाओं से अलंकृत एक झूटा करारा भी बाँधा गया था ।
- (११) साँप की कंकुली और भेड़ के सींग का चूरा घी में मिलाकर अग्नि में निरन्तर डाला जा रहा था ।

इसी प्रकार के कुछ टांटकों का उल्लंघन हर्षाचरित<sup>१</sup> और दशकुमारचरित में भी हुआ है ।<sup>२</sup>

### पुरोहित-

सभी प्रकार के अंगलों के निवारणार्थ तथा मनोकामनाओं की सिद्धि के लिए किए जाने वाले कार्यों में 'पुरोहित' का प्रमुख स्थान है । धार्मिक कार्यों में इसे

१- द्रष्टव्य-हर्ष, राज्यश्री का विवाहोत्सव प्रकरण एवं पांचवें उच्छ्वास में पुष्पभूति की मरणासन्न अवस्था के वर्णन के प्रसंग ।

२- द्रष्टव्य- दशकुमारचरित, पृ० ५४ (निर्णय रागर संस्करण)

पुरोहित कहा जाता है। अन्य तान्त्रिक आदि साधना में भिरवाचार्य, तान्त्रिक, गुरु, उपशमनायी आदि के रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति का स्वरूप एवं कार्य भी पुरोहित जैसा ही है।

ऐतरेय ब्राह्मण से पुरोहित के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। उसे प्रत्यक्षां पेश्वानराग्नि कहा गया है।<sup>१</sup> वह यज्ञ का 'मन' है, पुरोहित की स्थापना अग्नियों की स्थापना है।<sup>२</sup> वह अग्नि, वायु और आदित्य-इन तीन पुरोहितों और प्रथिमी, अन्तरिक्षा एवं धु-तीन पुरोधाओं की जानी जाता है।<sup>३</sup> मूत्र मुतः रजः, ओश्म, स्वर्ग और ज्ञान भी वही है।<sup>४</sup> उनके भीतर पाँच निष्करी शक्तियाँ भी हैं जो क्रमशः माषी, पिर, त्वचा, लक्ष्य तथा उपरंशन्त्रिय में रहती हैं। इन निष्करीशक्तियों की शान्ति क्रमशः स्वागत-प्रणाम आदि वाक्यों से, पादोदक न, अलंकारों एवं आभूषणों से, तर्पण से और अपने (यजमान के) घर में स्वकुन्दतापूर्वक निवास करने वगैरह की जा सकती है।<sup>५</sup> वह साक्षात् ब्रह्म है जो अपने वातु-प्रयोग से यज्ञ की समस्त त्रुटियों को दूर कर देता है।

संस्कृत साहित्य में कुलपरम्परागत पुरोहितों का उल्लेख मिलता है। रघुवंश में महाराजा जनक राजा दशरथ के पास अपने पुरोहित की सीता के विवाह की सूचना भेजते हैं।<sup>६</sup> इससे स्पष्ट है कि यद्यपि प्रारम्भ में पुरोहित स्यानि या षोका के ही सम्मान था किन्तु कालान्तर में उसका पद ऊँचा हो गया और स्यानि, षोका आदि तान्त्रिक ह्यदृष्टि से समझे जाने लगे। कथासरित्सागर के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि एक तपस्वी किसी ब्राह्मण के घर पहुँचता है किन्तु उसे मालूम होता है कि वह तान्त्रिक है, तो तपस्वी उसके घर भोजन ग्रहण नहीं करता और उसे पाप का अवतार तथा ब्रह्म-राजास कहता है।<sup>१०</sup> दामोदर में भी इसकी निन्दा की है।<sup>११</sup> किन्तु फिर भी ये अपनी चमत्कारिक शक्तियों के लिए प्रसिद्ध थे और जब राजदरबारों तक भी इनका सम्मान होता था,<sup>१२</sup> तो साधारण लोगों में तो ये दूरे भगवान् ही समझे जाते होंगे।

१- अग्निनामै रण पेश्वानरः पर्वननियत्पुरोहितः । - ए० ब्रा० पृ० २४.

२- वही, स. २४

३- वही, पृ० २४

४- वही, पृ० २९

५- वही,

६- वही, पृ० २४

७- वही, पृ० २४-२५

८- वही, पृ० २६

९- ए०, ११। ४६

१०- कथा०, १२। १०। २०-३१

११- दर्पदलव, ३। ७। ४२

१२- कर्पूरमंजरी, प्रथममनिकान्तर, रत्ना० चतुर्थीक ।



**:- परिच्छेद - ४ :-**

**:- लोकाचार एवं रीति रिवाज :-**

- :: लोकाचार
- :: रीति- रिवाज
- :: जात कर्म संस्कार में किए जाने वाले लौकिक कृत्य
- :: विवाह के अवसर पर किए जाने वाले लौकिक विधान
- :: मृतक संस्कार पर लोकाचार
- :: कुछ अन्य प्रादेशिक रिवाज

:- लोकाचार एवं रीति-रिवाज :-

लोकाचार एवं रीति-रिवाज सामाजिक बन्धनों को सशक्त बनाने वाली कहिया है। प्रत्येक समाज में कुछ विशिष्ट लोकाचारों और रीति-रिवाजों का प्रचलन होता है। जिनका पालन करना आवश्यक समझा जाता है। संस्कृत साहित्य में ऐसे अनेकों लोकाचारों और रीति-रिवाजों का उल्लेख मिलता है।

संस्कृत साहित्य के बर्ण्य विषय का क्षेत्र हिमालय से दक्षिणीसागर और अंग्रे लंका तक तथा कामरूप ( आसाम ) से सप्तसिन्धु प्रदेश तक फैला हुआ है। अतः उसमें प्रादेशिक रीतियों एवं लोकाचारों का उल्लेख होना स्वाभाविक है। किन्तु प्रकाशित एवं उपलब्ध संस्कृत साहित्य का अधिकांश कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक केन्द्रों और परम्पराओं में प्रणीत हुआ है, अतः समूचे साहित्य में प्रायः एक जैसे लोकाचारों एवं रीतियों के अंकन में प्रायः सम्यक्पता पाई जाती है।

लोकाचार-

लोकाचार से ह्वारा तात्पर्य सामाजिक आचार से है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि इन लोकाचारों का पालन समाज में बड़ी कठोरता के साथ किया जाता था। और तो और, यदि कभी कोई राजा किसी अन्य देश पर विजय प्राप्त कर उसे अपने अधीन कर लेता तो भी उसे वहाँ परम्पराओं का ही पालन करना पड़ता था। ह्वाचार्य ने इन्हीं लोकाचारों की देशादि घर्ष की संज्ञा दी है और राजा को इनका पालन एवं संरक्षण करने को कहा है<sup>१</sup> उनके अनुसार व्यवहार का उपदिष्टा लोक ही है।<sup>२</sup>

लोकाचारों के पालन में लोक निन्दा और लोकापवाद का भय ही प्रधान

१- राजैशकुलजत्सिद्ध्यां नैव दूषयैत् ।

शक्तोऽपि लौकिकाचारं मत्सापि न लंघयैत् ॥ शुक ० ३।३४

और भी देखिए, वहीं ४।६-१०

२- वहीं, ३।३३

कारण होता है। लोग लोकापवाद की आशंका से लोकम्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे। राजा राम चन्द्र लोकनिन्दन के भय से ही कठोर गमन परमप्रिया सीता का परित्याग कर देते हैं।<sup>१</sup> लोक म्यादा का उल्लंघन करने पर दण्ड का भागा बनना पड़ता था। अभिषेक नाटक में राम बाली को आम्यागमन (अर्थात् कौटि भाई की पत्नी को दूषित) करने के अपराध में दण्ड देते हैं।<sup>२</sup> किन्तु कौटि भाई के संगी से बड़े भाई की पत्नी दूषित नहीं मानी जाती थी।<sup>३</sup>

मातृदोष के आधार पर पुरुष को दोषी नहीं सम्माना जाता था। इसी आधार पर भरत माता के दोषी होने पर भी स्वयं को निदोष सिद्ध करते हैं।<sup>४</sup>

अतिथि का स्वागत सत्कार करना आवश्यक शिष्टाचार था। माता-पिता एवं गुरुओं का विशिष्ट सम्मान था। गुरु आश्रम में पहुँचकर राजा दिलीप द्वार से ही रथ से उतर कर बशिष्ठ के आश्रम तक पैदल जाता है।<sup>५</sup> इसी प्रकार तमोवन में दुष्यन्त भी सेना को छोड़कर पैदल ही प्रवेश करता है।

सम्माननीय व्यक्ति से मिलते समय उसे कुछ-न-कुछ उपहार देना भी एक शिष्टाचार था। कृष्ण लोग राजा दुष्यन्त से भेंट करते समय उसे पाल देते हैं।<sup>७</sup> और मालविकाग्नि मित्र महारानी से मिलने जाते समय कौशिकी उपहार के लिए नीबू माँगी है।<sup>८</sup>

१- जानतापि च वैदेह्या शुचितां धूमकेतन ।

प्रत्ययार्थ हि लोकानामिव भव मया कृतम् ॥ अभिषेक नाटक, ६। २६

और भी, उत्तर रामचरित, १। ४०

२- दण्डितस्त्व हि दण्ड्यत्वाद उदण्ड्यो नैव दण्ड्यते ॥ अभि० अंक १। २१

३- न त्वैवं हि कदाचिज्ज्येष्ठस्य यवीयसो दारामिषीमम् । वहीं, अंक १, पृ० १७

४- सुपुरुषा, पुरुषाणां मातृदोषी न दोषी,

वरद भरतमतिं पश्य तावद् यथावत् ॥ प्रतिभा० ४। २१

५- स्वागतमतिथी । -- अनुभूयतामतिथिसत्कारः । कादम्बरी, अनु० १३५

६- तमोवननिवासिनामुपरीधी मा भूत । स्तावत्येव रथं स्थापय या वदवतरामि अभि० अंक -१

७- अभिज्ञा०, अंक २

८- मालवि० अंक ३,

सम्माननीय व्यक्तियों को बिदा करने उनके पीछे-पीछे थोड़ी दूर तक जाना शिष्टा-  
चार था।<sup>१</sup> प्रियसम्बन्धियों को बिदा करते समय किसी जलाशय तक उसके साथ जाते थे।<sup>२</sup>  
दीर्घवास के बाद नगर में प्रवेश करते समय नगर के बाहर थोड़ा विश्राम कर नगर में  
प्रवेश करना लोकाचारसम्मत था।

कृषियों-शुनियों का आगमन शुभ एवं पातकनाशक सम्माना जाता था। उनके  
आगमन पर उन्हें पादोदक, आसन, अर्घ्य आदि द्वारा सत्कृत किया जाता था।<sup>४</sup>

बारात की आगवानी करने कन्यापदा के कुटुम्बीजन नगर से बाहर तक जाते थे।<sup>५</sup>  
विवाहसम्बन्ध तय करने में बरपदा की ओर से कन्या की याचना कन्या के पिता से की  
जाती थी। कन्या का पिता भी बर की तलाश करता था। विवाहादि नागलिक  
अवसरों पर सौभाग्यवती एवं पुत्रवती स्त्रियाँ ही समस्त नागलिक कृत्य सम्पन्न करती  
थीं।<sup>७</sup> विवाहोपरान्त बर ससुराल में कुछ दिन रहने के बाद प्रस्थान ही अपने घर की  
बधू सहित प्रस्थान करता था।<sup>८</sup>

दुष्ट या नीच व्यक्ति के साथ बातलाप करते समय बीच में तिनका (तूण) रख  
लिया जाता था। ऐसा करने पर तात्पर्य सम्भवतः यह रहा होगा कि बरका उस दुष्ट  
व्यक्ति को सम्बोधित न कर बानों तिनके को सम्बोधित कर अपनी बात कह रहा है।  
क्योंकि दुष्ट व्यक्ति के साथ बातचीत कर समाज में अनुचित माना जाता था। दूत-  
वाक्य में कृष्ण दयौघन के साथ ऐसा ही व्यवहार करते हैं।<sup>६</sup>

यात्रा पर प्रस्थान करते समय ब्राह्मण लोग श्वेतवस्त्र धारण कर हाथ में माला

१- शिशु० १। १०, रघु० २। ३

२- मगवान्, ओदकान्तं स्निग्धौ जनीऽनुगन्तव्य इति श्रूयते । तदिदं सरस्तीरम् ।

अत्र सन्दिश्य प्रतिगन्तुमर्हसि । - अमिश्रा० अंक ४

३- अथ च उपोषविश्व प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः । प्रतिमा० अंक ३

४- कुमार०, ६। ५५-६०, शिशु० १। १४-१७, रू, रू

५- कुमार०, ७। ५२

६- कुमार० ६। ७८

७- वहीं, ७। ६

८- कुमार० ८। २०

९- भीमी कुराकुलकंलक भूत, अयशौलव्य, वयं किल तृणान्तरामिमाणाः ।

दूतवा० अंक १ ।

ले प्रास्थानिक मन्त्रों का पाठ करते थे। अपने दृष्टदेव की पूजा, ब्राह्मणों की दक्षिणा, सदा दूध देने वाली गौ की प्रदक्षिणा, दुर्बलिश्रित अपराजिता के पुष्प कान में लगाना, शिखा में पीली सरसों रखना, छोटी बहिन या अन्य स्त्रियों द्वारा मंगलचक्र, बड़ी-बूढ़ियों द्वारा उत्साह बर्धन, गुरुजनों का अभिवादन, शुभ मुहूर्त में ही गौबर से लीपे हुए जग-न में चौक पर स्थापित पूर्ण कलश के दर्शन, कुल देवताओं का बन्दन-और दाहिना पैर प्रथम उठाकर चलना आदि प्रस्थान कालीन लोकाचार थे।  
रीति रिवाज-

रीति रिवाजों का सम्बन्ध अधिकांश में विभिन्न संस्कारों एवं देव-पूजा से है। संस्कारों में जहाँ एक ओर शास्त्रीय विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं, वहीं अनेक लौकिक विधियों को भी पूरा करना आवश्यक है।

यद्यपि शास्त्रों में संस्कारों की संख्या बालीस तक पहुँचा दी गई है, किन्तु अधिकांश शास्त्रकारों ने १६ प्रमुख संस्कार माने हैं। इनमें भी जन्तिकर्म, विवाह, और मृत्यु-ये तीन संस्कार प्रमुखतम हैं। अतः हम इन्हीं तीन संस्कारों में प्रचलित लौकिक रीतियों का वर्णन करेंगे।

जातकर्म संस्कार में किए जाने वाले लौकिक कृत्य-

सर्व प्रथम यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि यहाँ जातकर्म संस्कार से हमारा तात्पर्य शिशु के गर्भविस्था में जाने से लेकर नामकरण संस्कार तक के सभी शास्त्रीय संस्कारों से है। इस अवधि में जहाँ एक ओर शास्त्रीय विद्वानों का पालन किया जाता है, वहीं घर में बड़ी-बूढ़ियाँ अनेक लौकिक विधान करती हैं, जिनमें से अधिकांश टोने-टोटके के रूप में ही होते हैं। ऐसे लौकिक कार्यों को बाण भट्ट ने 'अनेकद्वयपरम्परासमाज तानि रहस्यानि' कहा है।<sup>१</sup> गर्भावस्था एवं प्रसव के बाद सम्पादित किए जाने वाली कुछ लौकिक विधियाँ निम्नलिखित हैं -

(१) रात को सिंहाने पानी से मरा लौटा रखना। इसे शास्त्रीय भाषा में निद्राकलश कहा गया है।

१- हर्ष चरित, द्वितीय उच्छ्वास।

२- गौतमधर्मसूत्र, ८। १४-२४

३- काद०, अनु० ५६

४- वहीं, अनु० ५६ एवं ६४

२-पलंग के दोनों ओर देवी के गण्डे रखना, तथा हथर-उधर पीलीससों बिखरना ।

३- बालों की ब्टी हुई डोरियों में पीपल में पीपल के पत्ते गुंथकर पलंग में बाधना ।

४- दही, चावल का भात, बिना सिर कटी मकलियों और मांस खण्डों से भरे हुए जल के लौटि से उतारा करना ।

५- लाल कपड़े के डोल में बिना पकी हुई मिट्टी का कच्चा घिया बालना ।

६- सुतिका गृह में बहुसुतिका ( चक्री या माजौरानना ), षष्ठी देवी और आयुर्विदा देवी की स्थापना ।

७- सुतिका गृह के द्वार पर गौबर से स्वस्तिक बनाकर उसमें रंग-बिरंगी कपास और चित्त कौड़ियां लगाना ।

८- कपड़े पर हल्दी थापे लगाकर उन्हें सुतिकागृह में रखना ।

९- हल्दी से पुते हुए वर्धमानक लटकाना ।

१०-साँप की केंचुल और भैंस के सींग के मिश्रित चूर्ण में घी मिलाकर जलाना ।

११-हल का जुआ और अन्न कूटन का मूसल रखना ।

१२-सुतिका मंगलगीती ( सौहर, बिहाई या बेके गीत ) का गाना ।

### विवाह के अवसर पर किए जाने लौकिक विधान-

विवाह यद्यपि एक श्रौत संस्कार है तथापि उसे शास्त्रकार एक निश्चित स्वरूप देने के पक्ष में नहीं है । आश्वलायन गृह्यसूत्र का कहना है कि विभिन्न देशों एवं ग्रामों में जो विभिन्न आचार हैं, उन्हीं का बर्णन करेंगे ।<sup>१</sup> आपस्तम्ब का भी कहना है कि विवाह की विधि स्त्रियों एवं अन्य लोगों से जानकी चाहिए ।<sup>२</sup> पारस्कर का अभिमत भी कुछ-कुछ ऐसा ही है ।<sup>३</sup> वस्तुतः अतिप्राचीन काल से ही विवाहों में श्रुति स्मृति विदित क्रियाएँ पुरुष और लोकाचार स्त्रियाँ करती आई हैं । जल्दिक विवाह कार्यों में तो एक प्रकार से स्त्रियों का ही एकाधिकार है । स्त्रियों द्वारा की जाने वाली इन क्रियाओं की श्री हर्ष ने 'स्त्रीसमयस्पृशः क्रिया' कहा है ।<sup>४</sup> कुछ विशिष्ट क्रियाएँ निम्नलिखित हैं -

१- आश्वलायन मृ०सू०, १।७।१-२

२- आप० गृ० सू०, २।१५

३- ग्रामवचनं च कुर्यः ॥ ११॥ विवाहश्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात् ॥ १२॥

तस्मात्प्रायश्चित्तः प्रमाणाभिति श्रुतः ॥ १३॥ काण्ड १, कण्डिका ८ ।

४- नैषाधीय० १५।७

- (१) कन्या का शृंगार सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ ही करती हैं।<sup>१</sup>
- (२) शृंगार करने से पूर्व दुबई और पीली सरसों कन्या के ऊपर वे ही छिड़कती हैं।<sup>२</sup>
- (३) साड़ी में एक और बाण खींच दिया जाता है।<sup>३</sup>
- (४) कन्या पर तेल चढ़ाकर बाद में उबटन लगाकर गीतों के साथ स्नान कराया जाता था।<sup>४</sup> हल्दी भी चढ़ायी जाती थी।<sup>५</sup>
- (५) कानों में जौ के अंकुर लगाए जाते थे। ये यवांकुर स्त्रियाँ द्वारा घड़ी में उगार जाते थे।<sup>५</sup>
- (६) हाथ में कंगन बांधा जाता था।<sup>६</sup>
- (७) वर के स्वागत में लड़कियाँ खीलें बिखरती थीं।<sup>७</sup>
- (८) विवाह की वैदिक विधि के सम्पन्न होने पर वर-वधू चौक (या चतुशाला) में लार जाते थे जहाँ अनेक लौकिक विधियाँ की जाती थीं— जैसे— गीले और पीले अनात वर-वधू के ऊपर कूड़ना और वर-वधू के नाम ले-लेकर विविध प्रकार के गीत गाना आदि।

हर्षविरित से ज्ञात होता है कि उन दिनों लौकिक विधियों का सम्पादन अग्निप्रवदिपाणा से पहले ही किया जाता था। गृह्यमाँ पहले कौतुकगृह (कौह्वर) में जाता है जहाँ वह और उसकी भावी पत्नी राज्यश्री से स्त्रियाँ लौकावार कराती हैं और सजाक भी करती हैं। उसके बाद ही वह विवाह वेदिका पर जाता है।<sup>८</sup>

(९) जीखली, मूसल, सिल आदि पर थापे लगाए जाते थे।<sup>१०</sup>

(१०) इन्द्राणी की स्थापना भी की जाती थी।

१- कुमार० ७।६

२- वहीं, ७।७

३- वहीं, ७।७-८

४- वहीं, ७।६-१० हर्ष०, चतुर्थ उच्छ्वास

५- वहीं, ७।१७, हर्ष० उच्छ्वास सेक्सु कुमारयवांकुरदन्तुरैः ।

६- वहीं, ७।२५

७- वहीं, ७।६६

८- कुमार० ७।८८-९०, एवं वध्वरगौत्रग्रहणगमाणि शुक्तिसुमगाति मालानि गायन्त्री-मिः

९- कुमार०, ७।८८-९० २, हर्ष उच्छ्वास चतुर्थ ।

१०- पिष्टपंचां गुलमण्ड्यमानौत्सुकमुसलशिलाधुपकरणम् । - वहीं ।

## मृतक संस्कार पर लौकाचार-

मृतक संस्कार पर किए जाने वाले लौकाचारों की जानकारी संस्कृत साहित्य से बहुत मिलती है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के पाँचवें उच्छ्वास में जिन रीतियों का वर्णन किया है, उनमें कितनी लौकिक है, यह कह सकना कठिन है। दाह संस्कार के बाद अस्थि संचयन, तीर्थों में अस्थि विसर्जन, मृतक के लिए मात का पिण्ड देना, ब्राह्मणों की मीजन कराना, अश्व की समाप्ति पर श्यादान देना देना और चिता के स्थान पर चेत्य का निर्माण करना- इन सभी विधियों का वर्णन गृह्यसूत्रों में मिल जाता है। वैसे, गृह्यसूत्र भी वैदिक परम्परा से कुछ हटे हुए ही है। हाँ, एक प्रथा का उल्लेख अवश्य महत्वपूर्ण है। उन दिनों गीत गा-गाकर शोक मनाया जाता था जिसे बाण ने 'कबिरादितक' कहा है।

## कुछ अन्य प्रादेशिक रिवाज -

पादताडितक माणा में लाट देश के लोगों के विषय में बताया गया है कि वे भीड़-भाड़ में भी नंगे नहा लेंगे हैं, बाल बँधी रहेंगे हैं, बिना पैर थार श या पर चढ़ जाते हैं। रास्ते चलते-चलते सब कुछ खा लेंगे हैं -

नग्नः स्नाति महाजैनऽप्यसि सदा भैरविबासः स्वयम्,

केशानाकुल्यत्यधीतवरणाः शय्यां समाक्रामति ।

तत्तद् मदायति ब्रजन्नपि यथा द्यति पटं पाटितम् ।

स्त्रियं चापि सकृत् प्रहृत्य सत्सा लाटश्चिरं कर्तुम् ॥<sup>१</sup>

मुकुन्दानन्दभाण ने गुर्जरस्थियों के कुलाचार के सम्बन्ध में कहा गया है -

गुर्जरीणां कुलाचार क्रमो यं यदगृहे गृहे ।

पौराणिकाः पुरोधा वा मृत्यो वा गूढबल्लभः ॥ श्लोक ८४ ॥

कुछ प्रदेशों में विधवा माँ भी से विवाह कर लेंगे थे। इसी प्रकार ददािणा में मामा की लड़की से भी विवाह करने की प्रथा थी। कहीं-कहीं एक ही कन्या के साथ एक परिवार के सभी लोग विवाह कर लेंगे थे। फारस में ती माता के साथ भी विवाह करने का उल्लेख स्मृतियों में मिलता है।<sup>२</sup>

१- पादताडितक, श्लोक ४९

२- बिरादा. प्रतिदश्यन्ते दादािणात्येषा संप्रति । स्वमातुलसुतीदवाहौ मातु-बन्धुत्व दूषितः ॥ अतएवमात्मायगृह्णा वाति दूषितम् । कल कन्या प्रदान च देशेष्व-न्येषु दृश्यते ॥ तथा मातृविवाहोऽपि फारसीकेषु दृश्यते ।

स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १० पर बृहस्पति के नाम से उद्धृत ॥



**: - प र ि च कू द ५ : -**  
oooooooooooooooo

**: - ज्ञ - विश्वास : -**  
=====

- :: धार्मिक विश्वास
- :: परलौक सम्बन्धी विश्वास
- :: मृत प्रेत सम्बन्धी विश्वास
- :: शाप
- :: शपथ
- :: बरदान एवं आशीर्वाद
- :: मविष्यकथन
- :: भाग्यवाद
- :: अलौकिक घटनाएँ
- :: शकुनापशकुन
- :: शुभ शकुन
- :: अपशकुन
- :: अप्राकृतिक जन्म
- :: अन्य लौक मान्यताएँ

::- जन- विश्वास :-

शास्त्रीय चेतन्य से आपूरित अस्तिष्क भी आदिम लोकमानस के तत्त्वों से सर्वथा मुक्त नहीं होता। जनविश्वासों का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, और यह बात अब भली-भाँति प्रमाणित हो चुकी है कि धर्म की उदभवनता में लोक-मानस का अवचेतन मन ही मूल कारण होता है। वस्तुतः धर्म स्वयं एक प्रकार का ऐसा जनविश्वास है किन्तु संस्कृत के विकास के प्रवाह में धर्म जगै बढकर शास्त्रीय चेतन्य से परिपीणित होने लगता है और जनविश्वास पिछड़ा जाता है किन्तु नष्ट नहीं होता। यही कारण है कि संस्कृत जैसे अभिजात साहित्य में भी जनविश्वासों का बड़ी श्रद्धा के साथ अनेकत्र उल्लेख हुआ है।

धार्मिक विश्वास-

धर्म के सम्बन्ध में इस प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में विस्तार से विचार किया जा चुका है। यहाँ हम केवल उन लोक विश्वासों का उल्लेख करेंगे जिनका सीधा सम्बन्ध धर्म से है।

मृगु-पतन-<sup>१</sup> --- मृगुपतन या मृगु पाद स्थान हिमालय में कैदारनाथ के समीप है। जात लोग असह्य दुःख के त्राण पाने के लिए मृगुपतन में जाकर पर्वत की चौटी से कूदकर जाति हत्या कर लेते थे। ऐसा करने से मौदा प्राप्ति हो जाने का विश्वास लोक में प्रचलित था। धूर्त-विटसंवाद में इसे ही पर्वतप्रपात कहा गया है।<sup>२</sup>  
अग्नि प्रवेश --- मृतक पति के साथ चिता में अग्नि प्रवेश करने स्वर्ग की प्राप्ति और स्वर्ग में पति मिलन हो जाता है।<sup>३</sup>

१- हर्षो, उच्छ्वास ५

२- धूर्तविटसंवाद, पृ० ११५

३- कुमार० ४, २०, धूर्तविटसंवाद, पृ० ११५

प्रयौपवेशन<sup>१</sup> - निराहार रहकर लम्बी तपस्या उपरान्त शरीर त्यागने पर मौढा प्राप्ति होती है।

वीटियाँ विमान से भी किसी पुण्य की प्राप्ति मानी जाती थी।<sup>२</sup> विघ्नबाधाओं को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मन्त्र, तन्त्र जादू-टोनी का आश्रय लिया जाता था इन सभी का वर्णन तीसरे परिच्छेद में किया जा चुका है। देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु भगवान् राक्षसों के विनाश के लिए अवतार लेते हैं।<sup>३</sup> राजा दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में यज्ञाग्नि से एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ जो हाथ में तीर से भरा हुआ स्वर्णपात्र लिए था। उस तीर को ब्राह्मण को धारण करने वाले भगवान् विष्णु समायें हुए थे।

### परलौक सम्बन्धी विश्वास-

संस्कृत साहित्य में स्वर्ग, नरक एवं पाताल लोको से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। देवता स्वर्ग में निवास करते हैं। इन्द्र वहाँ का राजा है। वहाँ की रूपशालिनी अप्सराएँ यहाँ के मूल के वीरों की आकर्षण हैं। युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ योद्धा तुरन्त देवता बन जाता है और अपने वामांग बन जाता है और अपने वामांग में एक सुन्दरी अप्सरा को लेकर विमान से अपने ही धड़को युद्ध करते देखता है। दो योद्धा एक ही साथ वीरगति को प्राप्त होकर स्वर्ग पहुँचें। वे वहाँ भी एक अप्सरा के लिए भागड़ने लगते हैं।<sup>४</sup> इक्ष्वाकुवंश के राजा दिलीप इन्द्र की सेवा करने स्वर्ग जाते हैं।<sup>५</sup> दुष्यन्त की इन्द्र के साथ मित्रता है। इन्द्र का सारथि मातलि उसे बुलाने जाता है, वहाँ उसका जीरदार स्वागत होता है।<sup>६</sup>

१- हर्षि०, पंचम उच्छ्वास

२- इतस्ततः पिपीलिक श्रेणीनां श्यामाकतण्डुलकणान् स्वयमेव किरन्तम्। वही

३- रघु० १०।४४

४- वही, १०।५०-५१

५- वही, ७।५१

६- वही, ७।५३

७- वही, १।७५

८- मित्रा० अंक ७

स्वर्ग में सब सुखों की प्राप्ति है किन्तु नरक अनेक प्रकार के कष्टों से मरा हुआ पुं नामक नरक में वे सभी व्यक्ति जाते हैं जिन्हें पुत्र नहीं होता ।<sup>१</sup> तपस्या करने से ब्राह्मणों और दीनों को दान देने से जो पुण्य मिलता है, वह परलोक (स्वर्ग) में सुख देता है किन्तु शुद्धरन्तिन्ति इस लोक और परलोक ( पितृलोक )- दोनों ही जाह सुख देती हैं ।

### भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास-

भूत-प्रेतों का निवास किसी वृक्षा पर माना जाता था । रत्नावली में बकुल वृक्षा पर बीलती हुई सारिका के बचनों को सुनकर विदूषक उस वृक्षा पर भूत होने की आशंका करता है । यक्षा एवं गन्धर्व बिशेष कर स्त्रियों के लिए पर सवार हो जाते हैं । यह विश्वास किया जाता था कि गन्धर्व भी मानवी स्त्रियों को चाहते हैं ।<sup>४</sup> अनाविजय में शशि प्रभा का गन्धर्वों की हत्या बताकर कपटयोगी मकरन्द उसका उपचार कर बिट से संयोग करा देता है ।<sup>५</sup> यक्षा के सम्बन्ध में भी यह विश्वास प्रचलित था कि वे स्त्रियों का अपहार कर लेते हैं और पुरुषों को मार डालते हैं ।<sup>६</sup> पंचायुध प्रपंच में कामागमजरी मणिमद्र नामक यक्षा से ग्रसित होकर अपने पूर्व जन्म की कथा कहकर प्रेमी मन्दार शखर से मिलती है ।<sup>७</sup>

### शपथ-

संस्कृत साहित्य में दो प्रकार के शापों का उल्लेख मिलता है- क्रीधानैश में दिया गया शाप और शौकामिभूत होकर दिया गया शाप । अभिमारक नाटक में चण्डमार्गव नामक अतिक्रीधी ब्रह्मर्षि के शाप से सीवीररान का पूरा परिवार एक वर्ष के लिए चाण्डाल हो जाता है । अमिज्ञान शाकुन्तल में सुलोकौप कृष्ण दुवसिा अतिशय सत्कार

१- अपुत्राणां किल न सन्ति लोकाः शुभाः । पुनर्नाम्नीं नरकात्त्रायते, इति पुत्रः ।  
कौदम्बरी, विलासवती दुःख वर्णी ।

२- लोकान्तरं सुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।

सन्नतिः शुद्धवश्या हि परत्रैव च शर्मणी ॥ रघु० १।६६

३- एवस्मिं बडलपाजैव को बि भूरी पहिवसबि ।-रत्ना० द्वितीयंक

४- स्त्रीकामाः ये गन्धर्वाः । अनाविजय, पृ० ८

५- वही, पृ० ८१

७- पंचायुधप्रबन्ध, पृ० ५-६

६- शृ० सं०, पृ० २७-२८

८- यस्माद् ब्रह्मर्षिमुख्यो ह शवपाक इति भाषितः ।

तस्मात् सुपुत्रदारस्त्व शवपाकत्वमवाप्यसि ॥ अवि० ६।६

न मिलने पर शून्य लक्ष्म्या शकुन्तला को शाप देते हैं।<sup>१</sup> रघुवंश में कामधेनु राजा दिलीप को जब तक निःसन्तान रहने का शाप देती है जब तक कि वह उसकी सन्तान की सेवा नहीं करेगा।<sup>२</sup> रघुवंश में ही एक मुनि राजा दशरथ द्वारा अपने पुत्र का जनजान में बध कर देने पर पुत्रशोक से बिह्वल होकर शाप देते हैं कि 'तुम भी हमारे ही समान दुःख में पुत्रशोक से प्राणा छोड़ींगे। इसी प्रकार राजतरंगिणी में रानी सूर्य मती क्षिस्ता के पुनर्जित जल से आचमन कर पिता-पुत्र के स्नेह की नष्ट कराने वाले ज्वालखीरों को शाप देती है कि 'जिन लीनों में हम दोनों के साथ हमारे पुत्र का प्राणान्तक बैर कराया है उनका तथा उनके कुटुम्बियों का लुह ही दिनों में नाश ही जायेगा।'<sup>३</sup> शाप के ही कारण मेघदूत के यदा और विक्रमीर्षशीय की उर्वशी को अपनी दिव्य शक्तियों से वंचित होकर नियत अवधि तक मानवलीक में निवास करना पड़ता है।

इन भंयकर शापों से कुटकारा पाने के भी उपाय यत्र-तत्र बताए गए हैं। दुवर्सा का शाप किसी पहिवन्त-विन्त से दूर होने योग्य था। अविमारक में सौवीर नरेश देवर्षि के दर्शन पाकर शापमुक्त हो गया था।<sup>४</sup>

शपथ-

शपथ शापित की जाती थी।<sup>५</sup> अतः शपथ भी शाप का ही एक प्रकार है। अन्तर केवल इतना है कि शाप दूसरे व्यक्ति के लिए दिया जाता है जबकि शपथ का प्रभाव स्वयं शपथ लेने वाले पर पड़ने की सम्भावना रहती है।

अपनी सच्चरित्रता या सत्यवादिता को प्रमाणित करने के उद्देश्य से शपथ लेने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है।

१-  
आ. अतिथि परिभाषिणि ।

विचिन्त्यन्ती यमन्यमान्सा तपोभिर्धि वैत्ति न मामुपस्थितम्

स्मरिष्यति त्वां न स बीषितीऽपि सन्न कथां प्रसन्नः कृताम्बि ।। अमिज्ञा० ४। १

२- रघु०, १। ७७

३- वहीं, ६। ७८-७९

४- राज० ७। ४७५

५- इदानीं मुक्तशपौऽस्मि देवर्षिदर्शनेन । अवि० अंक ६

६- तद्वयस्य, अस्मच्छरीरस्फुष्टिक्या शापितौऽसि —। मृ०क० तृतीयं

सत्यं शपे ब्राह्मणेन ।-वहीं, अंक ५ मुकुन्दामन्दभाण

वैदिक युग में शपथ लेना नीचकर्म सम्माना जाता था ।<sup>१</sup> आज भी लोक में जहाँ एक और अपना पदा सत्य सिद्ध करने के लिए शपथ लेने की प्रथा है, वहीं दूसरी इसके दुष्प्रयोग से यह स्थिति पैदा हो गई है कि लोग बात-बात में यहाँ तक कह देते हैं 'असभ खाते हैं नालायक' फिर भी लोग शपथ लेते रहे हैं, आज भी लेते हैं और सम्भवतः इस प्रथा का अन्त भी नहीं होगा । संस्कृत साहित्य से शपथ के कुछ उदाहरण लीजिए-

सीता अपने पातिव्रत्य को सिद्ध करने के लिए शपथ इस प्रकार लेती है-यदि मैंने समस्त संसार के बड़े-बड़े ज्यों के विश्वासों से परिपूर्ण महासासन वाले, बड़े-बड़े पहाड़ों को उखाड़कर समुद्र में पुल बनाकर दो भागों में सागर को विभक्त कर देने वाले, देव-राजाओं से युक्त समस्त लोकों में केवल एक धुनधैर रघुकुल के पुत्र राम को छोड़कर पतिव्रता के विपरीत भावना से अन्य पुरुष को नहीं देखा, बात चीत नहीं की, स्वयं में नहीं सोचा तो इस सत्य बचन के कारण समस्त संसार के द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाली, दिव्यरूपधारिणी, महाप्रभावशालिनी देवी पृथ्वी भी स्वयं की पवित्रता को संसार के सामने प्रकाशित करे ।<sup>२</sup> वरुण सदाचार को प्रमाणित करने के लिए रानी सूर्यमती स्वर्ग की दाँव पर लगा देती है ।<sup>३</sup> तीर्थेन्द्र का जल पान करके भी शपथ ली जाती थी ।<sup>४</sup> सिर पर हाथ रखकर भी शपथ लेने की प्रथा थी ।<sup>५</sup> एक अपराधी नायक की रूठी हुई नायिका को मनाता हुआ शपथ लेता है -

अकरवमधिभौलिपादपदम्भावपनय मानिनि मानितामकाण्डे ।

यदि परमणीं गलस्तवाथ स्तन्युगलिंगयुगं स्पृशामि तन्नि ।।<sup>६</sup>

१- द्रष्टव्य - कैदिककौश ( - डा० सूर्यकान्त ), पृ० १६१

२- कुन्दमाला, षाष्ठ अंक

३- परलीकं पणी कृत्य युक्त्या च शपथं सती । राज० ७।४७७

४- राज०, ७।७४६

५- सीसन्नि कदुव पाणी सद्वारं णाह विष्णवैमि तुमम् ।

कारुणा मह सिणैहं मा णिजकावम्मि णिद्वज्जी हौहि ।।

मुकुन्दानन्द, श्लोक २०४,

६- संस्कृत सूक्ति सागर, पृ० ४०२

शपथ का यह कितना बिचित्र तरीका है। कभी-कभी कसम खाकर चुनौती भरी प्रतिज्ञाएँ भी कर ली जाती हैं। घटकपैर कार की यह शपथ भरी प्रतिज्ञा कितनी चुनौती पूर्ण है -

मावातुरक्तवनितासुरतैः शप्य -

मालम्ब्य चाम्बु तृष्णितः कारकौशपयम् ।

जीयेय येन कविना यमकैः परेणा

तस्मै बह्यमुदकं घटकपैरेणा ॥

वरदान एवं आशीर्वाद -

वरदान एवं आशीर्वाद - दोनों लगभग एक ही कौटि की शुभाशंसाएँ हैं। अन्तर केवल देव और मर्त्य का, मार्गन और न मार्गन का है। फल में दोनों ही समान हैं। आराधना-सूजा से देवता प्रसन्न होकर भक्त की मनचाही वस्तु मिल जानि का आशीर्वाद देते हैं, यही वरदान है। गुराजन भी सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न होकर शिष्य, सेवक आदि को आशीर्वाद देते हैं और वे सफल भी हो जाते हैं। रघुवंश में कौत्स राजा रघु की पितासदृश तेजस्वी पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद देते हैं और वह आशीर्वाद फलीभूत भी होता है जबकि रघु की पुत्र रत्न की प्राप्ति ही जाती है।<sup>१</sup> अविमारक में अग्नि के वरदान से रानी की पुत्र प्राप्ति होती है। रावण ने ब्रह्मा से वर माँगा था कि मैं किसी देवता के हाथों से न मरूँ।<sup>२</sup> राजा दिलीप की पुत्र प्राप्ति नन्दिनी द्वारा प्रादत्त वरदान के परिणामस्वरूप ही होती है।<sup>३</sup>

मविष्य कथ-

मविष्यकथन करने वाले ज्योतिषियों का संस्कृत साहित्य में बहुधा उल्लेख हुआ है। नवीन कार्याक्रम के लिए ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त आदि बताने वाले ज्योतिषी समाज में समादृत होते थे। बाण भट्ट शुभ मुहूर्त में हर्ष से मिलने के लिए प्रस्थान करता है।<sup>४</sup> अविमारक में अमात्य भूतिके पुनःप्राप्ति में कुरंगी के वरान्वेषण हेतु

१- रघु०, ५। ३४-३५

२- वहीं, १०। ४३

३- वहीं, २। ६३

४- वहीं, द्वितीय उच्छ्वास

प्रस्थान करता है।<sup>१</sup> मृच्छकटिक में राजा पालक सिद्धादेश में विश्वास कर आर्यक की बन्दी गृह में डलवा देता है।<sup>२</sup> राजसभा में बैतनभागी देव-चिन्तक नियुक्त किए जाते थे।<sup>३</sup>

### भाग्यवाद-

संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर पौरुष<sup>४</sup> की सभी प्रकार की सम्पत्तियों का मूल कारण बताया गया है, वहीं भाग्य की परमशक्तिशाली धीष्णित किया गया है।<sup>५</sup> दुर्भाग्य के प्रशमनार्थ लोग तीर्थात्रा भी करते थे। अमिज्ञान शाकुन्तल में महर्षिकृष्ण शकुन्तला के भाग्य की प्रतिकूलता शान्त करने हेतु सोमतीर्थ की यात्रा करते हैं।

### अलौकिक घटनाएँ -

मन्त्र तन्त्र आदि की शक्ति के बल पर होने वाली अलौकिक घटनाओं के अतिरिक्त भी अनेकों ऐसी घटनाओं का उल्लेख संस्कृत साहित्य में पाया जाता है, जिन्हें 'अलौकिक' कहना ही अधिक उपर्युक्त होगा। उदाहरण के लिए- दुष्यन्त द्वारा अस्वीकार किए दिए जाने पर विलाप करती हुई शकुन्तला को एक अप्सरा (उसकी) अदृष्ट होकर आकाश मार्ग से ले जाती है। पृथ्वी और मागीरथी सीता की रक्षा करती है, बच्चों को पाताल में पहुँचा देती है और जब दूध छूट जाता है तो गंगा स्वयं दोनों बच्चों की महर्षि वाल्मीकि की साँप देती है। विक्रमोन्मिश्र<sup>६</sup> में उर्वशी कुमार वन में प्रवेश करने पर लतारूप में परिणत हो जाती है।<sup>६</sup>

१- अमरकालिकावलि ३.१०० ।

२- अथ नृपति शोभनमिति तैव च द्वैतनामात्य आर्यभूतिक प्रस्थितः । अवि०, अंक ३

३- मृ०क०, अंक ४

४- मालवि० अंक ४

५- उद्योगिमं पुरुषासिंहमुपतिष्ठमीं -- । पंचतन्त्र

६- विधिरनक्तिमणीयः । प्रतिमा० अंक २

७- देवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः । अमि० अंक १

८- वहीं, अंक, ५

९- उत्तरराम० अं० ३, एवं ७। १३ एवं १४ के बीच का गद्य भाग । ६- विक्रमो० अंक ४



## शकुनापशकुन-

प्रकृति में होने वाली अद्भुत घटनाओं, विशिष्ट पशुपक्षियों, शारीरिक क्रियाओं आदि से प्राप्त संकेतों से शुभाशुभ कल्पित करने की प्रवृत्ति मानवसमाज में अनादिकाल से चली आ रही है। शकुनापशकुन सम्बन्धी मान्यता प्रायः अन्यविश्वासी प आधारित होती है और उसके मूल में भावी भय एवं आशंका की भावना प्रबल होती है। अतः समय से समय समाज के भी इनकी मान्यता स्वीकृत रही है शकुनापशकुनों की प्रचलित मान्यताओं, रुढ़ियों और मापदण्डों के आधार पर आंका जाता है।

संस्कृत साहित्य में शकुनापशकुनों का वर्णन प्रायः किसी के जन्म के अवसर पर या युद्ध आदि यात्रा के लिए प्रस्थान के वर्णन के अवसर पर किया गया है। संस्कृत काव्य ग्रन्थों से ऐसे शकुनापशकुनों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है। जिस पर स्वतन्त्र शोध प्रबन्ध का प्रणयन बड़ी सरलता पूर्वक किया जा सकता है। कुछ प्रसिद्ध शकुनों और अपशकुनों की विवरणिका इस प्रकार है।

## शुभ शकुन -

- १- पुरुष का दक्षिण अदिस्पन्दन शुभसूचन माना जाता था।<sup>१</sup>
- २- पुरुष की दक्षिण भुजा का स्पन्दन स्त्री प्राप्ति का सूचक थी।
- ३- चित्त में आकस्मिक आनन्द का उन्मेष भी शुभनिमित्त माना जाता था।<sup>३</sup>
- ४- मरते हुए शत्रु को देखने से जन्मान्तर में भी अदिरोग नहीं होता।<sup>४</sup>
- ५- यात्रा के प्रारम्भ करते समय जलपूर्ण कलश तथा आम का दर्शन कार्यसिद्धि का सूचक है।<sup>५</sup>
- ६- कौजा का दाँसें से बाँए निकलना शुभ माना जाता था ( अंगविज्ञ, पृ० ११५ )

---

१- मृ०क० ६। २४

२- अमिस्ता० प्रथमांक

३- विक्रमी० २। ६

४- मृ०क० अंक १

५- नैषाधी०, २। ६५

## अपशकुन -

- (१) वाकाश से ऊँती हुई उल्काओं का गिरना किसी महापुराण की मृत्यु का सूचक माना गया है ।<sup>१</sup>
- (२) पुराण का वामनेत्र<sup>२</sup> और स्त्री का दक्षिण नेत्र फाड़कना अशुभसूचक था ।
- (३) मुण्डित<sup>३</sup> शीशु का दर्शन अमांगलिक था ।<sup>४</sup>
- (४) सूर्योदय के समय ग्रहण किसी महापुराण के विनाश की सूचना देता था ।<sup>५</sup>
- (५) भुजा का पुनः पुनः प्रकम्पन भी अशुभ माना जाता था ।<sup>६</sup>
- (६) कौजा द्वारा रात्रि स्वर से कौँ कौँ करना तथा सूँ पेंड पर बैठकर सूर्य की ओर मुख करके किसी व्यक्ति की बाईं आँख से देखना मृत्यु का सूचक था ।
- (७) कौँक अपशकुन मानी गई है ।<sup>७</sup>
- (८) दण्डपाणि व्यक्ति का यात्रा के समय दर्शन अशुभ था ।<sup>८</sup>

इन विविध प्रकार के शकुनादशकुनी<sup>९</sup> के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि निशावसान के समय देखा गया स्वप्न सत्य किन्तु स्वप्न दर्शन के बाद पुनः सौ जागने पर वह असत्य हो जाता था-

निशावसानः स्वप्नेषु भैतव्यी निद्रया बिना ।

तथाहि सति भैदीयः फलमेषां स मृच्छति ।।<sup>१०</sup>

१- द्रुतधृती० १। २५

२- मृ०क० ७। ६

३- वहीं, अंक ६

४- कथुमिमुखमनाम्युदयिकं प्रमणाकदर्शनम् । - वहीं अंक ७

५- सूर्योदये उपरागी महापुराण विनिघातमिव कथ्यति । - वहीं, अंक ६

६- वहीं, ६। १३

७- वहीं, ६। ११

८- शृ० त्रि०, पृ० ६१

९- रससदन, पृ० ५६

१०- र०ति०भाषा, पृ० ६

### अप्राकृतिक जन्म-

कुछ व्यक्तियों के अप्राकृतिक जन्म की घटनाएँ संस्कृत साहित्य वर्णित हैं। यद्यपि उनका स्रोत पुराण है, तथापि वे लोकमानस में जम चुकीं थीं, इसी लिए कवियों ने इसी घटनाओं का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए उपेक्षी की कालिदास ने 'अरुद्धमवना नरसक्त्य सुने सुगन्त्री' कहा है।<sup>१</sup> पुराणों के अनुसार बदरिकाश्रम में तपस्या करते नर और नारायण की तपस्या से ढिगाने के लिए इन्द्र ने अप्सराओं की भेजा था किन्तु नारायण ने अपनी जंघा से एक ऐसी सुन्दर स्त्री उत्पन्न की कि उसके अप्रतिम सौन्दर्य से पराभूत होकर अप्सराएँ वापिस स्वर्ग की गति लगीं तो नारायण ने उस स्त्री की भी इन्द्रसभा में भेज दिया। 'अरु' से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम 'उर्वशी' था। कालिदास ने इसी पौराणिक कथा का संकेत किया है।

इसी प्रकार की दूसरी अप्राकृतिक जन्म की घटना स्कन्द की है। शिव का जाज्ज्वल्यमान वीर्य क्षीत-रूपधारी अग्नि में प्रवेश करता है,<sup>२</sup> उस तेज की सहन न कर सकने के कारण अग्नि उसे गंगा में डाल देता है,<sup>३</sup> गंगा उसे कृत्तिकाओं की दे देती है।<sup>४</sup> और कृत्तिकाएँ उस तेज की सरकण्डों के बरत में ढीढ़ देती हैं, जहाँ कुमार का जन्म होता है।<sup>५</sup>

गरासन्ध, घटोत्कच, बुद्ध आदिक जन्मों की भी अप्राकृतिक ही बताया गया है।

---

१- विक्र० १।४

२- कुमार० १०।१४

३- वहीं, १०।२७

४- वहीं, १०।५४

५- वहीं, १०।५६

## कुछ अन्य लोकमान्यताएँ-

- १- मूषि के अन्दर बाँधी में रहने वाले सौ के पाणों में स्थित मणियों की कान्ति ही इन्द्र धनुष है।<sup>१</sup>
- २- शेषानाथ अपने सत्त्व पाणों पर पृथ्वी की धारण करते हैं। जब कभी वह सुस्तान के लिए पृथ्वी के मार का एक सिर से दूसरे सिर पर बदलते हैं, तो बड़-बड़े पहाड़ भी विचलित हो जाते हैं और इस प्रकार भूकम्प आ जाता है।<sup>२</sup>
- ३- पहले हाथी और तीते भी मनुष्य की तरह बीलते थे, किन्तु अग्नि शाप से हाथी की जीभ उल्टी गई और तीते बाणी में अस्पष्टता आ गई।<sup>३</sup>

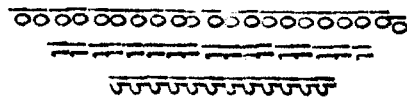
इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य में विभिन्न प्रकार के जन-विश्वासों का प्रासंगिक वर्णन हुआ है। इन वर्णनों से तत्कालीन समाज के लोकमानस के स्तर का मीमांसा ज्ञान हो जाता है।

१- भिषद्भूत (पृ०) श्लोक १५, आयत्ति ३०

२- हर्षचरित पंचम उच्छ्वास

३- एतिषामपि पुरा पुरुषाणां भिवातिपरिस्पृष्टशशागासीद, अग्निशाप त्वस्पृष्टालापता शुकानामुपजाता, करिणाञ्ज जिह्वा परिवृत्तिः ।

कादम्बरी ( कुम्भर्णन )



**:: - प रि च क्खे द णं :: -**

:- लौकौत्सव:-

∴ उद्देश्य

**:: उत्सव का अर्थ**

∴ स्वरूप

∴ सामूहिक उत्सव

∴ पारिवारिक उत्सव

∴ कुछ अन्य उत्सव

उद्देश्य-

मानव और सृष्टि की भावना ने मानव की आदिम काल से ही चिन्ताग्रस्त रखा है। फिर, सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ-साथ आवश्यकताओं और संघर्षों की वृद्धि के कारण अनेक चिन्तार्थों और कठिनाइयों का बढ़ना स्वाभाविक है। संसार के में फँसे मानव-मात्र की चिन्ता और दुःख से छुटकारा कहाँ ? पर वह हमेशा चिन्तित और दुःखी भी तो नहीं रह सकता। कर्म यद्यपि उसका आवश्यक धर्म है, फिर भी कर्म करना-करना जब कर्म-श्रृंखला समाप्त नहीं होती, तब वह परिश्रान्त हो मन ही मन कुठता हुआ "माइ में जाने दो इसे ! परेशानियों का अन्त नहीं; कब तक इन्से झुकाता रहूँ ?" कहूँ कर्म से विरत हो जाता है। और कभी-कभी तो अत्यधिक सिन्न होकर आत्महत्या तक कर बैठता है। मानव को इस स्थिति तक पहुँचने की नींव ही न आयें, स्वल्पकाल के लिये ही गहरी सांसारिक चिन्तार्थों में छुटकारा मिल, अनेक विध्वन बाधाओं के बावजूद भी बीच-बीच में इन्हीं और उत्साह से प्रेरित हो अपने जीवन यात्रा पूरी कर, इसी अभिप्राय से मानव समाज में एकवैचित्र्य के आधार पर नाना प्रकार के मनोरंजन और उत्सवों की परम्परा चल पड़ी।

उत्सव और मनोरंजन- दोनों का लक्ष्य एक है - चिन्तार्थों के जाल में उलझी, माँकटों के पिंजरे में फँसे मानव मन की पीड़ी धर के लिये तनुक भावों के बीच कल्पना के हरितोद्यान में घेर कराना। परन्तु, लक्ष्य एक होने पर भी दोनों की प्रकृति में तात्त्विक भेद है। उत्सव के पीछे कहीं वास्तविक या कल्पित भी दर्शन-सम्बन्धी परम्परा अवश्य होती है जिसका पाठन प्रत्येक उत्सव में आवश्यक है। इस प्रकार 'उत्सव' मूलरूप में सामूहिक एवं पारम्परिक मनोरंजन का माधन होता है जिसे कालान्तर में मानव-समाज एक निश्चित तिथि या अवसर के लिये आवश्यक परम्परा के रूप में स्वीकार कर लेता है। दूसरी ओर, 'मिन्नरुचिहि लोक' के अनुसार मनोरंजन 'व्यक्ति अधिक होता है। मनोरंजन का माधन, स्थान प्रकार सभी कुछ व्यक्ति की चूँद पर निर्भर करता है।

संस्कृत साहित्य में संगृहीत मनोरंजन के विविध प्रकारों का उल्लेख अध्याय सात में होगा। इस अध्याय में उन प्राचीन उत्सवों का लौक्यात्मिक विवेचन प्रस्तुत है जिनका उल्लेख संस्कृत के वैदिक साहित्य में मिलता है।

‘उत्सव’ शब्द का अर्थ-

प्रेरणा के ‘ष्’ धातु (उत् + ष् + अच्) से उत्सव शब्द बनता है जिसका अर्थ है - ‘जो प्रेरणा दे’ - उत्सुवतीति उत्सवः। उत्सव कलान्त मानव के व्यक्ति मन की हर्ष और उल्लास से भरकर उसे जीवन-मथ पर अस्तर होने की प्रेरणा देता है।

अमर कोष में उत्सव शब्द के चार अर्थ दिये हैं - ‘उत्सुकामर्ष्याऽरिच्छा-  
-प्रसवो यस्य उत्सवः।’ अमरसिंह का यह वाक्य ‘उत्सव’ की समस्त प्रक्रिया की उपस्थिति करता प्रतीत होता है। कर्म करने की प्रवृत्ति के मूल में ‘साधनात्मक उत्पत्ति’ मनुष्य का प्रधान लक्ष्य होती है। कष्ट का कोण लक्ष्य-मथ के शोधनात् ‘कीर्ति’ भी एक आवश्यक तत्त्व है। लक्ष्य तक पहुँचने में लक्ष्य प्राप्ति की ‘उत्कट इच्छा’ प्रकारास्तम्य का काम देती है और लक्ष्य प्राप्त होने पर मानव-मानस में आनन्द का सागर छिड़ने लगता है, तब जर्म अनजर्म ही उत्सव का दृश्य उपस्थित हो जाता है। इसी आधार पर अमरकोषकार ने लक्ष्य में फलप्राप्ति तक के सारे व्यापारों को ‘उत्सव’ कहा है - आदिरत्नेन सहेता।

‘उत्सव’ के अन्य पर्याय हैं - दाणा, उद्वर्षा, महर्षीर उद्वर्षा<sup>१</sup>। दुःख कम करने के कारण उत्सव की दाणा,<sup>२</sup> दुःख दूर करने के कारण उद्वर्षा, और अत्याधिक हर्षात्पादक होने के कारण उद्वर्षा कहा जाता है। सुःख-दुःख सभी परिस्थितियों में भारतीय जन-मानस में ‘सर्वज्ञ’ औचित्य की कमी नष्ट-अन्दाज नहीं किया। धर्म-प्राप्ति और मानस में यज्ञ-उत्सव की भी धर्म से स्वतन्त्र नहीं छोड़ा। प्रायः हमारे प्रत्येक उत्सव के साथ कोई न कोई धार्मिक मन्त्रव्य या आचार सम्बद्ध अवश्य है जबकि

१-‘अथ दाणा उद्वर्षा यस्य उद्वर्षा उत्सवः’ अमरकोषः १।७।३८

२- दाणातीति दुःनिति दाणाः। कृष्ण

३- उद्वर्षातीति दुःखम्। धृञ् कम्पने धातु।

४- उद्वर्षायति इति उद्वर्षा। हृष्ण अलीक धातु।

प्राचीन यूनान और रोम में फालोरालिया, वाक्चनलिया, क्राटी और बड़ी हाथी-नी सिया प्रमुख उत्सवों के अवसरों पर वहाँ की जनता कुत्त-बिल्लियों की तरह सड़कों के किनारे और चौराहों पर भेद-विचार छोड़कर सुल्लभसुल्ला व्यवहार करने से संकुचित नहीं थे। धर्म-भावना की प्रधानता के कारण ही 'उत्सव' की 'मह' संज्ञा से विभूषित किया गया। पालि जातकों में उत्सव के लिये 'नक्खत्त' शब्द का प्रयोग निश्चित ऋतु में मनाये जाने वाले धार्मिक उत्सवों की ओर ही संकेत करता है।

स्वरूप -

उत्सव अत्यधिक प्राचीन काल से ही मनुष्य के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन का अपरिहार्य अंग रहा है। मनुष्य का कोई भी धार्मिक अथवा सामाजिक कार्य बिना किसी विशेष उत्सव के सम्पन्न हो नहीं होता। 'उत्सव-प्रियाः खलु मनुष्याः' कालिदास का यह कथन मनुष्य की उत्सव-प्रियता का यथार्थ मनोवैज्ञानिक सत्य प्रस्तुत करता है। वास्तव में मनुष्य का उत्सव के साथ मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध इतना गहरा है कि उत्सव के अभाव में मानव-जीवन न होकर अभिशप, 'बेसी' और उचारी का पययि बन जाता है।

उत्सव सामूहिक मनोरंजन का पारम्परिक माध्यम होता है, यह पक्ष ही स्पष्ट किया जा चुका है। फिर भी सभी उत्सवों की सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। कुछ उत्सव राज्य अथवा संस्थाओं द्वारा आयोजित होते हैं जिनमें साधारण लोग भी सम्मिलित हो सकते हैं। कुछ उत्सव ऐसे भी होते हैं जो विशेष अवसरों पर किसी व्यक्ति द्वारा आयोजित किये जाते हैं जिनमें आयोजक के पारिवारिक सम्बन्धी और इष्ट मित्र ही भाग ले सकते हैं। प्रथम प्रकार के उत्सवों को 'सामूहिक उत्सव' और दूसरे प्रकार के उत्सवों को 'पारिवारिक उत्सव' की संज्ञा दी जा सकती है।

१- मन्यथ राय: प्राचीन भारतीय मनोरंजन, प्रथम सं०, पृ० २२१ प्रकाशक : भारतीय विद्याभवन, इलाहाबाद।

२- महतीति मह्यतिऽभिन वेतिः। 'मह' पूजायाम् से 'क्व'प्रत्यय।



## सामूहिक उत्सव-

समज्या- बड़ सामूहिक उत्सवों की 'समज्या' कहा जाता था। पाणिनि के अनुसार यह संज्ञा शब्द है<sup>१</sup>। जिसका अर्थ है- 'समजन्त्यस्यामिति समज्या'<sup>२</sup> अर्थात् जिसमें बहुत से लोग इकट्ठे हों। डा० मदन मोहन सिंह ने समज्या का अर्थ वह स्थान जहाँ लोग एकत्र होते हैं, किया है। बुल्लवग्ग<sup>३</sup> में 'गिरज्ज समज्ज' उत्सव का उल्लेख मिलता है। जातकीं में भी समज्ज शब्द अनेकत्र उल्लिखित है। निश्चित रूप से यह समज्ज 'संस्कृत समज्या' का पालिरूप है। डा० मदन मोहन सिंह के अनुसार पालिग्रन्थों में इसका प्रयोग मनीरंजनार्थ एकत्र जनसमूह तथा भैले के अर्थ में हुआ है।<sup>४</sup>

## समाज-

डा० वासुदेव शरणा अग्रवाल ने समज्या और समाज- दोनों को एक ही माना है।<sup>६</sup> लेकिन समाज और समज्या दो पृथक्-पृथक् शब्द हैं, यद्यपि दोनों की प्रकृति एक ही है। एक प्रकृतिक आधार पर हम केवल यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज और समज्या- दोनों शब्दों से 'मानव-समूह' का बोध होता था। काशिकाकार ने 'समुदीरजः पशुषु' सूत्र की व्याख्या में 'समाजी ब्राह्मणानाम्' उदाहरण दिया है जिसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह उत्सव जिसमें केवल ब्राह्मण एकत्र होते थे, समाज कहलाता था। जबकि 'समज्या' सार्ववर्णिक उत्सव रहा होगा।<sup>७</sup> वैसे प्राचीन साहित्य में समाजों की उत्सव से पृथक् उल्लिखित किया गया है। रामायण

१- संज्ञायां समजनि षदन्मि तमनविदपुत्रशीदृ मृत्रिणाः ३।३।६६ तथा इसी पर काशिका।

३- सिंह, मदन मोहनः बुद्धकालीन समाज और धर्म, प्रथम सं० पृ० ८२-८३ प्रकाशः :  
विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

४- बुल्लवग्गः ५।२।६, ६।२।७

५- सिंह, मदन मोहन : पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ८३।

६- अग्रवाल, वासुदेव शरणाः पाणिनि कालीन भारतवर्षः, द्वितीय सं०, पृ० १५६,  
वीरम्व्या प्रकाशन।

७- उत्सवाः समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः, अथीथ्या ६७।१५

अर्थशास्त्र<sup>१</sup> और खारवेल के अभिलेख<sup>२</sup> में उत्सव तथा समाज शब्दों का साथ-साथ प्रयोग दोनों के वैमिश्र की ओर स्पष्ट संकेत करता है। रामायण के टीकाकार रामभट्ट<sup>३</sup> में समाज का अर्थ विशेष राष्ट्र प्रयोजन वाले समूह<sup>४</sup> किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी<sup>५</sup> ने इस अर्थ की परम्परा-विरुद्ध माना है। ऐसा लगता है कि समाज की व्याख्या करते समय द्विवेदी जी का दृष्टिकोण कामशास्त्रीय अधिक रहा है, विवेचनात्मक कम।

समाज मूलतः राजकीय उत्सव रहा होगा जो राजा की इच्छा से किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये आयोजित किया जाता होगा। कौटिल्य का कथन है कि राज्य की जनता के मनोरंजनार्थ यात्रा, समाज, उत्सव और प्रवृत्ता का आयोजन करना चाहिये।<sup>६</sup> महाभारत में द्रौपदी के स्वयंस्वर के अवसर पर द्रुपद ने सम्राट का आयोजन किया था। डा० वासुदेव शर्मा कृष्णवाल के अनुसार समाज और सन्निवेश समवाय के ही दो विशेष प्रकार थे।<sup>७</sup> महाभारत में वारणावत नगर में लगने वाले समाज का उल्लेख हुआ है।<sup>८</sup> इस उत्सव का आयोजन सम्भवतः युद्धलिप्सा को शान्त करने के लिये किया जाता होगा। विष्णुपुराण में कृष्णकथा के प्रसंग में समाजोत्सव का वर्णन मिलता है जिसमें कंस द्वारा नियुक्त मल्लों के साथ कृष्ण और बलराम युद्ध हुआ था। इसमें स्त्रियों के बैठने के लिए पृथक्-पृथक् आसनों का प्रबन्ध था।<sup>९</sup> जातक<sup>१०</sup> भी इसके साक्ष्य हैं कि समाज का आयोजन राजा-गण ने किया जाता था और उस अवसर पर मल्लयुद्ध,<sup>११</sup> धनुर्वेद,<sup>१२</sup> घुड़दौड़ आदि के द्वारा मनोरंजन किया जाता था। इस विषय से समाजोत्सव का स्वरूप आजकल की जनपदीय प्रदर्शनियों के समान कल्पित किया जा

१- अर्थशास्त्र : १। २१

२- उत्सव समाजकारापनाहि वै, सरकारः सलैकट इस्क्रिप्शन्स, पृ० २०७।

३- द्विवेदी, हजारी प्रसाद : प्राचीन भारत के कलात्मक विनीत, पृ० ६१, सं० १६५२,

प्रकाशक: हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई-४।

४- वहीं

५- अर्थशास्त्र : १। २१

६- समायै तती राजाम्, आदि० १। ८२

७- वहीं (८) आदिपर्व १४२। ३-४

८- विष्णु पुराण, ५। २०। १६-८१

९- जातक २, पृ० २५२

११- जातक ३, पृ० १६०, जातक ४, पृ० ८१-८२

(१२) जातक ३, पृ० ४६-४८ जातक ६, पृ० २७५

सकता है। जिनमें सरस्वती, तमारी, कुशित्वा, घुड़दौड़ आदि के मनोरंजन कार्यक्रम चले हैं।

जब इस प्रकार के समाजों का स्वरूप उच्छृंखल होने लगा होगा तब निश्चय ही धर्म का पुट देकर उन्हें सुधारन का प्रयत्न किया गया होगा। वात्स्यायन में समाज की 'धर्मान्वित्यन' संज्ञा देकर प्रत्येक मास अथवा पक्षा की प्रज्ञात तिथि की सरस्वती अथवा प्रज्ञात तिथि से सम्बन्धित देवता के मन्दिर में 'समाज' आयोजित करने का विधान किया है। इस अवसर पर आगन्तुक नट-नर्तकों की कला प्रदर्शन के लिये आमन्त्रित किया जाता था। समाज के दूसरे दिन पुरस्कार देकर कलाकारों की विदा कर दिया जाता था। खेल अधिक पसन्द आने पर कभी-कभी उन्हें और एक दो दिन के लिये रोक भी लिया जाता था। उत्सव देखने के लिये आये आगन्तुकों को सम्मान पूर्वक ठिठायी जाता था।<sup>१</sup> काम सूत्र के इस विवरण से स्पष्ट है कि 'समाज' को धर्म से सम्बद्ध कर दिया गया था। फिर भी इस तथ्य से उन्हें नहीं मीठा जा सकता कि ऐसे अवसरों पर धर्म और सदाचार की गरिमा अवश्य कम होती होगी। इनमें मीजन, मद्यपान और खिलासिता के कर्मों की प्रधानता हो चली थी। जैन सूत्र ग्रन्थ इसके साक्षी हैं।<sup>२</sup> समाज के कर्मरहित स्वरूप के कारण ही ती अशोक ने इस दोषबहुल उत्सव की रीकों की राजाज्ञा प्रसारित की थी।<sup>३</sup>

**सन्निवेश-**  
-----

इस उत्सव का उल्लेख काशीकाकार में रक्षाति (४।४।३३) और समवायन समवैरति (४।४।४३) सूत्रों की व्याख्या में किया है। अमरकीर्ण में इसका अर्थ 'सन्निवेशी निकर्षणम्' अर्थात् 'नगर के बाहर क्रीडा और उत्सवों के लिये निश्चित स्थान दिया है। ऐसे स्थानों का स्वामित्व एवं प्रबन्ध नगर के जिस उत्सव और

१- देवानुद्दिश्य यात्रा धर्मा, नागरकाणां तत्र संघटयमानत्वात् तस्या निवन्धनं गणधर्मिण व्यवस्थापनम् कामसूत्र १।४।२६ पर अमरगल।

२- पक्षास्य मासस्य वा प्रज्ञातिऽहनि सरस्वत्या भवने नित्यं समाजः। कुशील-वाश्वान्तः पक्षाणकर्मणा द्युः। द्वितीयऽहनि तेभ्यः पूजा नित्यं लभ्यते। तृतीयायाश्चैव दशममुत्सर्गं वा। व्यसनीत्सवेषु पूजा परस्परस्मककार्यता। आगन्तु-ना च कृतसमवायानां पूजनमप्युपयतिर्निति गणधर्मः। एतेन तत् देवताविशेषाद्विषय सम्भावितस्तिथ्या विविधा धर्मा व्याख्याताः। - कामसूत्र १।४।२७-३३

३- सिंह, मदनमोह। पूर्वोद्धृतग्रन्थ, पृ० ८४।

४- नव समाजो कर्तव्या। बौद्ध कि दोस समाजनिह पसहि देवानापियां पियदसी राजा -- ---- सरकारः सलेक इ स्कण्णस, पृ० ६६।

५- समन्तान् विनन्तिऽत्र सन्तिशः पुराद् बहिविहरणम्- अमर० २। २१६ पर श्रीस्वामी अग्रवाल, वासुदेव शरणः पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० ६६०।

खेलों के शौकीन व्यक्ति के हाथ में होता था उसे, तथा उस उत्सव में भाग लेने वालों को 'सन्निवंशिक' कहा जाता था। सन्निवंश उत्सव नगर के बाहर निश्चित स्थान पर ही आयोजित किया जाता था, ~~सन्निवंश उत्सव~~ किन्तु समाज का आयोजन अन्यत्र भी किया जा सकता था।

समन -  
-----

यह दीर्घकाल तक चलने वाला एक सामूहिक उत्सव था जिसकी तुलना आती चलने वाले धार्मिक या व्यापारिक मेलों से की जा सकती है। ऋग्वेद<sup>१</sup> और अथर्ववेद<sup>२</sup> में अनेकधा इसका उल्लेख मिलता है। सेंट पीटर्सबर्ग काण्ड में रॉय ने इसका अर्थ युद्ध अथवा उत्सव किया है। पिंशेल के अनुसार<sup>३</sup> यह एक ऐसा लोकोत्सव था जिसमें द्वित्रयों अपने मनोरंजन के लिए, कविगण स्थापित अर्जित करने के लिए, धनुर्धर प्रतियोगिताओं में पुरस्कार जीतने के लिए, आते थे। इस अवसर पर घुड़दौड़ का भी आयोजन किया जाता था।<sup>७</sup> आजीविका के उद्देश्य से दृष्टाजीवायि<sup>८</sup> और मनचाहे पति की खोज में युवतियाँ भी ऐसे मेलों में पहुँचती थीं। उत्सव के रंगारंग कार्यक्रम रात-भर चलते थे।<sup>१०</sup> कभी-कभी आग लग जाने पर मेला तितर-बितर होकर समाप्त भी हो जाता था।<sup>१२</sup> ऐसे मेलों में आस-पास के गाँवों के व्यक्ति भी सम्मिलित होते थे। इसकी तुलना इस 'मेल' से की जा सकती है जो चन्द्र गुप्त मौर्य द्वारा अपनी राजधानी में प्रति-वर्ष आयोजित किया जाता था।

१- स ३६।७, द ६।६०।२, ७।२।५ आदि

२- स ३६।१, द ६।६२।२ आदि

३- वैदिक इण्डेक्स, भाग दो 'समान शीर्षक' ४- स १२४।८, ४।५।८; द ६।७।५।४ आदि

५- ऋ० स ३६।७, द ६।६७।४७

६- ऋ० द ६।७।५।३५

७- ऋ० द ६।६।६, अथ ६।६२।२

८- ऋ० ४।५।८

९- ऋ० ७।२।५, अथ २।३६।१

१०- ऋ० १।४।६

११- ऋ० १०।६।११

समज्या, समाज, सम्वाय, सन्निवेश और समन शब्द उत्सव के सामूहिक स्वरूप का बोध करते हैं। ये सभी उत्सव विभिन्नप्रकार के मेलों के मिनन-मिनन रूप थे, ऐसा अनुमान है। इन उत्सवों में जनसामान्य भी सम्मिलित होकर अपना मनोरंजन करते थे। अन्य सामूहिक उत्सवों का विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है -

### वसन्तोत्सव-

कृतुत्सव,<sup>१</sup> वसन्तावतार,<sup>२</sup> वसन्तीत्सव,<sup>३</sup> सुवसन्तक,<sup>४</sup> मधुत्सव, महोत्सव<sup>५</sup> आदि संज्ञाओं से अभिहित यह उत्सव वसन्त कृतु के आगमन पर राज्य के द्वारा आयोजित किया जाता था। संस्कृत साहित्य का शायद ही कोई ऐसा ग्रन्थ होगा जिसमें इस उत्सव का उल्लेख न हुआ हो, पर, आश्चर्य है कि इसके निश्चित समय और स्वरूप के सम्बन्ध में एक निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है।

वसन्तीत्सव का प्रारम्भ वसन्त कृतु के प्रथम दिन में होता है, यह पुनिश्चित है। लेकिन प्रश्न यह है कि वसन्त का प्रारम्भ किस दिन माना जाय। ज्योतिष के अनुसार सूर्य के मेषराशि में प्रवेश के साथ-साथ अथवा चैत्र मास के प्रारम्भ के साथ वसन्त का आरम्भ होता है। इसी आधार पर काशी हिन्दु विश्वविद्यालय से प्रकाशित विश्व पंचांग में चैत्र कृष्ण प्रतिपदा को 'वसन्तीत्सव' तथा 'वृत्त कुम्भप्राशन' जो इस उत्सव का अपरिहार्य अंग है, का विधान दिया गया है। रत्नावली के 'प्रकाश' टीकाकार ने मविष्णोत्तर पुराण के आधार पर वसन्तात्सव का प्रारम्भ फाल्गुनी पूर्णिमा और अन्त चैत्र कृष्ण पंचमी को माना है।<sup>६</sup>

विष्णु धर्मोत्तर पुराण पर आधारित 'व्रतार्क' में माघ शुक्ल पंचमी को वसन्तीत्सव आयोजित करने और श्री पंचमी ( वसन्त पंचमी ) से हरिश्चयी एकादशी ( आषाढ शु० ११) तक वसन्तराग गान का विधान है। वहीं इस उत्सव का अधिष्ठाता देव भगवान् कृष्ण को माना गया है।

१- 'किमु तलु कृतुत्सवंऽपि निरुहस्यारम्भमिव राजकुलं दृश्यते' - दण्डि० शा० अं० ६

२- अथैव प्रथमावतार- - नववसन्तावतार व्यवर्षदर्शनरावल्या - - - - - भागवि० अ० ३

३- सूत्रधार - - - - - अथाह वसन्तीत्सव, - - - - - रत्ना अक १

४- वसन्तावतार विवाः सुवसन्तकः - शृंगार प्रकाश पृ० ८५२

५- रत्नावली अक १, श्लोक ८

६- 'फाल्गुनी पूर्णिमामारभ्य तदुत्तरागामि पंचमी पर्यन्तं वसन्तीत्सवः' - नान्दी के वाद

सूत्रधार के प्रथम कथन पर प्रकाश टीका, चौखम्बा संस्करण



मनाया जाता है, यद्यपि इस ऋतु के अन्य उत्सवों का शिव-शिला वर कृष्णा प्रति-  
पदा के बाद ही प्रारम्भ होता है। काश्रूत्र के अमंगला टीकाकार के अनुसार सुवसन्तक  
‘मदनोत्सव’ का ही नाम है जिमें नृत्य गीत और वाद्य की प्रश्रुता रहती है।<sup>१</sup>  
कादम्बरी में कामदेव भट्ट का उल्लेख हुआ है। वासुदेव शर्मा जीवाल इसका आयोजन  
वसन्त पंचमी के दिन मानते हैं। श्री दामोदर शास्त्री भी माघ शुक्ल ५ अर्थात् वसन्त  
पंचमी के उत्सव को ही सुवसन्तक मानते हैं।<sup>२</sup> डा० राघवद्र इस संगत नहीं मानते।<sup>३</sup>  
उनके अनुसार- “Sarasvatika is greeting the coming Spring, and  
naturally, it is celebrated at the beginning of the new year  
opening in Caitra month with the Vasant season.”

लेकिन डा० राघवद्र का यह तर्क सम्मत मत हमें इसलिये मान्य नहीं है कि सुवसन्तक  
का ग्रीटिंग दी कर्माणि स्प्रिंग अर्थ उन पर भी माघ शुक्ल ५ का इस उत्सव के मनाने  
जान में कोई अनिचित्य नहीं दोष पड़ता।

#### स्वरूप-

वसन्त ऋतु मदनोददीपक है। समस्त प्रकृति में रति और काम का स्फुरण  
होने लगता है। यही कारण है कि वसन्त के सभी उत्सवों में शृंगारोचित उल्लास  
युवक-युवतियों के हृदयों को उद्बलित कर देता है। इसीलिये अमंगलाकार में सुवसन्तके  
को मदनोत्सव कहा है।<sup>४</sup> सच तो यह है कि वसन्त ऋतु के पार उत्सव काम प्रधान  
है। वायुवेद में इस ऋतु में कामिनी और कानन के जीवन की गूहाह देता है-<sup>५</sup> वसन्ते  
ऽनुमेत स्त्रीणां काननानां च यौवनम्।

इस दिन नव विकसित राक्षसर्मजरी के कामदेव की पूजा की जाती थी।<sup>६</sup>  
वसन्त ब्राह्मणमुपन्यीत के अनुसार वेदाध्ययन के प्रारम्भ का समय भी यही है।

१- सुवसन्तो मदनोत्सवः, तत्र नृत्यगीतमाधनायाः क्रीडाः - अमंगला, पृ० ४८

२- कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ३८४

३- अमंगला, पृष्ठ ४८, पाद- टिप्पणी।

४- According to an editor's footnote in the 'Kāmasūtra' this  
comes off on Māgha Śukla Pāncami which seems to be an incorrect  
statement Sr. Pr. Page 6.51

५- चरक संहिता : ६। २६  
६-

६- रात्रि, अजलम्बुध मां यामदयः पदरिक्ता भूत्वा  
वृत्तकलिका गृहीत्वा कादम्बरी करामि-अमि०  
श १०. अक ६१

अतः विधा की अर्चिव्यवस्था परस्वती का पूजन भी इसी दिन किया जाता है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में तीन, पाँच अथवा आठ गौपियों से घिरे श्री कृष्ण की पूजा का विधान है।<sup>१</sup> श्री कृष्ण का मन्दिर सप्त प्रकार सजाया जाय जिसमें अनेक वार्धों और नृत्यों से प्रसुदित कृष्ण की व्रजगणनायें गिरकी नज़रों से देख देखकर मनोहर वस्तुत्तराण गा रही हों और कृष्ण राधा तथा गौपियों की और राधा तथा गौपियों श्री कृष्ण को ताम्बूल दे रही हों। व्रज के मन्दिरों में आज की यह उत्सव बड़ी धूम-धाम से पाव मनाया जाता है। उजर प्रदेस के पश्चिमी हिस्सों में इस दिन नाई सर्राई के फूल लेकर घर घर जाता है, ताँग पीले वस्त्र पहिनाते हैं। हंगी का प्रथम पूजन की उरी दिन किया जाता है। इसी दिन में हंगीका दहन के लिये ठकड़ी आदि एकत्र करना तथा हंगी -राग गाना प्रारम्भ हो जाता है।

### कामदेवोत्सव

#### मदनोत्सव -

मदन, वान्तकृत का अधिष्ठातृ देव है। अतः वान्त के प्रथम दिवस वान्त पंचमी से ही कामदेवोत्सव का आयोजन किया न किया रूप में प्रारम्भ हो जाता है। विस 'मदन' के निमित्त पूर्ण उत्सव का आयोजन चैत्र शुक्ला १३ को किया जाता है -  
 'मदन त्रयादर्यां कामदेवादिषु वा मदनोत्सवः'। ताम्बूल के सम्पादक श्री दामोदर शास्त्री चैत्र शुक्ला १४ को मदनोत्सव आयोजित करने के पक्ष में हैं।<sup>२</sup>

#### स्वरूप-

यह उत्सव मुख्यतः स्त्रियों का उत्सव है। स्त्रियाँ कुम्भी रंग की पाड़ियों पहिनाकर इसे दिन कामदेव की प्रतिमा की पूजा करती हैं। रत्नावली के प्रश्नांक में सागरिका का 'अम्हाणं तादस्य अन्तरं उपाचिषादी जच्चीआदि' वाक्य कामदेव के चित्र की पूजा को सम्बुष्ट कर देता है। काम पूजा के अनन्तर स्त्रियाँ अपने पति का भी पूजन करती हैं।<sup>३</sup> इसलिये इस दिन पति का घर पर रहना आवश्यक है।<sup>४</sup>

१- शृंगार प्रकाश, पृ० ८५३

२- कामसूत्र पृ० ४६ पर पादटिप्पणी

३- कन्वन माता- मट्टिगि, अचिद्वीं मज्जं पन्नुणां वा अरिह मज्जणां उद्वं पूजा सक्कारम् - रत्ना०, प्रश्न १६।

४- तहिं अज्जउत्तेया उणिहिंहेता उदव्वम् - रत्ना०, पृ० अंक



कन्यायें मनीषुकुल पति की प्राप्ति के लिये मदनपूजा करती थीं । रागनिका पति-प्राप्ति हेतु कुसुमायुध से प्रार्थना करती है । यह पूजा नगर में स्थित 'मकरन्दोद्यान' में सम्पन्न हुआ करती थी । काम की प्रतिभा जसा चित्र रत्न अशोक वृक्षा के नीचे स्थापित किया जाता था । कामदेवायतन का भी उल्लेख मिलता है । पूजा नृत्य के अनन्तर इस उत्सव का रूप मनोरंजनात्मक एवं सार्वजनिक हो जाता था । रत्नावली से विदित होता है कि इस अवसर पर मृदंग, बँदरे, जैठो, ठाकुराणाँ पर झिमी आदि लौकिक गायें जा रहें थीं । शराब पीकर उत्तम नृत्य में रत युवतियाँ पिचकारियाँ नगर वासियों के ऊपर रंग बरसा रही थीं, जिससे प्रेरित होकर युवक भी नृत्य मग्न थे । रत्नावली के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उत्सव में आमोद मयिदा की सीमा पार कर जाता था ।

इसके विपरीत मवभूति में मालतीमाधव में उस उत्सव का स्वरूप धार्मिक चित्रित किया है । उसके अनुसार मदनोद्यान में स्थित कामदेवायतन में मदन-पूजा की जाती थी । इस अवसर पर सम्भवतः भेल का अर्पण भी होता होगा । मालती-मदन-पूजा के बाद गणियों के साथ मदनोद्यान की सैर करती है ।

मवनीत्सव का उल्लेख संस्कृत साहित्य में उत्सव के पारिभाषिक अर्थ के विपरीत अर्थ में भी मिलता है । दौधेन्दु ने वैश्यालय में प्रतिदिन सायंकाल की होने वाले मवनीत्सव का उल्लेख किया है । वैसे कादम्बरीने भी कुसुमायुध की पूजा सायंकाल की ही की थी ।

१- वहीं, प्रथम अंक ।

२- वहीं, प्रथम अंक ।

३- यथोचितं पूजापुरास्कार सुपनीयकामदेवयतनाद् अवतरति - पदत्र प्राभृत कर माणा , २४। २० पृष्ठ ३५, पादताडितकम् ३१६

४- यौगन्धरायणा- अथ मधुरमभिर्जन्यमान मृदुमृदंगाङ्गातुत ङ्गीत मधुरः पुरः पीराणां समुच्चरति बँदरो ध्वनिः---- रत्ना०, प्रथम अंक ।

५- मधुमत्ककामिनी जनस्वयंग्राहृहीत शृङ्गकजप्रहारनृत्यन्नागर जन जनित कौतूहल -- । रत्ना०, प्रथम अंक ।

६- रङ्गनीरमणी कान्ते दिनान्ते तुहिनित्विष्टि उदिते मुदिते लौकिके बभूव मदनोत्सवः समयमाह्वा ३८, पृ० ३६७

७- अग्रवाल, वासुदेव शरणा, कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ३२

## इन्द्रध्वज उत्सव-

यह उत्सव मूलतः वीर्या या जहीरी का जातीय उत्सव था ।<sup>१</sup> हरिवंश पुराण से भी इस बात की पुष्टि होती है । उसके अनुसार वीर्या वृक्ष में राजा और प्रजा-सभी मिलकर इस उत्सव को मनाते थे । इस उत्सव में इन्द्रध्वज का पूजा किया जाता था ।<sup>२</sup> कालिदास में भी इसका इसी रूप में उल्लेख किया है ।<sup>३</sup> रघुवंश के संजीवनी टीकाकार मल्लिनाथ ने भविष्यीतर पुराण से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए इस उत्सव की यात्रा कहा है जो वीर्या की कामना से किया जाता था-

एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकैतयुधिष्ठिर ।

पुन्यः कामवर्णा स्यात् तस्य राज्ये न संशयः ॥<sup>४</sup>

राजतरंगिणी में इस उत्सव की उल्लेख हुआ है ।<sup>५</sup> उसके अनुसार भाद्रपद शुक्ल द्वादशी इन्द्रद्वादशी है, अतः इस उत्सव का यही दिन निश्चित था । किन्तु श्री रामायण में वारकी पूणिमा की इन्द्रध्वजोत्सव का उल्लेख हुआ है ।<sup>६</sup> यह उत्सव बड़ी धूम धाम के साथ मनाया जाता था, पूड़ी-मक्खानों का भोग लग जाता था । मृच्छकटिक में 'इन्द्रमहामुक काक' का उल्लेख इस तथ्य की सम्पुष्टि कर देता है ।<sup>७</sup>

यह उत्सव बहुत प्राचीन प्रतीत होता । भरत मुनि के अनुसार इन्द्र की कुरी पर विजय के उपलक्ष्य में ध्वजमह का आयोजन किया गया था और उसी समय उन्होंने नाट्य का प्रथम प्रयोग भी कराया था-

१- ऋषेः जम्हाणां वीर्या उद्दी इन्द्रयज्जी णाम उष्णवी भविष्यादि ।

बालचरित, प्रथमांक ।

२- श्रूयता तातशक्रस्य यदर्थं ध्वज इज्यते । हरिवंश, २।१५।४

३- पुरा ह्यध्वजस्यैव तस्यैव न्यमन्तयः ।

नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो नन्दः सप्रजाः प्रजाः ॥ रघु० ४।३

४- रघु० ४।३ पर संजीवनी में उद्धृत ।

५- राज०, ८।१७०

६- वहीं, ८।१८२

७- इन्द्रध्वज इवीक्ष्यतः पीण्मिास्यां महीतले ।

आश्वयुक्त सम्यै मासि गत्सत्त्वा विवेतनः ॥ किष्किन्धा० १६।३७

८- औरदाणीं इन्द्रमहामुकी वि ज सुदृष्ट किं काका असि । मृ० क० अंक २

महानयं प्रयोगश्च सम्यः समुपस्थितः ।  
 अयं च्वजमहः श्रीमन् महिन्द्रस्य प्रवर्तते ॥  
 अत्रिदानीमयं वैदो नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ।  
 ततस्तस्मिन् च्वजमहे निहितासुर दानवै ॥  
 पृष्टामसंकीर्णं महिन्द्रविजयीत्सवै ।  
 नान्दीकृता मया पूर्वमाशीर्वचन संयुता ॥<sup>१</sup>

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि इस उत्सव का स्वरूप भारी-भरकम रहा होगा। इस अवसर नाट्य आदि तमाशी का भी आयोजन किया जाता रहा होगा।

### कौमुदी महोत्सव -

यह नागरिकों का प्रिय उत्सव था। शरद पूर्णिमा के दिन इस उत्सव का आयोजन किया जाता था। ज्ञात कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि यह उत्सव रात्रि में चन्द्रज्योत्सना में मनाया जाता था। पाटलिपुत्र के नागरिक इस उत्सव की बड़ी धूम-धाम से मनाते थे।<sup>२</sup> इस उत्सव की लोक प्रियता इतनी अधिक थी कि इसके नाम पर कौमुदी महोत्सव नामक नाटक एक नाटक की ही रचना कर दी गई।

शाल मंजिकौत्सव- काशिका में इसे क्रीडा का भेद माना गया है।<sup>३</sup> किन्तु बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ अवदान शतक में उत्सव के रूप में इसका वर्णन हुआ है। उस ग्रन्थ में इस क्रीडा का वर्णन इस प्रकार है -

एक बार भगवान् बुद्ध आवस्ती के जेतवन में निवास कर रहे थे। उस समय आवस्ती में शालमंजिकौत्सव मनाया जा रहा था- सैकड़ों हजारों की भीड़ इकट्ठी हो गई और शाल पुष्पों का ढेर लगा गया, लोग आनन्द मनाने के लिए क्रीडा करने लगे और इधर-उधर घूमने लगे, यह प्राच्य देश में प्रचलित थी।<sup>४</sup>

- १- नाट्य शास्त्र, १। ५४-५६      २- कुमुदौ कौमुदी महोत्सवः - सुद्वारादास, अंक ३  
 ३- अष्टाध्यायी, २। २। १७, ३। ३। १०६, ६। २। ६४ पर काशिका।  
 ४- अवदान शतक, १। २०१      ५- अष्टाध्यायी के उपर्युद्धत सूत्रों पर काशिका।

## पारिवारिक उत्सव-

पारिवारिक उत्सव प्रायः संस्कारों से सम्बन्धित हैं। परिवार में जब कभी कोई संस्कार सम्पादित किया जाता है, तो गीत, वाद्य की मिश्रित स्वर-लहरियाँ वातावरण में अनायास गमक पैदा कर देती हैं। मानव जीवन में हर्ष और उल्लास उत्पन्न करने वाली ही संस्कार प्रमुख हैं - जन्म संस्कार एवं विवाह संस्कार। सोमेश्वर में उत्सव की परिभाषा देते हुए जन्मीत्सव, विवाहीत्सव, वसन्त तथा मनुष्यों के स्कन्धीकरण की उत्सव कहा है।<sup>१</sup> इनमें से वसन्त और समवाय ( मनुष्यों का एकत्रीकरण - मेला ) का वर्णन पहले किया जा चुका है। शेषा दोनों उत्सव संस्कारों से ही सम्बन्धित हैं।

जन्मीत्सव- पुत्रजन्म का उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। यह उत्सव उत्सव कोई अभिजातवर्ग तक ही सीमित न था- राजा-रंक सभी अपनी सामर्थ्य के अनुसार इस उत्सव को मनाते थे। संस्कृत साहित्य में इस उत्सव का वर्णन प्रायः राजकुमारों के जन्मीत्सवों के प्रसंग में हो हुआ है। बाणभट्ट ने हर्ष के जन्मीत्सव वर्णन में इस उत्सव का क्रमिक एवं विस्तृत चित्रण किया है- पुत्रजन्म होते ही शंख-दुन्दुभी आदि मंगलवाद्य बज उठे। घोंड़े हर्ष से हींसने लगे, बाधो चिंघाड़ने लगे, दिव्य वायु बहने लगी, यज्ञशालाओं में वैतान अग्नियाँ प्रज्ज्वलित हो उठीं --- ब्राह्मण वेदीञ्चारण करने लगे। पुरोहित शान्तिजल लेकर उपस्थित हुए। बड़े-बड़े सम्बन्धी भी आ पहुँचे। कारागार से कैदियों को छोड़ दिया गया। यहाँ तक का तो यह वर्णन केवल राजसी परम्परा का पालन मात्र करता है। वास्तविकता दृश्य था- प्रसन्न हुए लोगों में मारे खुशी के बनियों की दुकानें छटलीं, अतः भगदड़ मची हुई थी। महलों में नौन, कुंकी, दासियाँ सभी नाचने लगीं। राजाकुल के कड़े नियम इस अवसर शिथिल कर दिए गए। --- दूसरे दिन इस उत्सव में और रंग पकड़ा। आस-मास के सामन्ती राजाजी की रानियाँ बघाए ले- लेकर राजमहल में उपस्थित हुईं, मारे खुशी के नाच- गाने लगीं। उनके और अन्य अगन्तुकों के लिए कैसर, कमूर, चन्दन आदि लेकर नौकर-चाकर जहाँ-तहाँ खड़े थे ----- उत्सव

१- विवाहपुत्रजन्मादिभूतमातृवसंस्कृतम् ।

स्वमादिनिमिचीत्यौ जैरुत्सवसंज्ञिभिः ।।

में रंग और पकड़ा । अन्तःपुर के सभी कौट-बड़े लोग हर्षाभिवाद से नृत्य में बूढ़ पड़े - दासियाँ मन्त्रियाँ और सामन्ती के गले में मुक्ताश डालकर नाचने लगीं । राजा भी इस उत्सव में आनन्द ले रहे थे । उसकी आँखों का इशारा पाकर क्रीकरी मन्त्रियों के गुप्त प्रेम की खोलने वाली गीत गा रहे थे ----- नृत्य में अनभिज्ञ अन्तःपुर के प्रहरी भी ती-ती रानियों के कहने से नाच रहे थे । शासक-मण्डलियाँ गाली-भरी अश्लील गीत गा रही थीं ----<sup>१</sup>। पुत्रजन्मोत्सवादि उत्सवों के अवसर पर ऐसे ही उमंगभरी तरल दृश्य आज भी देखे जा सकते हैं ।

वर्षावर्धनीत्सव- यह वर्षागर्ह, मनाने का उत्सव प्रायः राजघरानों में ही आयोजित किया जाता था । पंचरात्रनाटक में इस उत्सव का उल्लेख मिलता है । राजा आयुवर्धनाथ अपने जन्मकालिक नक्षत्र की पूजा बड़ी-धूम-धाम से किया करता था ।<sup>२</sup> इस अवसर <sup>३</sup>सहस्रों गाय दान की जाती थीं । दान में देने के लिए खवत्सा गाय ~~गर्ज~~ सजाकर नगरमार्गी पर खड़ी कर दी जाती थी ।<sup>३</sup> इस अवसर पर गौपबालक और गौपकालारि नय-नय वस्त्राभूषणों से सज-वज कर नाच-गान कर रहे थे ।<sup>४</sup>

विवाहोत्सव- विवाह के महत्व को देखकर श्रुति स्मृति एवं धर्मशास्त्रों में भी इसे मानव के लिए आवश्यक कर्तव्य घोषित किया है । जन्मोत्सव संस्कार के समान ही इस संस्कार के भी दो रूप हैं - प्रथम उत्सव, द्वितीय संस्कार । संस्कार धर्मशास्त्रों का विषय है, किन्तु उत्सव लोकमानस था । न केवल सभ्य एवं सुसंस्कृत जातियों में ही अपितु संसार की प्रत्येक जनजाति में भी यह उत्सव अपने-अपने तौर-तरीकों और हर्षोल्लासों के साथ मनाया जाता है ।

संस्कृत साहित्य में विवाहोत्सव का वर्णन भी प्रायः राजकुमार-राजकुमारियों के विवाहों तक ही सीमित है । लेकिन इन वर्णनों में जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, वे आज भी थोड़े-बहुत हर-फेर के साथ विभिन्न विवाहोत्सवों में देखे जा सकते हैं ।

१- हर्षचरित , उच्छ्वास ४

२- असेन, जन्मनक्षत्र किया व्याप्ततस्य महाराजस्य तावदकालनिवेदनं  
मन्युमुत्पादयति । पंचराम, अंक २

३- महाराज विराट वर्षावर्धनीपुजाननिमित्तमस्यां नगरीपवृक्षी श्या मायातु गौघनम् ।

४- ही ही सुष्ठु नर्तितं सुष्ठु गीतम् ---- । वहीं

५- द्रष्टव्य -मनु०६। २८, याज्ञ० १।७८,

अथो ह्वा एषा आत्मनी यज्जाया तस्माद् यावज्जायां न विन्दते न तावत् प्रजायते अस्वी हि तावद् भवति । अथ यदेव जाया विन्दतेऽथ प्रजायते तृहि हि सर्वा भवति । - शत पथ, ५। २। १। १०

विष्णुपुराण ३। ६। ८

भगवान् शिव की सगाई पर्वत पुत्री के साथ तय होती है। वधु की मंगनी के लिए वरपदा की और से सप्तर्षि कन्या के पिता के पास पहुँचते हैं।<sup>१</sup> यह प्रथा आज भी मुस्लिम परिवारों में प्रचलित है। वरपदा का प्रस्ताव आने पर हिमालय अपनी पत्नी से सलाह कर<sup>२</sup> अपनी स्वीकृति दे देते हैं। इस विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं। उधर कन्यापदा में एक प्रकार के मांगलिक कृत्य सम्पन्न कराए जाते हैं। पहल बड़ी-बूढ़ियाँ कन्या पार्वती की गौद में बिठा कर डुलारती हैं, फिर आशीर्वाद देती हैं।<sup>३</sup> तेल बढ़ाया जाता है बाद में हल्दी<sup>४</sup> (यहाँ कल्दी के स्थान पर लोघ के बूणों से काम लिया गया है)। सुहागिन और पुत्रवती स्त्रियाँ यह सब कार्य करती हैं।<sup>५</sup> उधर सप्तमातृकाएँ भी शिव की सजाने हेतु विविध प्रसाधन सामग्रियाँ लाती हैं। अब बारात प्रस्थान करती है। बारात के आगे-आगे बाज बज रहे हैं,<sup>६</sup> गीत भी गाए जा रहे हैं।<sup>७</sup> बारात का आगमन सुनते ही हिमालय अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ बारात की आवाजी करते हैं।<sup>८</sup> बारात का नगर में प्रवेश होते ही, दुल्हा का दर्शन करने और बारात देखने के लिए स्त्रियों में हड़वड़ी मच जाती है। जो यहाँ जिस काम को कर रही थी, उसे वहीं बीच में ही छोड़कर बारात देखने दौड़ पड़ती है।<sup>९</sup> कन्या के घर पहुँचते पर सभी संस्कार एवं लौकिक विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं।<sup>१०</sup>

बाणभट्ट ने राज्यश्री के विवाहोत्सव और उसकी तैयारियों का विशद वर्णन किया है।<sup>११</sup> श्री हर्ष ने कल की बारात, कुण्डनपुरी में बारात का स्वागत, बारातियों और कुण्डनपुरी की युवतियों की छिछोहियाँ आदि का बह्ता ही यथार्थ वर्णन किया है जिसे पढ़ते-पढ़ते मानी स्वयं बाराती की मनःस्थिति में पहुँच जाता है।<sup>१२</sup>

१- कुमार०, ६।२५, ७५-७८

४- कुमार०, ७।७

७- वहीं, ७।३०

१०- वहीं, ७।५२

१३- हर्षो उच्छ्वास ४

२- वहीं, ६।८५

५- वहीं, ७।६

८- वहीं, ७।४०

११- वहीं, ७।५६-६८ (१२) वहीं, ७।७६-८०

१४- मेघाधीन० सर्ग १३-६६

३- वहीं, ७।५

६- वहीं, ७।४८

९- वहीं, ७।४८

उपर्युक्त उत्सवों के अतिरिक्त और भी समाज में अनेक प्रकार के उत्सव प्रचलित थे, जैसे -

देशीय<sup>१</sup> स्थानीय उत्सवों को देशीय उत्सव कहा जाता था । सम्भवतः ये स्थानीय भैरव के रूप में मनाए जाते हैं ।

द्वित्रिदिनी<sup>२</sup> उत्सवः - दो-तीन दिन तक चलने वाले ये उत्सव या तीर्थ धार्मिक भैरव रहे हैं या अन्य स्थानीय उत्सव ।

यागोत्सव<sup>३</sup> - यज्ञसम्बन्धी उत्सव ।

वधूत्सव<sup>४</sup> - जब वधू को लेकर प्रथमवार नगर में प्रवेश करता था, तब यह उत्सव मनाया जाता था ।

षाष्ठीप्रजागर<sup>५</sup> - यह सम्भवतः बच्चों के षाष्ठी संस्कार के अक्षर पर मनाया जाता था जिसमें रात भर जागरण रखकर गीत-वाद्य का कार्यक्रम चलता रहता था ।

अष्टमंगली<sup>६</sup> उत्सव - कन्या के विवाहोपरान्त प्रथम बार गर्भिणी होने पर गर्भ के आठवें मास में यह उत्सव मनाया जाता था । यह सीमन्ती-न्यून संस्कार का होषवर्ती<sup>७</sup> और दौत्रीय रूप प्रतीत होता है । आज भी मन्दिश्वर बनियाँ में इस अक्षर-कन्या-पक्षा की और से कौकल जैसा बहुत-सा मेला जाता है और वरपक्षा में उत्सव मनाया जाता है ।

तदाक्यात्रा<sup>८</sup> - तदाकन्या की पूजा करने के लिए यात्रा का जी आयोजन किया जाता था, वही तदाक्यात्रा उत्सव है । आज भी उ० प्र० के पश्चिमी जिलों में नागपंचमी के दिन नाग की जात ( संस्कृत यात्रा ) का मेला लगता है ।

ग्राम्यात्रा<sup>९</sup> - यह सम्भवतः या तीर्थ कुछ विशिष्ट ग्रामों की पवित्र दौलत मानकर वहाँ की यात्रा का परिचायक है, या फिर अपने ही ग्राम-जन्मभूमि की प्रदक्षिणा आदि करने सम्बन्धित उत्सव है । निःसन्देह, इसका धार्मिक मूल है । आज भी ब्रज प्रदेश में गोकुल ग्राम की यात्रा, वृन्दावन की परिक्रमा जैसे धार्मिक भैरव आयोजित होते हैं ।

१- देशीपदेश, स १७

२- समयमातृका, ४।। १२८

३- नर्ममाला, ३। १

४- समयमातृका, ५। ८४

५- वहीं, ८। १२६, देशी ०७। २६

६- मासील्लास, ३। १२

५३-५४

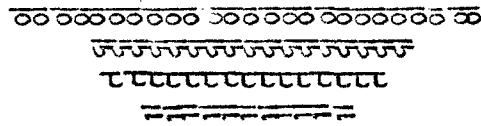
७- समयमातृका, २। ८८

८- वहीं, २। ८२

बल्युत्सव- यह सम्भवतः पितृपूजा से सम्बन्धित उत्सव रहा होगा ।<sup>१</sup>

कुछ ऐसे भी उत्सवों के नाम मिलते हैं जिनका स्वरूप उत्सवों जैसा तो नहीं, हाँ उत्सव के समान आनन्द दायक अवश्य है, जैसे - जारोत्सव,<sup>२</sup> रजस्वलीत्सव,<sup>३</sup> यौवनीत्सव,<sup>४</sup> रत्युत्सव,<sup>५</sup> सुरतीत्सव आदि ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में अनेक लीकौत्सवों का उल्लेख हुआ है । किन्तु संस्कृत के कवि वसन्त और उसके सञ्योगी काम के प्रशंसक रहे हैं, अतः उनके काव्यों में भी वसन्तीत्सवों का ही विशेषा वर्णन हुआ है ।



---

१- मुकुन्दानन्द, ५७

२- देशीपदेश, स २३

३- वहीं, ७। ३६

४- पद्मप्राभृतक, ६। २

५- उभयामिसारिका, २३। ६

६- मृ०क० ५। ३६



:- परिच द ७ :-

:- शीक कला :-

- :: कला का प्रयोग
- :: कला के भेद
- :: ललित कलाएँ
- :: क्रीडा एवं मनीविनीद
- :: क्रीडनक
- :: खेल तमारी
- :: मूर्ति कला

: - लौकिक कला : -

कला का प्रयोजन-

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह हमेशा प्रसन्न रहना चाहता है । उसके सारे प्रयत्न प्रसन्नता प्राप्ति के लिए ही होते हैं- 'प्रतिबंधं हि पुरुषाय ततः' <sup>१</sup>, मनुष्य की यही प्रवृत्ति 'कला' को जन्म देती है । इस परिप्रेक्ष्य में कला शब्द की व्युत्पत्ति 'कम्' लाति निमित्त उचित है क्योंकि संस्कृत में 'क' शब्द ब्रज, सुख, काम, सुन्दर, मधुर, कृ (रस ) आदि अर्थों का वाचक है । इस प्रकार कला का अर्थ एवं प्रयोजन होगा - 'कम् - ब्रज, सुखम्, कामम्, सुन्दरम्, मधुरम् रसम् वा, लाति - आददाति वा' <sup>२</sup> । ऐसा अर्थ करने पर न तो फ्रायड जैसे चिन्तकों को आपत्ति होगी जो कामवासना को ही कला की प्रेरणात्मिका शक्ति मानते हैं <sup>३</sup> । और न उन भारतीय एवं पश्चात्य तत्त्वचिन्तकों को ही जो 'रस' को ब्रह्मानन्द-सौन्दर्य <sup>४</sup>, मानकर अन्त में 'आत्मा' वा और द्रष्टव्य <sup>५</sup> अथवा के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । यदि 'कला कला' के लिए, सिद्धान्त भी स्वीकार किया जाय तो हमारे सिद्धान्त से किसी प्रकार वैभिन्य प्रतीत नहीं होता ।

कला के भेद- कला का उपर्युक्त विस्तृत अर्थ स्वीकार कर लेने पर मनुष्य का सारा कार्य-कलाप कला की सीमा में आ जाता है । अतः कला के अनन्त भेद ही जायेंगे और उनका नाम गिनाना भी असम्भव होगा <sup>७</sup> । किन्तु अपने संकुचित अर्थ में कला मनुष्य की विशिष्ट मनोवृत्तियों के अतुरंजन की कुछ विशिष्ट क्रियाओं को ही अभिव्यक्ति

१- मीमांसादर्शन, ६। १। २ पर शबर भाष्य । २- आप्टे, संस्कृत-इंग्लिश डिशनरी ।

३- उपाध्याय, कलदेव, भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३२२

४- काव्य प्रकाश, १। २

५- बृहदारण्यकोपनिषद् २। ४। ५

६- अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ० १

७- कलानां न पृथक् नाम लक्ष्म वास्ती केवलम् ॥

पृथक् पृथक् क्रियाभिर्हि कलामिदं ज्ञायते ।

यां सां कलां समाश्रित्य तन्नाम्ना जातिरुच्यते ॥ शुक्र० ४। ६५-६६

करती है। आज कला शब्द का यही अर्थ ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार की कलाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी मतवैमिन्य है। नीचे हम केवल सैकड़ों कला-सूचियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसे विभिन्न कलाओं के नामों और स्वरूपों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी -

### (१) काम्युत्र के आधार पर ६४ कलाओं की सूची -

गीतम्, वाद्यम्, नृत्यम्, अलङ्कारम्, शिष्यकर्मम्, तण्डुलकुसुमबलिविकारः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाम्, शयनचक्रम्, उदकवाद्यम्, उदक-घातः, चित्रयोगाः, मातृग्रन्थविकल्पाः, शिखरकापीड्योजनम्, भेषजप्रयोगाः, कर्णपित्र-मङ्गः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोगाः, ऐन्द्रजालयोगः, कौटुम्भारयोगः, हस्तलाघवम्, विचित्र-शाक्युष्णमद्यविकारक्रिया, पानकसरगासव्योजनम्, सूचीवानकर्मणि, सूत्रक्रीडा, वीणाहमरकवाद्यानि, प्रहलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचिकयोगाः, पुस्तकवाचनम्, नाटका-ख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पट्टिचित्रवानविकल्पाः तदाकर्मणि, तदाणम्, वस्तुविधा, रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागाकरज्ञानम्, वृद्धायुर्वेदयोगाः, भेषजकुक्कु-टलावक्युद्धविधिः, शुक्रसारिकाप्रलपनम्, उत्पादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, श्लोचिच्छित्तविकल्पः, देशभाषाविज्ञानम्, पुष्पशकटिका, निमित्त-ज्ञानम्, यन्त्रमातृका, धारणमातृका, सम्पाद्यम्, मातृगी, काव्यक्रिया, अभिधानकौष-हन्दीविज्ञानम्, क्रियाकल्पः, कलितयोगाः वस्त्रगोपनानि, धृतविशेषाः आकर्षकक्रीडा, बालक्रीडनकानि, वैयक्तिकीनां विधानां ज्ञानम्, व्यायामिकीनां विधानां ज्ञानम्।

### ललितविस्तार के आधार पर ८६ कलाओं की सूची -

लङ्घितम्, प्राक्चलितम्, लिपिमुद्राङ्गणनासंख्यासालम्बधुर्विदाः, जवितम्, प्ला-वितम्, तरणम्, हृष्यस्त्रम्, हस्तिग्रीवा, रथः, धनुष्कलापः अश्वपृष्ठम्, स्थैर्यम्, स्थाम्, सुशौर्यम्, बाहुव्यायामः, अङ्गुलिस्पर्शाग्रहाः, उद्यानानिर्माणम्, अपयानम्, मुष्टिबन्धः, शिखाबन्धः केशम्, भेषजम्, तरणम्, स्फालनम्, अङ्गुणवैधित्वम्, मर्मवैधित्वम्, शब्द-वैधित्वम्, दृष्टप्रहारित्वम्, अक्षक्रीडा, काव्यव्याकरणम्, ग्रन्थरचितम्, रूपम्, रूपकम्, अधीतम्, अग्निर्कर्म, वीणा, वाद्यनृत्यम्, गीतपठितम्, वाद्यातम्, हास्यम्, लास्यम्, नाट्यम्, विहङ्गितम्, मातृग्रन्थनम्, संवाहितम्, मणिरागः वस्त्ररागः, मायाकृतम्, स्वप्नध्यायः, शकुन्तितम्, स्त्रीलङ्घणम्, पुरुषलङ्घणम्, अश्वलङ्घणम्, हस्तिलङ्घणम्, गीलङ्घणम्, अजलङ्घणम्, मिश्रितलङ्घणम्, कैटभेश्वरलङ्घणम्, निघण्टुः निगमः, पुराणम्

इतिहासः, वेदाः, व्याकरणम्, निरुक्तम्, शिखा, कन्दः, यज्ञकल्पः, ज्योतिः, सांख्यम्  
योगः, श्रियाकल्पः, वैशेषिकम्, वैशिकम्, अर्थविद्या, बाह्यस्पृश्यम्, आश्चर्यम्, असुरम्,  
मृगशीर्षिकारामम्, ह्युविद्या, ज्युयन्त्रम्, मधुचिकुष्टकृतम्, सूचीकर्म, विदलकर्म पत्रच्छेदम्,  
गन्धयुक्तिः ।

उपर्युक्त कला सूचियों पर दृष्टिपत करके से स्पष्ट हो जाता है कि इन  
इन कला सूचियों में संगृहीत विभिन्न कलाएँ दो प्रकार की हैं - प्रथम- ललित कलाएँ  
जिनका सम्बन्ध शौकियत से है, द्वितीय- उपयोगी कलाएँ जिनका दैनिक उपयोग  
की वस्तुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

इनमें से कुछ कलाएँ तो निश्चित रूप से केवल विद्वद्गणों से सम्बन्धित कही  
जा सकती हैं, किन्तु अधिकांश का सम्बन्ध जनसामान्य से ही है । जैसे, काव्य,  
महलिका, आदि बुद्धिविवर्धक कलाएँ भी लोक में प्रचलित तो होती ही हैं, अतः  
इन्हें लोककला कहना असमीचीन नहीं होगा ।

### ललित कलाएँ-

हम यहाँ ललित कलाओं के अन्तर्गत केवल प्रसाधन कला एवं चित्र कला का  
ही उल्लेख करेंगे ।

### प्रसाधन कला-

मानव की सुखामिलाषा उसे सौन्दर्य की ओर उन्मुख करती है । अतः  
सौन्दर्य साधना उसके जीवन का एक प्रमुख अंग बन जाती है । इसकी सिद्धि के  
लिए वह अनेक प्रकार के आभूषणों, अंगरंगों आदि को अपना साधन बनाता  
है । संस्कृत साहित्य में विविध प्रकार के प्रसाधनों का उल्लेख मिलता है ।

### अलंकार एवं आभूषण-

स्त्री-सुरक्षा दोनों के प्रसाधन में अलंकारों एवं आभूषणों का विशेष  
महत्व है । स्त्रियों के लिए तो अलंकारों से सुसज्जित रहना आवश्यक था ।  
वात्स्यायन का कहना है कि आभूषणों से अलंकृत हुए बिना स्त्रियों का पति  
के सामने जाना दोषपूर्ण है ।<sup>१</sup>

पुरुष अंगुलियों में अंगुठी<sup>२</sup>, मुजा में कैयूर,<sup>३</sup> कलाई में कंकणा,<sup>४</sup> गले में हार<sup>५</sup> और कानों में श्रवणावत्स<sup>६</sup> धारण करते थे। त्रिकण्टक नामक कण्ठमरणा का भी उल्लेख मिलता है। बाण मट्ट के वर्णन से ज्ञात होता है कि यह आभूषण दो मौक्तियों के बीच में पन्ना जोड़कर बनाया जाता था।

स्त्रियों पेरों में बज्र वाली नूपुर,<sup>७</sup> कटि में भूखला,<sup>८</sup> अंगुलियों में अंगुठी,<sup>९</sup> कान में दन्तवत्<sup>११</sup> और बालिका जिन्हें तीन मौती लगे होतीं थीं,<sup>१२</sup> मस्तक पर चूलति-लकमणि,<sup>१३</sup> केशों में ब्रह्मणिमकरिका<sup>१४</sup> तथा गले में हार<sup>१५</sup> धारण कर अपने को सजाती थीं। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि विविध प्रकार के आभूषण पहिनने का अधिकार केवल सौभाग्यवती स्त्रियों को ही था। प्रीणितमर्तिका और विधवाओं को नहीं। प्रीणितमर्तिका केवल एक शंखचल्य ही पहन सकती थी।<sup>१६</sup>

यह आभूषण विभिन्न प्रकार की मणियाँ, मुक्ता, शंख, सुवर्ण आदि की मती खनिजों से बज्र होतीं थी।

पुष्पामरणों से भी अलंकरण करने का प्रथा थी। हर्षचरित में सरस्वती कान में सिन्धुवार की मंजरी<sup>१७</sup> और कादम्बरी में पुण्डरीक भी अपने कान कुमुदमंजरी धारण किए हैं।<sup>१८</sup> मस्तक पर पुष्पों की माला<sup>१९</sup> और जूँ में पुष्प धारण<sup>२०</sup> किछ जति थी।

२- हर्षो १।४

३- रघु० ६।६८, हर्षो २।३३

४- अमिता० ३।११, पू० मै० २

५- हर्षो २।३३

६- वहीं, २।३४

७- कदम्बमुकुलसूक्तमुक्तफलयुगलमध्याथ्यासिखमरक्तस्य त्रिकण्टक कण्ठमरणास्य ।

८- आपिर्णैर्णात्सर्पिणा नूपुरमणीनां प्रमाजलिन --। हाद० बाण्डाल कन्यावर्णन अर्षो १।६

९- कृतु सं० ६, ३

१०- हर्षो १।४

११- वहीं, १।१४

१२- वहीं, १।१५

१३- वहीं

१४- वहीं

१५- रघु० ५।७०, १३।४८

१६- एकं शंखचल्यं वा धारयेत् । - काम्पूत्र, पू० ३१५

१७- हर्षो १।३

१८- तेनच कणवितंसी कृता -- कुमुदमंजरी मद्रादाम् । - काद० पुण्डरीक वर्णन

१९- हर्षो १।७

२०- वहीं, १।६

## केश-विन्यास-

केशों का विविध -विन्यास भी सौन्दर्य प्रसाधन का महत्वपूर्ण अंग है । स्त्रियाँ स्नान कर बालों की मलीमांति प्रक्षालित कर विभिन्न प्रकार के सुगन्धित तेलों से सुवासित करती थीं<sup>१</sup> । बालों को काढ़कर प्रायः कुली अवस्था में ही बिना वैष्णवी के कमर तक लटकाए रखती थीं ।<sup>२</sup> कभी-कभी बालों की सभैट कर 'ललाट जूटक' भी बनाया जाता था ।<sup>३</sup> बालों के बीच में फूल लगाकर भी उन्हें सजाया जाता था ।<sup>४</sup> पति वियोग में स्त्रियाँ केवल एक वैष्णवी धारणा करती थीं । कालिदास ने विरहिणी शकुन्तला और यक्षिणी की एक वैष्णवी धारणा<sup>५</sup> किए हुए ही चित्रित किया है ।। शोक के अवसर पर केश-प्रसाधन निसिद्ध था ।

## चित्रकला-

समाज के सुशिक्षित वर्ग में चित्रकला का व्यापक प्रचार था । बड़े घरानों में चित्रकर्म की शिक्षा देने के लिए शिक्षक भी नियुक्त किए जाते थे । उत्तर राम चरित मानस में अर्जुन नामक एक चित्रकार का उल्लेख मिलता है जो चित्रकला की शिक्षा देता था । नाट्यशास्त्र, मालविकाग्निमित्र,<sup>७</sup>

१- शिरोरुं हिः स्नानकषयवासितैः । ऋतु संहार , १४

२- शिरोरुं हिः श्रीणिस्तटावलाम्बिमिः । - वहीं , स १८

३- हर्षि २ । ४

४- रघु०, स २२

५- मालवि०, अंक २

६- आर्य, अजैन चित्रकरीणास्मदुपदिष्टम् । - उत्तर० अंक १

७- नाट० शा० स ७२-७४

८- मालवि० अंक १

कादम्बरी<sup>१</sup> आदि ग्रन्थों में चित्रशालाओं के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु जन-साधारण में इस कला का इतना उन्नत रूप नहीं था। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता जन-साधारण का इस कला से कोई सरोकार ही न था। लोक के यह कला धार्मिक अवसरों पर किए जाने वाले विविध लीलाचारों के माध्यम से पनप रही थी। सुतिका गृह में मातृपटों की स्थापना, षाष्ठी देवी, माजौरानना चर्चिका देवी, आयी बृद्धादेवी आदि के चित्र हल्दी केसर, कुंकुम से बनाए जाते थे।<sup>२</sup> वैवाहिक अवसरों पर श्वेत कलशों और शराब्स्फुटों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मांडन (चित्र) माँड़े जाते थे।<sup>३</sup> यह काम स्त्रियाँ ही करती थीं। अनेक प्रकार के रंगों से कण्ठियाँ रंगी जाती थी। बांस के बने पट्टासन कमास के रेशीन गुल्लों से, सजाए जाते थे। विवाह के लिए विशेष प्रकार के कपड़े रंगे जाते थे। रक्ताशीक आदि के वृद्धों के नीचे भाग में लड़कियाँ पीले रंग के पंचांगुल थापे लगाती थी। ये थापे (स्थापक या हस्तक) प्रत्येक माँगलिक अवसर पर लगाए और सजाए जाते थे।

---

१- कादम्बरी भवन वर्णन ।

२- द्रष्टव्य- कादम्बरी अनु० ५६, ६४

३- चित्रपत्रलतास्थकुशलाभिः कलशांश्च धवलितान् शीतलशाराजिर-  
श्रेणींश्च मण्डयन्तीभिः । - हर्ष उच्छ्वास, ४

४- द्रष्टव्य । कादम्बरी अनु० ३८, २१६

## क्रीडा एवं मनीविनीद -

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संस्कृत के कवियों और लेखकों में विभिन्न प्रकार की क्रीडाओं और मनीविनीदों की भी 'कला' के अन्तर्गत रखा है। वात्स्यायन ने ती बर्चों के अल-खिलौनों के ज्ञान की भी 'कला' कहा है।<sup>१</sup> इसीलिए हमें भी परम्परा का अनुसरण करते हुए 'क्रीडा एवं मनीविनीद' विषय पर इस प्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में विचार न कर, यहाँ विचार करना उचित समझा है।

शारीरिक एवं मानसिक श्रम और उद्वेग से क्लान्त हुए मानव का विभिन्न प्रकार की क्रीडाओं एवं अन्य साधनों द्वारा मनोरंजन के लिए प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही है। वस्तुतः दुःख से व्यक्ति, श्रम में परिश्रान्त और शोक से सन्तप्त मानव की विश्रान्ति देने के लिए ही ती क्रीडा एवं मनीविनीद के विभिन्न उपार्यों का आविष्कार हुआ है। भारत मुनि ने नाट्य को 'क्रीडनीयक'<sup>२</sup> कहकर उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है -

दुःखातीनां श्रमातीनां शोकातीनां तपस्विनाम् ।

विश्रान्तिजननं कलौ नाट्यमितद भविष्यति ॥ २

और फिर सभी व्यक्ति सुन्दर, सुखप्रद एवं मनीविनीद की सामग्री पसन्द करते हैं -- 'सर्वा हि वाङ्मतिर्जा विषयं मनीषम्'<sup>३</sup> यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

धनी व्यक्तियों के लिए क्रीडाएँ या मनीविनीद के अन्य साधन मल्लो, विलास की सामग्री हैं<sup>४</sup> किन्तु जनसामान्य के लिए जीवनदायिनी औषधि के समान वे अत्यन्त उपयोगी हैं।

संस्कृत के विशाल साहित्य में क्रीडा एवं मनीविनीद से सम्बन्धित विपुल सामग्री उपलब्ध है। किन्तु उसका अधिकांश भाग शिष्ट एवं धनी अथवा राजर्षी से सम्बन्धित होने के कारण वह हमारे आलाेच्य विषय की परिधि से बाहर है।

१- कामसूत्र, १.३.१५ एवं ३.३.५-१४ (२) नाट्य शास्त्र, १.११४

२- आदिपुराण, सू. १५३

(४) द्रष्टव्य, 'ईश्वराणां विलासश्च

नाट्य शास्त्र १.१११



हम यहाँ केवल उन कीड़ाओं और मनीविनींदों की चर्चा करेंगे जिनका आनन्द कोई बर्ग विशेष नहीं, जनसाधारण्य उठाया करता था।

**धूत-** प्राचीन भारत में धूत लोगों के मनोरंजन का एक प्रिय साधन था। जुआरी अपने को धन-मुल्कनवाब समझते थे। उनकी दृष्टि में जुआ खेलना मानों सिंहासनरहित राज्य प्राप्त करना है।<sup>१</sup> वे धूत को ही समस्त नीतिक सुखों की प्राप्ति का साधन मानते थे।<sup>२</sup> धूत कमी-कमी, आजीविका का साधन भी बन जाता था। मृच्छकटिक में संवाहक चारुदत्त के निर्धन हो जाने पर धूतोपजीवी बन जाता है।<sup>३</sup> जुए की लत बहुत बुरी होती है। जुए की सम्पूर्ण बुराईयों को और उसके दुष्परिणामों को जानते और भोगते हुए भी जुआरी अपने को उससे विमुख नहीं कर पाता। मृच्छकटिक में हारा हुआ जुआरी जुआ खेलने की इच्छा को जैसे-तैसे रोकता हुआ कहता है कि 'कीड़ियों की आवाज़ मेरे मन की उसी प्रकार लुभा रही है जिस प्रकार हाथ से राज्य निकल जाने वाले राजा के हृदय में मेरी का शब्द युद्धादि की लालसा उत्पन्न कर देता है।'<sup>४</sup> मैं यद्यपि यह जानता हूँ कि जुआ सुमेरु शिखर से गिरने के समान हानिकर है, अतः नहीं खेलूँगा, किन्तु फिर भी कीकिल के मधुर कलख के समान पोंस का मधुर शब्द मेरे मन को लुभा रहा है।<sup>५</sup>

धूतकीड़ा की राजकीय संरक्षा प्राप्त था। कौटिल्य ने धूत पर निगरानी रखने के लिए धूताध्यक्षा की नियुक्ति का सुझाव दिया है। धूत के लिए समानुह<sup>६</sup> निर्धारित स्थान था जिसका अध्यक्ष ही धूताध्यक्षा होता था जिस मृच्छकटिक में समिक कहा गया है। किन्तु गरीब लोग लुक-छिपकर जीर्णमन्दिर अथवा किसी अन्य निज्जन स्थान पर जुआ खेलते थे। मृच्छकटिक में धूतकर और माथुर पुराने देवी मन्दिर में ही जुआ खेलते हैं।<sup>७</sup>

प्राचीनकाल में राजा-रंक, स्त्री-पुरुष सभी जुआ खेलते थे। संस्कृत साहित्य में धूत के चार रूपों का वर्णन पाया जाता है - राजाओं के मध्य, प्रणयिजनों के मध्य, केवल महिलाओं के मध्य और सार्वजनिक। कीड़ा के प्रारम्भ में कोई न कोई शर्त अवश्य

१- धूतं हि नाम पुरुषास्य अरिहोसनं राज्यम् - मृ०क०, अंक २

२- द्रव्यं लब्धं धूतिनैव दारामितं धूतिनैव - वही, अंक २

३- चारि यावशेषा च तस्मिन् धूतोपजीवी अस्मिन् संवृत्तः - वही

४- वही, स ५ (५) वही, स ६ (६)

७- मृ०क०, द्वितीय अंक।

लगाई जाती थी जिसे 'पणबन्ध' कहा जाता था। राजा लोग अपना राज्य और स्त्री तक जुए के दौंव पर लगा देते थे। युधिष्ठिर ने अपना सम्पूर्ण राज्य और द्रौपदी की भी द्यूतपण के हवाल कर दिया था। पुष्कर में राजा कल की जुए में ही जीता था। कथासरित्सागर के अनुसार मालवा के राजा भीमिन की युवावस्था में जुए में हार जाने के कारण अनेक कष्ट सहने पड़े थे। इसलिए पुनः राजा होने पर उसने हारे हुए जुआरियों के ठहराने के लिए एक 'महामठ' भी बनवा दिया था जहाँ वे निश्चिन्त होकर खाते पीते थे। कभी-कभी केवल समय काटने के लिए भी जुआ खेला जाता था। इन्दुमती की स्वयम्बरसभा में कुक्क राजा समय काटने के लिए पैसे खेल रहे थे।<sup>३</sup>

पणायि-युगल के मध्य होने वाली अदाक्रीडा का आकर्षक वर्णन माणसाहित्य में प्राप्त होता है। यह क्रीडा केवल मनीरंजन अथवा प्रेमी युगल के अधिक समय तक साहचर्य के लिए आयोजित की जाती थी। इस प्रकार के द्यूत में शर्तें बड़ी मृदुल और विचित्र हूया करती थीं, जैसे विजित की विजिता के लिए गायालग्न, बुम्बन आदि देना होता था। या फिर उसे सुरत में लघु शयन स्वीकार करना पड़ता था।<sup>४</sup> लोमेश्वर ने राजाओं को अपनी प्रेयसियों के सम्य अत्यन्त हास्यप्रद एवं विलासपूर्ण पणों के साथ द्यूतखेलन की सलाह दी है।

हरिवंश में महिलाओं के मध्य होने वाली द्यूतक्रीडा का उल्लेख करते हुए कहा है कि मनीविनीद के लिए यादव महिलाएँ भी बीसर खेलती थीं।<sup>७</sup>

मृच्छकटिक और दशकुमार चरित से द्यूतक्रीडा के ऐतिहासिक स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। कादम्बरि में एक स्थान पर 'सर्वाः द्यूतकलाः' शब्द आया है जिससे द्यूत के अनेक भेदों का अनुमान होता है। दण्डी ने द्यूत के २५ अंगों का सुव्यवस्थित वर्णन

१- व्यसने कला राजा पुष्करेण जितपुरा - मानसी०, पृ १३७७६

२- पृ० ३६०

(३) रघुवंश, द. १८

४- द्यूत यदीयं विजिता मया स्यादस्याः पिबामि स्वयमाननाब्जम् ।

अहं जितश्चेदधरं मदीयं गृह्णातु पातुं पुरतः सपत्न्याः ॥ श्रं० ति० ८८ ।

५- पराजयवता दुरतष्वधः शतव्यम् - श्रं० मू०, पृ० १४

६- मानसी०, पृ १३

(७) हरिवंश, स १२५।६

किया है।<sup>१</sup> गीमेश्वर ने मानसालास में इस क्रीड़ा के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। स्मृतिकारों की दृष्टि में द्यूत के दो प्रधान भेद थे - द्यूत और समाद्वय। याज्ञवल्क्य ने निजीव पाशादि से खेले जाने वाली क्रीड़ा को द्यूत और मेष्ठा, महिष्ठा, कुक्कुट आदि द्वारा शत लगाकर होने वाली क्रीड़ा को समाद्वय या प्राणी द्यूत कहा है। इसपर स्पष्ट है कि प्राचीन काल में मेष्ठा, महिष्ठा, कुक्कुट आदि के शत युद्ध भी द्यूत ही माने जाते थे। दो मल्ली के शत कुश ती की भी मनु में समाद्वय कहा है।

### कन्दुक क्रीड़ा

प्राचीन भारत में यह क्रीड़ा सार्वजनिक थी किन्तु संस्कृत साहित्य में इसका सम्बन्ध प्रायः राजकुमारियों और वेश्याओं के साथ ही प्रदर्शित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मुग्धा एवं उन्मत्त बालाओं के बिखरे हुए अलङ्कार, अस्तव्यस्त आभूषणों, उमरे हुए ईषाद्विकृत अंगों आदि से सम्बन्धित विशिष्ट गीन्दयों का वर्णन करने के लिए ही संस्कृत कवियों ने इस सार्वजनिक क्रीड़ा को केवल दुकुमार अवतारों तक सीमित कर दिया है। और इस दृश्ययोजना का सर्वत्र ही उद्देश्य रहा है नायक की नायिका की ओर आकृषित करना। स्वप्नवासवदत्ता नाटक में राजा उदयन की भावी पत्नी पद्मावली कन्दुक क्रीड़ा करती हुई दिखाई देती है।<sup>५</sup> रघुवंश में लुम्बिनी की गंद खिलते समय ही आकाश में गिरता हुआ कुश का जन्मरोग भिटा था जिनके साथ-साथ नागराज लुम्बिनी में लुम्बिनी की पत्नीरूप में कुश की भेंट कर दी थी।<sup>६</sup> दशकुमार चरित में सुहृन् देश की राजकुमारी स्वप्न में ध्वी का अद्विष्ट प्राप्त कर प्रत्येक प्रत्येक मास के तीनों दिन मन्दिर में कन्दुकनृत्य करती है।<sup>७</sup> राजकुमारी के उस नृत्य की

१- दशकुमार०, २। २, ८

२- मानसालास, ५। १३। ७०१-८०

३- याज्ञ० स्म०, स १६६-२००

४- मनु० ६। २२-२४

५- स्वप्नवासवदत्तम्, स ३८

६- रघु०, १६। ८३-८५

७- दशकुमार०, १। ४। १२

वहाँ 'कन्दुकीत्सव' कहा है। सम्भवतः देवी के मन्दिर में यह 'कन्दुकीत्सव' मनीषुल्ल पति-प्राप्ति की कामना के कुमारियों द्वारा किया जाता होगा। कादम्बरी में अन्तःपुर की बालिकाओं द्वारा खिली जान वाली कन्दुक और पंचालिका क्रीड़ाओं का उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि यह खेल बालिकाओं की बहुत प्रिय था।<sup>२</sup> पद्मप्राभृतकमाण्ड इस क्रीड़ा के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्रस्तुत करता है, यथा-- इस खेल में पण लगाने की भी प्रथा थी, खेल रौंगोल पर समाप्त होता था।<sup>३</sup> वहीं आवर्तन, उत्पतन, ज्यसर्पणा, प्रधावन, परिवर्तन, निर्वर्तन, उद्वर्तन आदि इस क्रीड़ा के पारिभाषिक शब्दों के साथ-साथ परिवारिकाओं द्वारा गेंद के उछालन, गिराने का भी उल्लेख हुआ है।

### गजमतिकुसुमकन्दुक विहार-

शृंगारसर्वस्वभाण्ड में इस क्रीड़ा का उल्लेख हुआ है।<sup>४</sup> युवक-युवतियों को दो टीलियों के बीच यह खेल गेंद द्वारा खेला जाता था। एक टीली की ओर से पोंकी गई गेंद जब दूसरी टीली के किसी भी सदस्य को लग जाती तो वह पूरी टीली पराजित समझी जाती थी। तब पराजित<sup>टीली</sup> के प्रत्येक खिलाड़ी को विजिता टीली के प्रत्येक सदस्य को अपने ऊपर हाथों की मूर्ति सवारी देनी पड़ती थी। आज भी पश्चिमी उत्तर प्रदेश गाँवों के लड़कों में यह खेल 'खन-खन मलूका' के नाम से प्रचलित है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ सवारी केवल वही देता है जिसके गेंद लगती है और इस सवारी का आनन्द भी केवल वही लेता है जिसकी गेंद विजयी रही हो, सवारी का नाम भी हाथी नहीं, थोड़ा है।

### युग्मायुग्मदर्शन -

इस क्रीड़ा का भी उल्लेख शृंगारसर्वस्वभाण्ड<sup>५</sup> में प्राप्त होता है। मीतियों से मरी हुई सुठी प्रतिधन्दी को दिखाकर यह पूछा जाता था कि इसमें मीती युग्म है या अयुग्म। वात्स्यायन ने कामसूत्र में इसी प्रकार के मुष्टि दूत नामक खेल की चर्चा की है। ब्रज में यह खेल आज भी लड़कियों में प्रचलित है। वहाँ मीतियों के स्थान पर टूटी हुई

१- कादम्बरी, पृ० सं० २ (२) मालविका०, अंक चतुर्थ।

३- 'रक्षा पूर्ण' शतमिति व्यवस्थिता- पद्मप्राभृतक० पृ० ४४।

५- शृ० सं०, पृ० सं० (५) वहीं, पृ० २४

६- कामसूत्र १।३।६ पर ज्यमंगला।

बुड़ियाँ के टुकड़े काम में लाये जाते हैं। दीपावली के अवसर वच्च कौड़ी अथवा बतारों के द्वारा मुष्टिधृत खेलते हैं जिसे बज में नक्क-मुक्क कहा जाता है।

मणिगुप्तकविहार-

इसका उल्लेख भी शृंगारसर्वस्वभाष्य में ही मिलता है।<sup>१</sup> बालू के अनेक ढेर बनाकर किसी एक ढेर में मणि छिपा दी जाती थी। फिर कौड़ी स्त्री या पुरुष अथवा बन्द कर मणि ढूँढता था, प्रथम प्रयास में ही मणि मिल जाने पर खीखीन वा ले की जीत अन्यथाहार मानी जाती थी। इस भाष्य से ज्ञात होता है कि सामान्यता पुरुषा हारने पर स्त्री की कुछ धन पैसा या कुछ समय तक उसकी सेवा कर मुक्त हो जाता था किन्तु विजिता स्त्री की विजिता पुरुषा की शरण जाकर कुछ समय तक रहना पड़ता था। लेकिन यह वर्णन केवल गणिका-प्रसंग में ही उचित प्रतीत होता है, सामान्य जनता में इस प्रकारकी शर्तों का होना सम्भव नहीं है। वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित गीष्मपुष्पिका<sup>२</sup> नामक क्रीडा इसी का रूपान्तर है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँवों में आज भी लड़कियाँ बालू अथवा गोबर की छोटी-छोटी भेरियों में बूड़ी अथवा कंकड़ी का टुकड़ा छिपाकर यह खेल खेलती हैं जिसे वहाँ घरुआपाती<sup>३</sup> कहते हैं।

### दोलविहार

प्राचीन भारत में दोलविहार मनोरंजन का बहुत लोकप्रिय साधन था। संस्कृत साहित्य में इस सार्वजनिकक्रीडा के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं किन्तु वहाँ ये प्रसंग प्रायः प्रेमी-युगल के काम विलासों के पीषक के रूप में ही वर्णित हुए हैं वैसे-तो दोलविहार द्वारा स्त्री पुरुषा सभी मनोरंजन करते थे किन्तु विशेषरूप से यह स्त्रियों के ही मनोरंजन का साधन थी। मालविकाग्निमित्र से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ मूला -----

मूलन की बड़ी शौकीन हुआ करती थीं । महादेवी धारिणी की मूला से गिर जाने के कारण चोट लगी थी ।<sup>१</sup> कथुरमंजरी में दीलाविहार का बड़ा ही सरस वर्णन हुआ है ।<sup>२</sup> श्रीमेश्वर के अनुसार वसन्तकृत में ही दीलाविहार किया जाता था ।<sup>३</sup> विलहण में भी दीलाविहार को वसन्तकृत का विलास माना है । किन्तु आजकल वर्षाकृत विशेषकर श्रावण के महीने में मूला मूलन की प्रथा है । स्त्रियाँ मधुर गीत गाती हुई शनैः शनैः मूले का आनन्द लेती हैं, ती पुरुष लम्बी-लम्बी 'मचक' बढाकर अपने मन की ह्लास मिलाते हैं ।

बच्चों के खेल-

वात्स्यायन ने मुष्टिघृत ( बच्चों हुई मुट्ठी में छिपाई गई वस्तु का नाम और संख्या प्रश्ना ), मध्यमांगलिग्रहण ( एक हाथ की पाँचों अँगुलियों की मुकुलाकार खनाकर दूसरे हाथ की मुट्ठी से बाँधकर बीच की अँगुलि पकड़वाना ), षड्पाणपाक ( छ. गीटों की आकाश में उछालकर उल्टे हाथ पर रोकना ), सुनिमीलितिका ( आँखें मिचौनी ), आरव्विका ( चुटकी बजाते ही इधर-उधर दौड़ते हुए एक दूसरे की छूना ), अनिलताड़ितिका ( दोनों बाँह पंखों की तरह फैला कर चक्कर काटना ), महानसिक ( खेल-खेल में रसोई पकाना ), मिट्टी, लकड़ी अथवा बाँस की पाँचियों से घर बनाना<sup>४</sup> आदि बाल क्रीडाओं का उल्लेख किया है । आज भी ये खेल बच्चों में बहुत ही लोकप्रिय हैं । इन खेलों का सम्बन्ध न किसी तिथि-त्यौहार से है और न किसी प्रान्त विशेष से । ये खेल बच्चों में सभी जाह देखे जा सकते हैं । बच्चों के अन्य कुछ खेलों का परिचय प्रस्तुत है -

गुलिका क्रीडा-

कथासरित्सागर में इस क्रीडा का उल्लेख हुआ है । यह सम्भवतः बच्चों द्वारा खेली जाने वाला 'गोली' का खेल था । कथासरित्सागर हिण्यदा की गोली एक तपस्विनी की लग जाती है ।<sup>५</sup>

१- मालविका०,

(२) कथुरमंजरी, १। २१

३- कथुरमंजरी परिप्राप्ति वसन्तति मनीहरी ।

आन्दोलन प्रकुर्वति पृथुसम्बद्धान्विताम् ॥ मानसी० ५। ३। १७५

४- विक्रमांगदेवचरितम्। सर्ग षष्ठ । (५) कामसूत्र, ३। ३। ५-१४

६- कथासरि०, १०। ६। २१७२

### चक्रपीठक-

केवल पद्मप्रामृतक भाग में इसका उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> डा० वासुदेव शर्मा अग्रवाल के अनुसार यह चकड़ा या चकमारी का खेल है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के गाँवों में आज भी लड़के मिट्टी अथवा लकड़ी की चकई बनाकर ढीरे में उसे घुमाते हुए चकई के चक-चम, ढाढ़ी वाले मुकधम ( मुकदम ) कहते हुए यह खेल खेलते हैं।

### नृपक्रीडा-

समान वयवालि बच्चे इकट्ठे होकर किसी एक को राजा बना कर अन्य सभी उसी के विभिन्न कर्मचारी बनकर यह खेल खेलते थे। कथासरित्सागर<sup>२</sup> में पाटलिपुत्र का राजकुमार विक्रमशक्ति अपने कुछ मित्रों के साथ गंगातट पर खेलने जाता है जहाँ उसके अनुयायी उसे राजा बनाते हैं। किन्तु उन्हीं में से कुछ श्रीदत्त नामक ब्राह्मणकुमार को राजा बनाकर अलग से यह खेल खेलते हैं। अवदानकल्पलता में भी कविकुमार नाम राजकुमार कामपित्य के राजमार्ग पर बालकों के साथ 'राजकैलि' करता है।<sup>३</sup>

### पंचालिका क्रीडा-

यह लड़कियों द्वारा खेल जाने वाला 'गुई-गुडियाँ' का खेल था। कादम्बरी में राजा तारामिह के अन्तःपुर के वर्णन के प्रसंग में अन्तःपुर की बालिकाओं के इस खेल की चर्चा हुई है। कथासरित्सागर<sup>४</sup> के अनुसार मयदानव की क्रांटी बटी प्रमा लकड़ी की बनी मायायन्त्रपुत्रालिका से खेलती थी उसी ग्रन्थ में एक स्थान पर यह उल्लेख आया है कि वर्धमान की राजकुमारी कनकरीखा 'कृत्रिमपुत्रक' नामक खेल खेला करती थी।<sup>५</sup> मन्दाकिनी की बालू में गौरी गुडियों की माँ बनकर खेलती थी।

१- पद्मप्रामृतक, पृ० ६

२- कथासरि०, पृ० २७

३- अवदानकल्पलता, ६६। १८

४- कथासरि० पृ० १२८

५- कुमारसम्भव, पृ० १२६

६- वही, पृ० ६५

अथिशास्त्र में 'पांचालानुयान' ( गुड़ियों का विवाह ) क्रीडा का उल्लेख हुआ है । पाद  
ताडितक भाषा ( पृ० २१० ) में भी वेशकन्याओं के क्रीडनरूकों में इसका उल्लेख हुआ है ।  
वल्लीवृद्धाविवाह -

यह खेल भी गुड़-गुड़ियों के विवाह के समान लड़कियों में प्रचलित था ।  
कण्वाश्रम में रहते समय शकुन्तला ने वनज्यात्सना नाम की लता का विवाह सहकार  
वृद्धा के साथ किया था । <sup>२</sup> कादम्बरी भी अपने शरीरत्याग से पूर्व मदलखा की माध-  
वीलता का विवाह अँगन में वर्धमान सहकारवृद्धा के साथ कर देने का निर्देश देती है ।<sup>३</sup>

अम्बरकरण्डक-

लाख के बीन हुए करण्डक ( पाँच ) की आकाश में उड़ाल कर बीच में ही  
गुपक कर यह खेल लड़कियाँ खेलती थीं । <sup>४</sup> वात्स्यायन द्वारा उल्लिखित षट्पाषाणक  
क्रीडा भी इसी के समान थी । पश्चिमी उत्तर प्रदेश और ब्रज के गाँवों में आज भी  
पत्थर की क्रीटी-क्रीटी गाटों से लड़कियाँ यह खेल खेलती हैं । मध्यप्रदेश में इसे पाँच  
का खेल कहते हैं ।

चक्रुरपिधान

यह खेल भी लड़कियों में प्रचलित था । <sup>५</sup> एक लड़की की आँखें बन्दकर उसकी  
अन्य संहलियाँ घूम जाती थीं । वात्स्यायन ने इसी की 'सुनियोलितिका' कहा है ।  
सूक्तिमुक्तावली में इसी निमील क्रीडा <sup>६</sup> और शार्ङ्गधर पद्धति में <sup>७</sup> कूमीलनकिल कहा  
गया है ।

क्रीडनक वच्चों के मनोरंजन के लिए अनेक प्रकार के खिलौनों का भी प्रयोग होता था ।  
खिलौने प्रायः मिट्टी के पके हुए <sup>८</sup> और रंग-विरंग <sup>९</sup> बनाये जाते थे । मृच्छकटिक में  
चारुदत्त का पुत्र मिट्टी की गाड़ी से खेलता है । कुमार रिद्धयि की खेलने के लिए

१- अर्थ० १।४।४२

२- अभिज्ञान शाकु०, प्रथमांक

३- कादम्बरी, पृ० ६५

४- झुंझूँ, पृ० १७ (५) वहीं, पृ० १६

६- सूक्तिमुक्तावली, १६।१०

७- शार्ङ्गधरपद्धति, ३६४२

८- सद्धर्मसुण्डरीक, ५४।१५

९- वहीं, ५५।१५



अश्व और बड़े जुते हुए स्वस्थ, सौन के कूटे कूटे हाथों और अनेक बहुरंगी  
 पुतरियों दी गई थीं ।<sup>१</sup> कर्तन की आवश्यकता नहीं कि सामान्य लोगों के बच्चों के  
 के ये खिलौने मिट्टी और लकड़ी के ही होते होंगे । बौद्धग्रन्थ दिव्यावदान में अकायिक  
 ( केवल शिरवाल खिलौने ), सकायिका ( सम्पूर्ण अंगों वाली मूर्तियाँ ), वित्कीटिका  
 ( स्त्री खिलौना, सम्भवतः गुड़िया ), स्पष्टारिका ( सीता की रसोई )<sup>२</sup> क्रीडनकी  
 उल्लेख हुआ है । अभिज्ञान शाकुन्तल में तापसी सिंहशावक से लेकर हुए भारत की  
 'वर्णचित्रित मृत्तिकामयूर' देती है ।<sup>३</sup>

खेल-तमाश-

नर्तकों के खेल-

रससदनभाषा में मदकाली की केलियाँ महीत्सव के अवसर पर नर्तकों द्वारा  
 प्रदर्शित विभिन्न खेलों का उल्लेख हुआ है, यथा-दो बँसों पर बँधी हुई रस्सी पर  
 खड़ाऊँ पहन कर नृत्य दिखाना, रस्सी के मध्यभाग में रखी हुई पटली पर खड़े होकर  
 उसे हिलाना<sup>४</sup> किसी पुरुष के पेट पर रखे हुए नागवल्ली के पत्तों की तेज धारवाली  
 तलवार से इस प्रकार काटना कि पेट पर खरींच भी न आने पाये आदि । नटस्त्रियाँ<sup>५</sup>  
 एक लम्बे बँस को धूमि में गाढ़कर उसके ऊपर चढ़कर भ्रमण आदि खेल दिखाती थीं ।<sup>६</sup>  
 श्री हर्ष का कहना है कि नर्तकियाँ पहले ती धूमि पर नाच दिखाती थी फिर बँस  
 पर चढ़कर नृत्य प्रदर्शन करती थीं ।<sup>७</sup> सुबुन्धु में वासवदत्ता में इन्द्रधनुष की तुलना उस  
 दौरी से की है जिसपर चढ़कर मातङ्गकन्या नृत्य प्रदर्शन करती है ।<sup>८</sup> ऐसे अवसरों पर  
 भैरवीकनाट्य का भी अभिनय करते जाते थे । इस सदन भाषा में नट दारिकावधनामक  
 किसी भैरवी लोकाट्य का अभिनय भी करता है । नर्तकों के ये खेल प्रायः विभिन्न अवसरों  
 और मैदानों में हुआ करते थे । यदा-कदा राजदरबारों में भी इन खेलों का आयोजन

१- बुद्धचरित, स २१-२२

२- दिव्यावदान, ३१०।१०

५- वहीं, श्लोक २१०

७- निषधीय०, १२।१६

३- अभिज्ञान० सप्तमं ।

४- रससदनभाषा, श्लोक २०१-२ ।

६- वहीं, श्लोक २१२

८- वासवदत्ता, पृ० ३४४

किया जाता था। ये नट नाटकों का अभिनय करने वाले न नाकर कलावाजी करने वाले नट होते थे।

### स्वांग-

विविध लीकनादर्या के द्वारा भी उग मनीरंजन किया करते थे। इन लीक नादर्या के अभिनेता 'डिण्डिक' कहलाते थे। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में बाये 'डिण्डिक' शब्द का अर्थ कपिलदेव गिरि में विष्णु वेश-भाषणादि द्वारा जनता का मनीरंजन करने वाला किया है।

### जादूगर का खेल -

ऐन्द्रजालिक धूम-धूम कर भेल-तमाशों और राजदरबारों में जादू के करिश्में दिखाते थे। रत्नावली में ऐन्द्रजालिक पद्मासन पर विराजमान ब्राह्म वन्द्य शैखरशिव, शेष क्र-गदा-मधुधारी विष्णु, एरावत पर सवार इन्द्र और नृत्य करती हुई देवमि-नाओं का प्रदर्शन करता है। यही नहीं, वह अन्तःपुर में कृत्रिम आग लगाने का प्रम भी उत्पन्न करता है। दशकुमारचरित में विधेश्वर नामक ऐन्द्रजालिक राजाह्न के साथ अवन्तिमुन्दरी का विवाह भी करा देता है। अंग विजय में जादूगर द्वारा हाथ में मिट्टी लेकर बीज उगाने, मरुम की टुटकी से रौती बनाने और बिना बादलों के वर्षा कराने का उल्लेख हुआ है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ऐन्द्रजालिक दो प्रकार के होते थे - प्रथम, वे जो केवल द्रव्यगुण का आश्रय लेकर अपनी इस कला का प्रदर्शन करते थे। कौटिल्य ने इसका नाम 'जम्भक विद्या' दिया है और ऐसे अनेक तुल्य भी प्रस्तुत किए हैं जिनका प्रयोग कर अनेक आश्चर्यजनक कर्म दिखाए जा सकते हैं। दूसरे प्रकार के वे ऐन्द्रजालिक थे जो ये सम्भवतः वाममागी साधना में विश्वास रखते थे। कर्पूरमंजरी का नाग कीलमत्तानुयायी है। बाणभट्ट ने कादम्बरी में चन्द्रपीठ द्वारा शिवमन्दिर के दर्शन के प्रसंग में --

१- 'डिण्डिको नाम यो विक्त्वं षमाणाणादिना जस्य हास्यं क्तार भिषागमयेति स उच्यते' - कपिलदेवगिरिकृत टीका, पृ० ६२

२- रत्नावली, ४१७४

(३) वही, ४१७५

(४) दशकुमार० १५

(५) अंगविजय, पृ० ५३-५८ (६) अर्थशास्त्र,

इन्द्रजालिक, उनके द्वारा दृष्टिदन्त और माली इन्द्रजालिकिका का भी उल्लेख किया है। वहीं चण्डिकामन्दिर के द्रविड़ पुजारी के पास 'गालपत्रकुल्लतन्त्रमन्त्र पुरितका' भी थी। इन्द्रजाल है सम्बन्धित तन्त्रसाहित्य आज भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है।

### सर्पदर्शन -

जन्तुमानस्य के विनोद के लिए सर्पों का खेल भी प्रचलित था। जाह्नवुण्डिक (संपरा) के लम्बे-लम्बे बाल भस्मचकुरित मुख के दर्पणों और लटके रस्ते थे तथा कानों में बन्धुजीव का पुष्पधारण करता था। वह पिटारी से सर्प निकालकर उनकी जाति और गुणों का वर्णन कर उपस्थित जनसमूह का मनोरंजन करता था। जब खेल दिखाने के लिये सर्पों को पिटारी से बाहर निकाला जाता तो वे एकदम क्रुद्ध होकर अपना फाँस पीलाकर ऊँचा कर उठते थे। जन्तुविज्ञ के अनुसार संपरा एक पैर में वर्जन वाला लोह का कड़ा, गले में हड्डियों की माला, कलाई में ताम्र, मुकुटस्थि में कीड़ियों की माला तथा सिर पर मोर और कीजा के पंखों का आभूषण धारण करता था। मुद्राराक्षस नाटक में राक्षस का गुप्तचर सर्पों का खेल दिखाकर शत्रु का भेद जानने का प्रयास करता है।

### पशु-पक्षियों की लड़ाई-

पालतू पशु-पक्षियों की लड़ाई भी जन्तुमानस्य के मनोविनोद का साधन थी। भारत वर्ष में पक्षि-मालन अति प्राचीनकाल से ही मनोविनोद का साधन रहा है। महाभारतकार का कथन है कि मनुष्य या तो खान के लिए पक्षियों की कामना करता है या फिर मनोविनोद के लिए। वात्स्यायन ने यौजनादि के उपरान्त कुक्कुट, लावक, तिचिर, भेषा, महिषा, आदि के युद्धदर्शन द्वारा मनोरंजन का उपाय दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन काल में इस प्रकार के खेल जहाँ एक और राजदरबारों की सीमा थे, वहीं भेड़-तमाशों में साधारण जनता भी इनका आनन्द उठाती थी।

१- शृंगारल्लिक, ४५

२- प्रतिज्ञायौगन्धरायण, ४।१३ (३) अर्कवि०, ८४-८६

४- मुद्राराक्षस,

५- यदार्थ क्रीडनायै वा नरा वांक्षन्ति पक्षिणाम् -

महाभारत, शांख्य १३६।६०

६- कामसूत्र,

आज भी भैरव आदि के अवसर पर इस दंगल दीपहर बाद ही आयोजित किए जाते हैं। हर्षचरित में हस्तियुद्ध क्रीडा,<sup>१</sup> शृंगारभूषण<sup>२</sup> और अवंगविजय<sup>३</sup> में भैरवयुद्ध तथा दशकुमारचरित में कुक्कुट युद्ध के साहित्यिक उल्लेख मिलते हैं।

### मूर्ति कला-

जन्सामान्य के बीच यह कला मृण्मूर्तिकला के रूप में जेवित थी। विविध मार्गलिक अवसरों पर देवी देवताओं की मूर्तियाँ और गूजरियाँ तथा वच्चों के खिलौने बनाये जाने के अनेक उल्लेख संस्कृत साहित्य में उल्लिखित हैं। बाण भट्ट के अनुसार राज्यश्री के विवाह के अवसर पर कोह्लर में इन्द्राणी की मूर्ति स्थापित की गई थी। खिलौने बनाने वाली में मछली, कछुआ, अगर, नारियल, कला, सुपारी के वृक्षा आदि तरह-तरह के खिलौने बनाए थे।<sup>५</sup> मृण्मूर्ति बनाने की यह कला भारत में अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है। वच्चों के खिलौने का उल्लेख 'क्रीडनक' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवरण से निष्कर्ष यह निकलता है कि संस्कृत साहित्य जहाँ एक ओर सामन्ती कला-विलासों के भरपूर चित्रण है वहीं लौकिक कला सम्बन्धी सामग्री भी उपलब्ध हो जाती है। हाँ, यह सामग्री प्रायः गद्यकाव्यों में ही उपलब्ध है।

१- हर्ष च०, २।६३

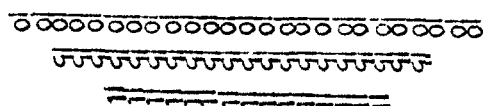
२- शृ० भू० १६

३- अंग० १०।६६-६७

४- दशकु० पौ०, पृ० ३६४-६६

५- लेख्यकार कदम्बक्रियमाणामृण्मयमीन कूर्मकर चरित्रकार कदली पूग वृक्षाकम् ।

हर्षो उच्छ्वास, ४



: - प रि च क्ख द : -  
○○○○○○○○○○○○○○○○

संस्कृत में लोक भाषाओं के शब्द एवं लोक निरुक्ति

:: संस्कृत का आदि स्रोत वैदिक भाषा -

:: संस्कृत के समान्तर देशी भाषाएँ

प्राकृत भाषाएँ, प्राकृत भाषाओं से गृहीत शब्द

:: विदेशी भाषाएँ और उनमें संस्कृत में गृहीत शब्द

:: लोक निरुक्ति

## संस्कृत में लोक भाषाओं के शब्द एवं लोकनिरूपिता

### संस्कृत का आदि स्रोत वैदिक भाषा -

संस्कृत शब्द का भाषा के अर्थ में प्राचीनतम प्रयोग रामायण में उपलब्ध होता है। वहाँ इसे द्विजातियों के प्रयोग में आने वाली भाषा कहा गया है।<sup>१</sup> उससे पूर्व अभी उच्चकीर्ति का साहित्य जिस भाषा में लिखा जाता था, उसे आज वैदिक भाषा के नाम से जाना जाता है। यह भाषा तत्कालीन पुरोहित वर्ग की भाषा थी जो निश्चय ही सामान्य बोलचाल की भाषा से भिन्न रही होगी।<sup>२</sup> अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से पृथिवी पर विभिन्न भाषाओं और विभिन्न धार्मिक व्यवहारों के होने का उल्लेख है।<sup>३</sup> ये विभिन्न भाषाएँ कौन-कौन सी थीं ? वैदिक भाषा का सम्बन्ध आर्यों से जोड़ा जाता है। नृत्त्वविज्ञान की दृष्टि से आर्य इण्डो-यूरोपीय वर्ग की जाति के हैं। इण्डो-यूरोपीय भाषा-परिवार में वैदिक, प्राचीन फारसी, संस्कृत, ग्रीक, गांधिक, प्राचीन जर्मन, लैटिन, स्लाव, बाल्टिक, लिथुआनियन, आदि भाषाएँ आती हैं। भाषाविज्ञान के पण्डितों में इन भाषाओं का सामूहिक नाम विरोस (WYROS) तथा इन भाषाओं को जोड़ने वाली के पूर्वजों को विरोस की संज्ञा दी है।<sup>४</sup> विरोस के वंशज अपने मूल स्थान से, जिसके सम्बन्ध में अभी तक विद्वान् एकमत नहीं हो सके, योरोप तथा एशिया के विभिन्न भागों में फैल गए। वैदिक काङ्गमय की रचना के समय तक भारतीय आर्य

---

१- रामायण, सुन्दरकाण्ड, ३०। १७-१८

२- कृष्ण चैतन्य, संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास (हिन्दी), पृ० २८

३- अथर्व० १२। १। ४५

४- मैरीला, वाक्स्पति, संस्कृत साहित्य का संपादित इतिहास, पृ० १८

ईरानी, दास, <sup>१</sup> दसु, <sup>२</sup> निषाद, <sup>३</sup> किरात, <sup>४</sup> पुण्ड, <sup>५</sup> पुलिन्द, <sup>६</sup> अन्न, <sup>७</sup> शबर, <sup>८</sup>  
<sup>९</sup> मुत्ति, <sup>१०</sup> वंग, <sup>११</sup> मगध आदि देशों और जातियों के सम्पर्क में आ चुके थे।

अतः वैदिक भाषाओं में इन भाषाओं से अनेक शब्दों का संक्रमण होना स्वाभाविक था। अत्क (वरत्र), अमृ (काय), अमै (बल), अन्त (घोड़ा), अवट (भारना), तितउ (चलनी), ईमै (टाँग का आगे का हिस्सा), दम (घर), नक (रात), वीघ्र (बधिया), रूप (कुँआ), आदि वैदिक शब्दों की टी०बरी में संस्कृत की प्रकृति से विरुद्ध प्रकृति वाले यीरोपीय भाषा परिवार से सम्बन्धित माना है। <sup>१२</sup> भारतीय भाषा परिवार की प्रकृति के प्रतिकूल भी अनेकों शब्द वैदिक भाषा में प्राप्त होते हैं जिनका मूल अधिकतर भाषाओं में ढूँढा जा सकता है, यथा उल्लल (तमिल-उलक्क), खल (तमिल-कल), पुण्ड (कन्नड़-कीण्ड), दण्ड (तमिल-तष्टु, कन्नड़-दण्ड, दण्ट), बल (तेलुगु-वालै, तमिल-बलम्), बिल (तमिल-बिलु, बिल), मयूर (तमिल-मयिल)। इनके अतिरिक्त अणु (कण), अरणि, अटवी, कम्बल, कपि, ऊँर (जीहार), क्षिब, कुट (काँपड़ी), कुलाल, नीहार (मिघ), शव आदि शब्दों की भी द्रविड़ भाषा परिवार से सम्बन्धित माना गया है। <sup>१३</sup>

संस्कृत का वैदिक भाषा और साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उसके अनेकों शब्द ज्यों की -त्योँ अथवा ध्वनिपरिवर्तन, अर्थपरिवर्तन और रूपविविधसंकीर्ण के साथ संस्कृत में अपना लिए गए हैं।

१- कृ० रा २०।८, श १०३।३

२- वहीँ, श ३४।७, श ५१।८ आदि

३- तै०सं० ४।५।४२, ऐ०ब्रा० ८।१८

४- प०ब्रा०, १३।१२।५ (५) ए ब्रा० ७।१८

६- वहीँ, ७।१८

७- वहीँ, ७।१८ (८) वहीँ।

८- वहीँ।

१०- अथर्वपरिशिष्ट, श ७।७ (११) ऐ०ब्रा० रा १

१२- टी०बरी, संस्कृत भाषा (हिन्दी अनु०, डा० भीरु शंकर व्यास), पृ० ४७-४८

१३- अटवी, सुनीति कुमार; वी० जी० जिन एण्ड क्लर्क एन्ट प्रो० दी बंगाली लैंग्वेज,

जि० १, भूमिका पृ० ४२

वैदिक भाषा का युग समाप्त होत- हीन भाषा बनना प्राचीन रूप छोड़ चुकी थी । उसमें वैदिक भाषा की अनेक विशिष्टताओं का लोप और नवीन प्रवृत्तियों का उदय हो चला था । संस्कृत के इस संक्रमण काल में प्राचीन शब्दों का लोप अन्य स्रोतों से नये शब्दों का ग्रहण, अर्थ-परिवर्तन और संश्लेष शब्दों का संस्कृतीकरण विशाल पैमाने पर हुआ । गार्क और पाणिनि<sup>२</sup> ने भाषा की पूर्वी और उत्तरी विशेषताओं का वर्णन किया है ।

ईसा पूर्व ५ वीं शताब्दी से ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी तक का समय भारतवर्ष में विभिन्न राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रान्तियों का युग रहा है । इस अवधि में जैन, शक, ब्रह्म, पश्चिम आदि जातियों इस देश में आई और बौद्ध, जैन आदि धर्मों का उदय एवं प्रचार भी हुआ । फलतः संस्कृत में विदेशी भाषाओं के अनेक शब्दों का समागम हो गया ।

ईस्वी पूर्व पाँचवीं शताब्दी तक संस्कृत पूर्ण विकसित अवस्था में आ चुकी थी । १५० ई० पू० के लगभग पतञ्जलि ने उसे शिष्ट भाषा कहा और शिष्टों की परिभाषा "आयवर्त में वे ब्राह्मण जो एक वर्ष के लिए अन्न की व्यवस्था करते हैं, लालची नहीं हैं, निर्लिप्त हैं, जो शास्त्रज्ञ हैं, वे ही आदरणीय हैं, शिष्ट हैं" के रूप में प्रस्तुत की । इस समय तक संस्कृत का सम्बन्ध लोक से टूट चुका था ।

भाषा लोक की सम्पत्ति है । व्याकरण तो उसके लिए कारागृह है । शास्त्रीयचित्तन्य का वह व्यक्ति की तो "लोक" से पृथक् करता ही है, भाषा की भी उससे दूर करने का प्रयास करता है । इस प्रयास में वह काफी हद तक सफल भी होता है, किन्तु रहना तो उसे लोक ही में है । अतः शास्त्रीयचित्तन्य से लोकमानस दबती जाता है, मरता नहीं । अनुकूल वातावरण

१- शब्दार्थानुसंगिकमा कम्बोजेष्वेव भाष्यन्ते ----- दातिलवनाथे प्राचीणु दात्रमुदी-व्यङ्ग्य  
 , - निरुक्त २१

२- उदक्च विपाशः ४। २७४, २६० प्राचाम् देशे १। १७५

३- महाभाष्य, ६। ३। १०६



भारत द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त भाषा - विभाषाएँ सही अर्थों में प्राकृत भाषाएँ हैं। यह सभी तत्कालीन देश भाषाएँ थीं। मद्यपि प्राकृत व्याकरणों में संस्कृत की प्राकृत की प्रकृति माना है,<sup>१</sup> किन्तु वास्तविकता यह है कि वह प्रकृति ( जनता ) की भाषा होने के कारण 'प्राकृत' है।<sup>२</sup> आचार्य अभिनव गुप्त के मत में प्राकृत अव्युत्पन्न ( अनमृ ) जनभाषा है। इस सम्बन्ध में नमिसाधु का विवेचन बहुत ही तर्क पूर्ण है। उन्होंने प्राकृत शब्द के दो अर्थ किए हैं। प्रथम, संसार के प्राणियों का व्याकरणादि संस्कार से शुन्य जी सहज वचन व्यापार है, उसी का नाम प्रकृति है। उसी से उत्पन्न अर्थात् वही प्राकृत है। द्वितीय, प्राक् + कृतम् - प्राचीनकाल में कृत भाषा जी बालक तथा महिला आदि संस्कार विहीन व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है और जी संस्कृत आदि सभी भाषाओं की जननी है।<sup>४</sup>

जनभाषा होने के कारण देश, काल, जाति आदि,

१- प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं प्राकृतमुच्यते । प्राकृतसर्वस्व, १।१

प्रकृतिरागतं प्राकृतम् । प्रकृतिः संस्कृतम् । दशरत्न २।६० पर धनिक

प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं तत आगतं प्राकृतम् । ह्यमचन्द्र, १।१

२- प्रकृतिः जनता तत आगतम् प्राकृतम् । - डा० परमानन्द शास्त्री,  
संस्कृत गीतिकाव्य का विकास, पृ० १२६

३- अव्युत्पादित प्रकृतेस्तज्जनप्रयोज्यत्वात् प्राकृतमिति कौचित् । अभिनव-  
भारती, १७ । २६-२७

४- सकलजाज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सहजी वचन -

व्यापारः प्रकृतिः । तत्र भवं सैव प्राकृतम् । --- प्राक् पूर्वं कृतं प्राकृतं बाल-  
महिलादिषु बीधं सकलभाषानिवन्ध भूतं वचनमुच्यते । भेदनिर्मुक्त-कलमिवैकस्वरूपं  
तदेव देशाविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तर  
विभेदानाप्नोति । राष्ट्रः काव्यालंकार २।१२ पर नमिसाधु ।



मिलती ही या स्पष्ट शब्दों में यों कहिए कि शास्त्रमण्डितों का साधारण लोक से काम पड़ता ही, शास्त्रीय चेतन्य का संकीर्ण और लीकमानस का उदय ही जाता है। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप साहित्यिक भाषा में भी लोक भाषाओं के शब्दों का संक्रमण ही जाता है।

### संस्कृत के समानान्तर देशी भाषाएँ -

संस्कृत युग में प्रचलित संस्कृततर भाषाओं की जानकारी हमें सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से मिलती है। उन्होंने नाट्यप्रवृत्तियों, जिनमें वेष और आचार के साथ-साथ भाषा का भी समावेश है, के विवेचन के अवसर पर समस्त भारत के चार विभाग कर दादिणात्या, अवन्तिका, मागधी और पाञ्चाली प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है जो अप्रत्यक्ष रूप से चार भाषा परिवारों का ही सूचक है। उन्होंने १७ वें अध्याय में भाषा सम्बन्धी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके मत में संस्कृत, प्राकृत, अतिभाषा-आर्यभाषा और जाति भाषा-भाषा के प्रमुख भेद हैं। जिन्हें नाट्य में प्रयोग किया जाता है। उनका यह विवेचन नाट्यशास्त्रीय दृष्टिगोण से अनुप्राणित है। आगे चलकर वे भाषा के सात भेद- मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाल्हीका और दादिणात्या<sup>३</sup> तथा विभाषा के शाबरी, जमीरी, चाण्डाली, मचर, द्रविड, उद्रज, हीना और वनेचर - ये आठ भेद गिनाते हैं।<sup>४</sup>

१- ना०शा०, १४। ३६

२- भाषाचतुर्विधा ज्ञेया दशरूपे प्रयोगतः ।

संस्कृतं प्राकृतं च यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते ॥

अतिभाषा<sup>आर्य</sup>भाषा च जाति<sup>१</sup> तत्र च ।

ना०शा० १७। सं-२७

३- मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।

वाल्हीका दादिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः ॥ वही, १७। ४६

४- शबरामरिचाण्डालसचरद्रविडौद्रजा : ॥

हीनवनेचराणां च विभाषाः -----। वही, १८। सं( काशी संस्करण )

दक्षिण में तमिल भाषा बहुत पुरानी है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह द्रविड़भाषापरिवार की भाषा है। दक्षिणाभिथ में आयेतर अर्थात् द्रविड़ का और हिमालय एवं हिन्दु के मध्यवर्ती उत्तरापथ में आये का निवास था। पुरुषास्त्रीय गाथाओं के अनुसार महर्षि ऋग्वेद विन्ध्य के पार कर सर्वप्रथम दक्षिण गये। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि वहीं उत्तर एवं दक्षिण संस्कृतियों के मध्यप्रथम सन्तु थे। तमिल की प्राचीन परम्परा में एक अनुश्रुति है कि जब ऋषि ऋग्वेद की दक्षिण जाने की आज्ञा हुई तो भगवान् शंकर ने ऋग्वेद की वहाँ की भाषा सिखाने के उद्देश्य से उन्हें अपने बायीं और दाहिने पाणिनि की दाहिने और बायाँ कर डमरा बनाया। उस डमरा की बायीं और दाहिने से तमिल और तमिल और दाहिने और की ध्वनि से संस्कृत का उद्भव हुआ। उन्होंने शब्दों के आधार पर ऋग्वेद में तमिल का प्रथम व्याकरण ऋग्वेद और पाणिनि में संस्कृत व्याकरण की रचना की। इस अनुश्रुति से एक बात स्पष्ट है कि तमिल भी उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि संस्कृत। दक्षिण में और भी अन्य भाषाएँ अवश्य ही रही होंगी जिन्हें हम देशी भाषा कह सकते हैं।-

देशी शब्दों के सम्बन्ध में हम चन्द्र के विचार -

हम चन्द्र ने देशीनाम्माला में देशविशेष में प्रसिद्ध अनादिकाल से चली आ रही बोलचाल की प्राकृतभाषा की 'देशी' कहा है -

देशविसैसपसिद्धी ह मण्णामाणा अणान्तया वृन्ति ।

तम्हा अणाहपाहअपमट्टमासविसैसजी देशी ॥

तस्मादनादिप्रवृत्ता प्राकृतभाषाविशेष एवायं देशीशब्देनीच्यते इति ।<sup>१</sup>

एक अन्य स्थान पर उन्होंने 'देशी' की परिभाषा 'सिद्धाशब्दानुवाद परा हि देशी, साध्याभिराश्च धात्वादिशः' देकर यह स्पष्ट किया है कि प्राकृत देशी नहीं है।<sup>२</sup> वृक्ष, कृत्ता जैसी शब्दों की संस्कृत से व्युत्पन्न मानकर हमचन्द्र ने

१- देशीनाम० १।४

२- वहीं, १।३७ पर स्वीकृतवृत्ति।

उन्हें देशी नहीं माना जबकि अन्य विद्वानों की दृष्टि में वह देशी शब्द है।<sup>३</sup>  
 देशी शब्दों में लोप, आगम, वर्णविकार,<sup>४</sup> उपसर्ग<sup>५</sup> आदि<sup>६</sup> सबका अभाव होता है-  
 यह उनका स्पष्ट मन्तव्य है। साथ ही हम चन्द्र का यह भी मत है कि यदि  
 कोई लोक भाषा का शब्द किसी विशेष प्रदेश में संस्कृत (या साहित्यिक)  
 भाषा में प्रसिद्ध है, तो वह शब्द तद्देशीय कवि और साहित्य के लिए 'देशी'  
 नहीं है। इस आधार पर श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त तमस (तरकारी) शब्द  
 को भी देशी नहीं माना जा सकता। उसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि प्राच्यदेश  
 में काटने के अर्थ में प्रचलित 'दाति' का प्रयोग उदीच्यदेश के लोग जानी कविताओं  
 में करें, तो वह उनके लिए 'देशी' शब्द होगा, प्राच्यों के लिए नहीं। इसी प्रकार  
 उदीच्यों का दात्र शब्द यदि प्राच्यों के लिए 'देशी' होगा न कि उदीच्यों के  
 लिए।<sup>६</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि इस व्यवस्था से हमचन्द्र लोकभाषाओं के अति-  
 प्रसिद्ध शब्दों को भी प्रान्तीय अभिजात साहित्य में स्थान देने के पक्ष में थे।  
 हम चन्द्र का यह सिद्धान्त भाषा के शब्द भण्डार को भरने में अत्यधिक सहायक  
 हुआ।

किन्तु हमारा मत हमचन्द्र की हाँ में हाँ मिलाने के साथ ही, उससे कुछ  
 भिन्न भी है। देशी भाषा से हमारा तात्पर्य देश विशेष में व्यवहृत होने वाली

१- 'तत्संस्कृतमवत्वादस्माभिर्नीकम्' नहीं पर। स्पष्ट है, यहाँ हमचन्द्र की प्राकृत  
 के सम्बन्ध में 'प्रकृतिः संस्कृतम्' की धारणा प्रबल हो उठी है। इसी लिए  
 उन्होंने प्राकृत को 'देशी' नहीं कहा।

२- इदानीं लोपागमवर्णविकारादिना क्रमेण पूर्वसाधितपूर्वदिश्यः शब्दा अवशिष्यन्ति  
 नहीं, पृ० १

३- न हि देशीशब्दानामुपसर्गसम्बन्धो भाति। नहीं, ला० ५

४- समन्धी - घट्टी शब्द का विवेचन करते हुए उन्होंने यह मत प्रकट किया है-समन्धी  
 (शतधनी) शब्दों येषां संस्कृते प्रसिद्धतेषां न देशी।<sup>७</sup> देशी० पृ० ५ पर स्वोपज्ञप्ति।

५- नैषाधी ५० श्लोक ४६

६- दातिलिखनायै- प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु। त- निराक, स १

जनभाषा है। देश शब्द स्थान का वाचक है। वह क़ोटा भी हो सकता है और नज़ा भी। सम्पूर्ण भारतवर्ष एक देश है, उसका एक प्रान्त और प्रान्त का एक ज़िला ही नहीं क़ोटा सा गाँव भी 'देश' कहा जा सकता है। यदि और गहराई से विचार किया जाय तो मुहल्ला और जातीपनास भी 'देशपदवाच्य' हो सकते हैं। इन सभी की भाषाओं में भिन्नता होती है। मत: देशी भाषाएँ भी अनेक प्रकार की होती हैं। हमने अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें दो वर्गों में बाँट लिया है - विदेशी भाषाएँ और प्राकृत भाषाएँ।

विदेशी भाषाएँ और उनसे संस्कृत में गृहीत शब्द-

सर्व प्रथम यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि हमने विदेशी भाषाओं की भी 'देशी' क्यों कहा? जब दो संस्कृतियों का मिलन होता है तो उनमें भाषा एवं विचारों का आदान-प्रदान स्वाभाविक है। इस आदान प्रदान का सर्वाधिक प्रभाव यद्यपि अभिजात वर्ग पर पड़ता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्य जनता उससे अछूती रह जाती है। जब किसी विदेशी वस्तु का प्रचलन सर्वसाधारण के मध्य हो जाता है, तो वह विदेशी नहीं रह जाती। रेल, बटन, कीट, पैन्ट, पैन, डेयरमैन, मेम्बर आदि अँग्रेजी शब्द अब हिन्दुस्तानियों के लिए अँग्रेजी नहीं रह, बिल्कुल 'देशी' शब्द हो गए हैं, देहाती बोलियों से लेकर साहित्यिक हिन्दी तक में प्रयुक्त होने लगे हैं। साहित्य में लोकप्रसिद्ध शब्दों का ही ती प्रयोग किया जाता है। ऐसा न करने पर साहित्य में अप्रयुक्तत्व दोष, माना गया है।

संस्कृत में विदेशी शब्दों की प्रायः तीन रूपों में ग्रहण किया गया है -

(१) अपने शुद्धरूप में----- जैसे 'खलीन'। यह यूनानी भाषा का शब्द है। जिसका जिसका अर्थ 'लगाम' है। संस्कृत में 'वल्गा' शब्द लगान के लिए प्रचलित है। हेमचन्द्र ने अमिदानचिन्तामणि (४। ३०३-३०६) में घोड़ी के दोस अरबी नामों को संस्कृत मानकर उनकी व्युत्पत्ति भी दी है। इस प्रकार की प्रवृत्ति आज भी संस्कृत के आर्यसमाजी विद्वानों में पायी जाती है। उदाहरणार्थ- अलमिरा (अलमारी) अँग्रेजी शब्द की भी संस्कृत शब्द बताकर 'अलम् इरा यस्याम्' यह व्युत्पत्ति की जाती है। कविलीलिम्बराज

में 'पातशाह' फारसी शब्द का भी प्रयोग किया है। -लीलिम्बराजः  
कविपातशाहः। १) सीलजी शताब्दी में किसी संस्कृतज्ञ द्वारा आगरा से कश्मीर  
में स्थित किसी सम्बन्धी की लिखे पत्र में भी इसी प्रकार के शब्दों का प्रयोग  
हुआ है, यद्यपि भाषा का स्वरूप बड़ा ही भ्रष्ट है - अमुकं सलामाबन्दी  
करणीयम् । --- सहीसलामती कांतामाणाहारस्थितम् । --। दीनार भी यूनानी  
भाषा का ही शब्द है।

(२) विदेशी शब्द में स्वार्थिक क प्रत्यय लगाकर - जैसे, पुस्तक पड़वी भाषा  
में 'पुस्त' शब्द का अर्थ खाल है। प्राचीन ईरान में चमड़े पर ही पुस्तकें लिखी  
जाती थीं। २ अतः भारत में जब ईरानियों का आगमन हुआ तो 'पुस्त' में  
क प्रत्यय लगाकर पुस्तक शब्द बना लिया गया। चीनिक, तुर्किक, बाल्टिक  
फारसीक आदि भी ऐसे ही शब्द हैं।

(३) विदेशी शब्दों की संस्कृत रूपान्तर के साथ भी संस्कृत में अपनाया गया है।  
जैसे - दौम। यद्यपि संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से यह शब्द शब्दार्थिक टुट्टा  
धातु से बनता है, किन्तु उसका अर्थ शब्दपरक न होकर रेशमी वस्त्र है। कुमारिल  
ने रुद्ध शब्द मानकर इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार नहीं की। ३ वस्तुतः यह चीन  
में उग्न वाली कुन नामक घास के रेश से तैयार किया गया वस्त्र है। अतः उसी  
से संस्कृत 'दौम' शब्द बना है। स्तबरक और वारबाण (हर्षचरित, १४३) शब्द  
भी पड़वी भाषा के क्रमशः स्तवक (अरबी - इस्तबक) और बरवान शब्दों के  
संस्कृत रूप हैं। बाण ने संस्कृत में औरंगजेद की अलखचण्डकोश और अम्बिकादत्त  
व्यास ने मीहम्मद की महामद कहा है। यूनानी द्रुम से संस्कृत का द्रव्य शब्द बना है।

१- श्री ब्रह्मानन्द शुक्ल अभिनन्दग्रन्थ के तृतीय खण्ड का प्रथम लेख - भारतीयसाम्य -  
तायां संस्कृती च काश्मीरिकाणां सङ्कीर्णः - प्री० आदर जाह्न

२- अग्रवाल, वासुदेवशरण, हर्षचरित एत० १० अं०, पृ० ५२

३- 'रुद्धया चावयवव्युत्पत्तिर्वाच्यते' - जमिनि ६। १। २४ पर टुप्टीका।

मीमांसादर्शन, जि० ४, पृ० १३७४ (आनन्दाश्रम संस्करण)

४- हर्षचरित, उच्छ्वास ७

(५) शिवराज विजय प्रथम निश्वास।

## प्राकृत भाषाओं से गृहीत शब्द-

हम अपना यह अभिमत स्पष्ट कर अब चुके हैं कि अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित विभिन्न प्राकृतों और अपभ्रंशों के अतिरिक्त भी जो संस्कृततरंगि भाषाएँ भारत के विभिन्न भूभागों में प्रचलित थीं, वे सभी प्राकृत हैं, और उन्हें देशी कहने में भी हम जीई संजीव नहीं हैं। इन विभिन्न देशी भाषाओं से संस्कृत में गृहीत कुछ शब्द ये हैं -

भचिकी-<sup>१</sup> ( प्रतिवर्षी व्याप्ति वाली गी )। यह नित्यवत्सा शब्द का प्राकृत रूप है। <sup>२</sup> भचिकी त्वमा गीष्णु, हेमचन्द्र, ४।३३

पिंगा- ( एक प्रकार की ढीली सलवार )। यह पृंगा का प्राकृतरूप है। वीरों के महाव्युत्पत्ति ग्रन्थ में पृगावस्त्र का उल्लेख मिलता है। यह मध्यएशिया में पृंग नाम से जाना जाता था।

दुगूल और दुगूल-( दुपट्टा )। दोनों ही शब्द संस्कृत में प्रचलित हैं। दुगूल शब्द मूलतः <sup>३</sup> पीण्डुशब्द का रूप है। <sup>४</sup> उल्लिखित दुगूल वाण पट्ट में हर्षचरित में इसे स्पष्ट रूप से पीण्डुवसन कहा है। इसी से दुगूल शब्द बना है। 'दुगूल' शब्द की स्वतन्त्र भी माना जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'दु-दुहरा, दूल-वस्त्र' यह व्युत्पत्ति होगी। 'दूल' शब्द किसी देशी भाषा का ही शब्द रहा होगा। इसी दूल से कोलिय, कीली ( कुलाहा ) शब्दों की निष्पत्ति मानी जा सकती है।

घम्मिल्ल ( मुकुन्दा ४४ ), बम्पर ( वही, ५७ ), पेटिका ( वही, पृ० २६ ), मोचार या मोचाट ( वही, पृ० २८ ), बुल्ली ( वही, पृ० ५२ ), डोला ( शृंगार-सर्वस्व, पृ० २३, मुकुन्दा पृ० १६, २४ ), भावज ( मुकुन्दा ० २८, ३६ ), छन्न ( वही, २७ ), ।

१- हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास ।

२- हर्ष चरित एक सां० अ०, पृ० १५२

३- दुगूलपट्टप्रभवे शिखण्ड्यपाणि पांडुनी पीण्डु वाससी वसानः ।-

हर्ष उच्छ्वास ४

४- हर्षचरित एक सां० अ०, पृ० ७८



भावज (वहीं, सू, ३६), तमन (निष्ठाधी० सू० ४६), रण्डा (कूर्ममंजरी,  
देशीपदेश), सुरंग (दश कु० ३३), कलहार (शृङ्गार-हाट, ६३), कारा  
(वहीं, ७४), महजर, महजरिका (कादम्बरी); मल्ल (अविमारक, १६४,  
मल्लक (मृ० क० पञ्चवाँ अंक), कुटनी । चिल्ला (माल १५४) आदि शब्द  
देशीभाषाओं के ही शब्द हैं जिन्हें संस्कृत में स्वीकार कर लिया गया है । पिक,  
भेम और तामरस शब्दों की शबरस्वामी नेलेच्छु भाषा का शब्द बताया है ।<sup>१</sup>  
कुमारिल ने दौम शब्द की भी संस्कृत के शब्दार्थक टुट्टु धातु से निष्पन्न न  
मानकर रुद्र माना है जिसका 'देशी' होना सूचित होता है ।<sup>२</sup> हमचन्द्र  
ने देशीनाममाला में निम्नलिखित संस्कृत में प्रयुक्त शब्दों की देशी संज्ञा दी है—

अक्का - माता (सं०) कातन्त्र २।१।४० में अक्क ।

- भगिनी (देशीनाममाला, १६३)

अम्दा --- - जननी । १।५

अल्ला --- - जननी । सं० माता

अरणा --- कमल १।८

अलिंजर --- जुण्ड १।३३ सं० पानी का घड़ा

अच्छ, --- अत्यर्थ, शीघ्र १।४६

घर --- घर १।५३ सं० में भी ।

अवह --- ऊँचा १।५३ सं० अवट (ऊँचा)

आरीह --- स्तन । १।६३ निम्बवाची त्वरीशब्दः संस्कृतमाः

आयामो --- बलम् दीर्घ इत्यन्ये १।६५

हन्दिन्दिर --- प्रमर १।७६

उशीर --- ब्रिम् (कमलदण्ड) १।६४ संस्कृत में उशीर

कुकुन्दर --- कुकुन्दर नामक जन्तु

उल्लाल --- शब्द १।६६ सं० में महातरंग

१- मीमांसादर्शन, १।३।१० पर शाबरभाष्य ।

२- वहीं, ६।१।२४ पर दुष्टीका ।

३- ये सन्दीप रिचर्ड पिंशेल द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला' के हैं ।

उद्धरण - उच्छिष्ट १। १०६ सं० वमन करना

जीघसर - अनर्थी गृह्णारिप्रवाहश्च १। १७०

कथा - अन्धिकाधूतकमदिका २। १

कन्दी - मूलकशाकम् २। १

कंतु - काम : ( २। १ ) सं० कन्तु - काम, कृत्य, खरी

कन्दल - कमाल २। ४

कंटी - कण्टकारिका २। ४

कंटील - कंकोड ( कंकाल ) ? २। ७

कलम - कलमी तथा कुसुमाली वीरः ? २। १०

कराली - दन्तपवनकाष्ठम् । २। १२ सं० में कराल - दन्तरांग, काला बकूल

कण्ठ - कण्ठ

काहली - तरुणी २। २६ संस्कृत में भी । काह्लि - गांप २। २८

काहार - धीवर २। २७

कासार - सीसपत्रक २। २७ सं० में तालाब ।

कुररी - पशु २। ४० सं० में कुररी - कुरर पक्षी की पत्नी वीर भेड़ ।

कीट्ट - नगर २। ४५ सं० के गट्ट, राज प्रसाद

कीणा - लुट्ट २। ४५ सं० नील पीटने की लकड़ी या चांब

कील - ग्रीवा २। ४५ सं० में गौद

कीलाहल - खरातम् २। ५० सं० में तुमुलध्वनि के लिए

काहल - मृदुष्ठक २। ५८ सं० में सूखा, उत्पाती, विल्लि, काक, आवाज़, मुर्गी आदि ।

करंक - मिट्टापत्र, अशोक वृक्ष २। ५५ सं० में केवल पत्र

( ताम्बूलकरंकाहिली - रादम्बरी में

कुम्पिल - सिंध फोड़ने वाला चार, चार, पिरुक २। ६२ सं० में कुम्पीलक (मृच्छकटिक)

उसी प्रकार के चार के लिए हैं ।

खुल्ल - कुटी ( खोली मराठी में ) २। ७४ लेकिन सं० में नीच या झोटा

जै - उल्लतात - बाबा

खीद - खन ( लूटा ) २। ८० सं० में लूटा, लंगड़ा

गढ़ - दुर्ग २८१ सं० में भी

गंज - गाल २८१ सं० गंज- ज्ञान, उषी

घरट्ट - चक्की (निष्पद्य०)

चन्द्रिल - नाई ३२ सं० में इस चन्द्रिल कहा गया है।

चहुल - तिलक ३८ सं० में चहुल - तिलक

चिल्ला - शकुनि नामक पक्षी । ३६ सं० में चील

चुल्ली - शिला ३१५, सं० चुल्हा भी अर्थ है।

चूकल - कुण्डल, गाल, निशाल, दालाफलक ३२० सं० गाल ( हिन्दी में चक्ला )

क्षात - कृश ३३३ हर्षचरित प्रथम उच्छ्वास में 'क्षातंकुकात्तरदृश्यमानि ?' ।

क्षातीदरी युवदृशां दाणामुत्सवां ऽमृतं- (शिशु०) यहाँ लिपिकार ने  
क्षातीदरी पाठ कर दिया है जो त्रुटिपूर्ण है। यहाँ क्लृप्त के अर्थ में  
इसका प्रयोग हुआ है - अर्थात् जिन्का पेट ( ब्रह्म आने माना ) छाट  
कर बनाया है।

जाल - शराब ३४१ सं० में बूझ, पीठी की शराब

टंक - क्ली, अनित्र ४४ संस्कृत में भी टंकैमनः शिल्पिण विदार्यमाणः- मृ० १२

हम्बर - कर्षी ४८ सं० में बासम्बर

तामस - क्लौदभवपुष्पम् ५१० सं० पद्म विशेष अर्थ है।

तिमिंगिल - मीन ५१३ लेकिन सं० में विशिष्ट मक्खी का वाचक हो गया है।

तुलसी - सुरलता ५१४ सं० में वृद्धाविशेष।

हट्ट - हाट, ( ? )

परिवाह - दुर्विच्य ६।२३ सं० परीवाह (?) - बाट ?

पिन्कीली - मुखमारुतापूरिततृणावाधवाचकः ६।४७, पादताहितक ५२ श्लोक।

पिङ्गुल, पिंसुली भी इसी अर्थ को बोधित करते हैं। इसकी ध्वनि भेदक के टरनि  
जैसी थी।

पिंहीर - अनार ६।४८ सं० में भी। अन्य अर्थ सं० में समुद्रफेन।

पंसुल - कौन्डिल, जार ६।६

पाल - शौण्डिक, जीर्ण ६।७५

बल्ल - पंक ६।८६ सं० में घना

मल्ल - रीक ६।९६ सं० मल्लक भी है।

मंड - मागध द। १०६ मण्डूतनिशाकर में है ।

मच्छली - कलात्कार द। ११३ गरालिका से क्या सम्बन्ध ?

मंजीर - शृंगला द। ११६

माला - ज्योत्स्ना द। १२२ सं० माला

मालूर - कपित्थ, विल्पवाची तु संस्कृतनामः द। १३० भेषाकर्म "मालूर-मालापनम्"

गाजर - गाज राति - गृज्जन्म् ।

भण्ड - भण्डी - भेन्टा द। १३२ सं० में भी है ।

भण्ड - महावत द। १३२ सं० मृत्भण्ड आदि नामों में ।

गड - कण्ठ, मृत द। १४१ सं० महमजापिता क्रिया का प्रयोग पाया जाता है ।

मराली - सारसी, सूजी, दूती द। १४२

रौलम्ब - भ्रमर ७। २ शलम्ब शब्द संस्कृतऽपि कौचिद्गतानुगतिक-तया प्रयुज्यते ।

लंच - कुबकुटः । उत्कीर्णवाची तु संस्कृतसमः ७। १७

लालस - मृदु , इच्छा ।

वल्ली, वल्लरी, विल्लरी - कैश ७। ३२

वीची - लघुरथ्या ७। २३ सं० में तरंग ।

वरंडा - प्राकारः, क्षीतपाली ७। २६ सं० में भी ( वरंडालम्बक ? )

हरंब - महिषा, डिण्डिम ८। ७६ सं० गणीय ।

प्रा० ब्रिटिश में कन्नड़-औरी शब्द कौषा में ऐसे संस्कृत शब्दों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की है, जिनका सम्बन्ध द्रविड़परिवार की भाषाओं से है, उनमें से कुछ प्रमुख शब्द यह हैं - कन्दल, कीलाल, कुंज, कुंजर, कुन्तल, कुरल, क्यूर, पाली, पूत (नितम्ब), पुर (चर्म), मुख, शुक्ति, एड़ (मैंड़), एणा (मृग), काक, कुत्तूर, कुबकुट, कौक, गरुड, किल्ली, कलाग, मस्ट, मुक्ता, अकै (आक का पीघा) ऐला,वस्ति, घुणा,मैठ (बकरी) आदि ।

टी० बर्ग में जल,जकै,जला, उल्लुल, कट्ट, कडिन, काक, जानन, कुटि, कौणा, जल, चतुर, तूल, दण्ड, नीर, पण्डित, बल, बिल, मयूर, महिला आदि शब्दों की द्रविड़ भाषा परिवार से जोड़ा है । कलाहु, ज्योती, जारि, जम्बाल, जाम्बूल, मरिच, लंगल और सषपि आदि शब्दों की वे मुण्डामाषापरिवार--

१- ब्रिटिश, कन्नड़-इंग्लिश डिक्शनरी, मुमिका (मालीर)

का बताते हैं ।<sup>१</sup>

हम कुछ और ऐसे शब्द प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका मूल प्रादेशिक भाषाओं में ही <sup>२</sup>जा सकता है -

अर्वाट<sup>३</sup> ( अर्वाट ), बाबु<sup>४</sup> (बूडा), आमीचोट<sup>५</sup> ( एक प्रकार का वस्त्र ),  
उज्जास<sup>६</sup> ( अविहारपत्र ), करण्ड<sup>७</sup> ( बाँसनिर्मित टोहरी ), झरी<sup>८</sup> ( बिछड़ा ),  
काचर, ( पीठा ), कांजिका<sup>९</sup>, (महरी), झिल्लट<sup>१०</sup> (रबड़ी ), झुटनी<sup>११</sup>,  
( झुटनी-मुसल ), झण्ड<sup>१२</sup>, घण्टा<sup>१३</sup>, खटिका<sup>१४</sup> (खड़िया), खस, (खस-  
खस ), ख्वाश, ( मृत्यु ), घटिल<sup>१५</sup> ( लम्बी गद्दन वाला ), चार्टा<sup>१६</sup>, ( चटनी ),  
कलहण्टा<sup>१७</sup>, ( कुंड़ी ), चिरिका<sup>१८</sup>, ( चीर ), फिली-मली<sup>१९</sup> ( फांज ), टिप्पिक,  
( टोपी ), टुप्पिका<sup>२०</sup>, ( टुपिया या टोपी ), लटुम्पक<sup>२१</sup> ( एक प्रकार की टोपी ),  
यि देशी शब्द फ़ैल डॉमिन्द्र के लघुकाव्यों में संगृहीत किए गए हैं । संस्कृत के कथा,  
नाटक, भाषा, प्रहसन के अतिरिक्त पुराणों में से ऐसे शब्दों का एक विशाल कोश  
तैयार किया जा सकता है ।

संस्कृत भाषा पर आंचलिकताका प्रभाव एक ही शब्द के विभिन्न उच्चारणों  
और अलग-अलग अर्थों से भी प्रभावित हो जाता है । यथा- मुसल, मुसल, मुसल-  
तीनों का एक ही अर्थ है किन्तु प्रान्त भेद के आधार पर उनका उच्चारण बदल

१- विशेष विवरण के लिए देखिये टी० बरी०-संस्कृत भाषा (हिंदी अनु० डा०  
मोटा संकर व्यास ), पृ० ४५७-४६६ ।

२- डॉमिन्द्रलघुकाव्यसंग्रह (सम्पा०-डा० जयिन्द्र शर्मा) के आवार पर है । प्रथम संख्या  
पृष्ठ और द्वितीय श्लोकांक की सूचक है । ३६ । ६६

३- ३९७। १०१,	४- ३०४। ३८	५- ४१२। ६६	६- २६१। १४
७- ३२०। १३७	८- ३१३। ६७	९- ३४५। १०७	१०- ३२७। ५६
११- २४। ६	१२- ३६५। १६	१३- वहीं	१४- ३३५। १
१५- २६। २५	१६- ३३०। ६२	१७- ३३७। १५	१८- ३३६। ४
१९- ३६४। ८८	२०- ३२५। ७०	२१- ३६६। ६४	२२- ३११। ४७
२३- ३१८। १०	२४- ४०८। ५६		

जाने से भाषा में ही वे ही प्रयुक्त होने लगा। इसी प्रकार स्याल ( वेद में ), श्याल ( सं० ), सूर्य ( वेद में ), सूर्य सं०, सूजर ( वैदि० ), शूजर ( सं० ) आदि शब्द भी इसी तथ्य की पुष्ट करते हैं। एक ही शब्द के एक से अधिक अर्थ होना और एक शब्द के जिनके पर्यायवाची शब्दों का होना भी भाषा पर प्राविधिक प्रभाव के परिचायक हैं। संस्कृत की विशाल शब्द सम्पत्ति स्वयं इस बात का प्रमाण है कि आर्यों ने संस्कृत को व्यापक रूप देने की धुन में यत्र-तत्र सर्वत्र से शब्दों का चयन कर संस्कृत के मण्डार को समृद्ध किया है।

### लीकनिरुक्ति -

संस्कृत में शब्दों की शुद्धाशुद्धि, व्युत्पत्ति और अर्थविवेचन करने वाला प्रमुख शास्त्र व्याकरण है। किन्तु यह शास्त्र शब्दों और व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न ( यौगिक और रुढ़ ) - दो वर्गों में बांटकर केवल व्युत्पन्न या यौगिक शब्दों का ही विवेचन करता है। यह शास्त्र शब्द की निर्मित में प्रयुक्त धातु-प्रत्ययों का विशेष ध्यान रखता है, अर्थ की ओर इसकी दृष्टि कम हो जाती है। किन्तु भाषा में प्रयुक्त होने वाला शब्द प्रायोगिक होता है, इसी लिए वह सार्थक भी है। किस शब्द का किस अर्थ में प्रयोग कब और क्यों चला ? इस प्रश्न का उत्तर व्याकरण के पास नहीं है। इसलिए शब्द का शास्त्र होने पर भी वह अपूर्ण है। इसकी पूर्णता है -- निरुक्त<sup>१</sup>। यास्क का स्पष्ट मत है कि शब्द के अर्थ की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। शब्द की रुढ़ समझकर उसके निर्वचन से विमुख नहीं हो चाहिए, संक्षेप पर व्याकरण की उपेक्षा ही ठीक है; क्योंकि शब्दों के अर्थों में वृत्तियाँ सदैव उत्पन्न कर देती हैं।<sup>२</sup> यास्क ने व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दोनों ही प्रकार के शब्दों के निर्वचन करने के उपाय बताए हैं। उन उपायों में से एक उपाय है- देश प्रसिद्धि के आधार पर शब्द का निर्वचन, जो कम्बीजदेश में शव एक गत्यर्थक धातु है किन्तु आर्यों में शव संज्ञावाचक शब्द है।<sup>३</sup>

१- तद् इदं विधास्यानि व्याकरणास्य कात्स्न्यं, स्वाध्यायार्कवा-निरुक्त, १।५

२- अर्थनित्यं परीक्षाति ---- न त्वेदं न निश्चयात् । न संस्कारमाद्रियता विषयवत्यौ हि वृत्तौ भवन्ति । - निरुक्त, २१

३- शव तिर्गितिकमां कम्बीजेष्वेव माष्यन्ते । -- विकारमस्यायैषु माष्यन्ते शव इति -

संस्कृत भाषा में यौगिक शब्दों की अपेक्षा अयौगिक शब्दों की संख्या अधिक है।<sup>१</sup> यास्क में निरुक्त के एकदिककाण्ड ( अर्थात् चौथे, पाँचवें एवं छठे अध्याय ) में कुछ अयौगिक शब्दों का संकलन कर निर्वचन भी किया है। लौकभाषा में भी ऐसे शब्दों की शुरुआत होती है जिनका मूल ढूँढ़ निकालना प्रायः असम्भव ही रहता है। ऐसे शब्दों का निर्वचन करते समय हमें शब्द के प्रचलित अर्थ के साथ-साथ लौक की शब्द निमाणी की प्रवृत्ति, उन शब्दों की व्युत्पत्ति और इतिहास या ( उनकी पृष्ठभूमि) का भी अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

लौक की शब्द निमाणी की प्रवृत्ति बड़ी विचित्र होती है। कौन सा शब्द कब और किस आधार पर चल पड़ा, इसका निश्चित ज्ञान प्राप्त करना बहुत ही कठिन कार्य है। व्याकरण तो इसके समाधान में सर्वथा अस्हाय प्रतीत होता है। हमारी दृष्टि में कार्य, अर्थ, ध्वनि साम्य या अनुकरण, घटना, सामाजिक सम्बन्ध और कल्पना इन तत्त्वों के आधार पर शब्द के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। संस्कृत ग्रन्थों में, विशेषतया रामायण, महाभारत और पुराणों में अनेक शब्दों के निर्वचन इन्हीं तत्त्वों के आधार पर किए गये हैं। आज के भाषाशास्त्री इन्हीं तत्त्वों के आधार पर किए जाने वाले निर्वचन की लौकनिरुक्ति को संज्ञा देते हैं।<sup>२</sup> अब हम कुछ बब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हैं। जिनकी व्युत्पत्ति या अर्थ करते समय संस्कृत कवियों ने व्याकरण की कड़ीकर लौकरम्परा का ही आश्रय लिया है -

अप्सरः- रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों के अनुसार समुद्रमन्थन के अवसर पर अप्(कल) से उत्पन्न होने वाली स्त्रियाँ अप्सरा हैं। वाल्मीकि ने अप्सरः शब्द का यही निर्वचन किया है -

अप्सु निर्मथानिव रसात् तस्माद् वस्त्रिभ्यः ।

उत्प्रेतुमनुज श्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवत् ॥<sup>३</sup>

१- सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतीऽप्येकदिका : । वहीं, १।५

२- बृह परामेश के लिए लेखक डा० अम्बा प्रसाद सुमन का आभारी है।

३- रामायण, १।४५।३३

यदा एवं राधास - रामायण के अनुसार प्रजापति ने जलों का निर्माण कर उनकी रक्षा के लिए कुछ प्राणियों को उत्पन्न किया।

उन्होंने प्रजापति से पूछा- हम क्या करें ? ब्रह्मा ने कहा - रक्षाम् । उत्तर में कुछ ने यक्षामः और कुछ ने रक्षामः कहा। यक्षामः कहने वाले यक्ष और रक्षामः कहने वाले राक्षस हुए -

रक्षाम इति धेरुक्तं <sup>राक्षसास्ते</sup> ~~यक्षमास्ते~~ भवन्तु वः ॥

यक्षाम इति धेरुक्तं यदा एव भवन्तु वः ॥ १३ ॥ <sup>क १</sup>

दात्रिय- कालिदास ने रघुवंश में 'दातात्त्रिवायतहृत्युदगः' दात्रस्य शब्दों भुवनेषु रट्ट लिख कर 'दात- विपति से बाणा - रक्षा करने वाला' यह दात्र या दात्रिय शब्द अर्थ बताता है जिस उन्होंने 'रट्ट' कहा है।

कमी-कमी शब्द का निर्वचन करने में उपहास या व्यंग्यतत्त्व भी काम करता है,

यथा ---

दीक्षा- दीमन्त्र में उमीगुरुजों पर व्यंग्य करते हुए दीक्षा शब्द का अर्थ 'दीनारक्षायक' णाद् दीक्षीत्युक्ता किया है।

दिवि- दैत्यदयं कृतं यस्माद् भवता दिवि रौदितम् ।

तस्मात् त्वं दिविरीं नाम भुवि ख्याती भविष्यति ॥ <sup>५ ४</sup>

कमी -कमी व्यक्ति के गुणावगुणों की सम्पुष्टि के लिए शब्दों को तीड़-मरीड़ कर या कई शब्दों में से एक-एक शब्द का व्यन की कल्पना कर निर्वचन किया गया है -

खचित्त्रमपि मायावी रक्षत्येव लीलया ।

लघुश्च मङ्गां मर्ष्य तस्मात् खल इति हृतः ॥ <sup>६</sup>

१- विशेष विवरणार्थ द्रष्टव्य- वहीं, ७।४।६-१३

२- रघु० २।

३- देशीपदेश, ८।३

४- नर्ममाला, १।१५

५- देशी०, २।१



कायस्थ - काक - से का, यम से य, स्थिति स्थ - कायस्थ ।

काक्वत् - दृढता, यमवत् निष्ठुरता और स्थत्वित्वात् स्वाधीनता-  
इन तीनों गुणों का समावेश होने के कारण ही मानी वह कायस्थ है  
( दीपिन्द्र )

कभी-कभी विदेशी शब्दों का सही अर्थ न समझ पाने के कारण केवल ध्वन्यनु-  
करण के आधार पर शब्द का निर्माण कर लिया जाता है । ऐसे शब्दों के निर्माण  
में लोकमानस ही अधिक काम करता है । जैसे बाणभट्ट ने हर्षविरित के सातवें उच्छ्वास  
में अलंकण्डर के लिए अलसश्चण्डकीश शब्द प्रयोग किया है । अलस + चण्डकीश अर्थात्  
आलसी किन्तु प्रचण्ड किस्मन् । इतिहास में सिकन्दर की विजययात्रा अति प्रसिद्ध  
है । उसमें अनेकों घमासान युद्धों के उपरान्त विस्तृत भू प्रदेश पर अपना अधिकार जमा  
लिया था, किन्तु अपनी विजय यात्रा में उसने एशियामाइनर में स्थित समोजन नामक  
स्त्रीराज्य पर चढ़ाई नहीं की थी । इसी लिए मानी वह 'आलसी' था । अलंकण्डर के  
अलसश्चण्डकीश के रूप में जो अर्थ है, वह लोकमानस के धरातल पर ही टिका हुआ है ।

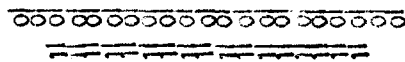
उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य संस्कृति के  
विस्तार के साथ-साथ आर्यों का नये-नये वृद्धों, पशुओं, वस्त्रों, भाष्यादि पदार्थों  
से परिचय होता गया, फलतः उनकी भाषा में नये-नये शब्दों का संक्रमण होता  
गया । जब ऐसे संस्कृतशब्द संस्कृत में सुप्रतिष्ठित हो गए, तो उन्हें 'संस्कृत शब्द'  
सिद्ध करने की धुन में विद्वानों ने उनके निर्वचन करना प्रारम्भ कर दिया । इस निर्वचन  
प्रक्रिया में उन्होंने शब्द के प्रचलित अर्थ, कार्य, उसकी पृष्ठभूमि, सामाजिक मान्यताएँ,  
ध्वन्यनुकरण और कल्पना का आश्रय लिया है । किन्तु इस कार्य में शास्त्रीय मस्तिष्क  
का नहीं, लोकमस्तिष्क का ही प्राधान्य रहा है ।

-----  
-----

## उपसंहार-

निःसन्देह संस्कृत साहित्य विशिष्ट साहित्य है, उसकी भी अधिकांश में <sup>रचना</sup> दरबारी कवियों में ही की है किन्तु वे इस 'लोक' में रहे हैं। लोक के सुख-दुःखों का उन्होंने अनुभव किया है और लोक की आत्मा के दर्शन भी किए हैं। यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में लोकतत्व अपने मूल रूप में नहीं मिलकर कुछ सुसंस्कृत रूप में बदल गए मिलते हैं। यही तो लोक की निरन्तर गतिशीलता है। वह एक निश्चित परम्परा में रहने वाली <sup>बदलते रहते</sup> प्रतिष्ठा है। इसलिये लोक को पञ्चानन के लिये परम्परा और नवीनता दोनों में सूक्ष्मसन्ध स्थापित करना होगा, उसी के बल पर नवीन मान्यताओं का परम्परा परम्पराओं का नवीन मान्यताओं से जो सम्बन्ध है, उसे उस समझा जा सकेगा। एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जायेगा। लोक प्रचलित आख्यान जब पुराणों में स्वीकार कर लिए तो वे अब लोकप्रचलित रहि न रहकर पुराण प्रचलित हो गए। इस प्रकार हमारे ज्ञान की वही गति हुई कि गंगा से निकली हुई नहर की तो गंगा <sup>और नहर</sup> नहर मानने लगे।

पूर्व परिच्छेदों में उल्लिखित सभी विषयों का सीधा सम्बन्ध लोक मान्य है। शास्त्रीय चेतन्य ऐसी बात की किसी में ही स्वीकार करता है। किन्तु फिर भी वह स्वीकृति उस पर बाधा नहीं डालती। यही स्थिति संस्कृत साहित्य की है। उसका शरीर भले ही शास्त्रीय है, किन्तु मानस <sup>है</sup> सब लोकमानस में अवगाहन करता है।



सन्दीप - ग्रन्थ

### वैद, धर्मशास्त्र और पुराणाग्रन्थ -

- (१) ऋग्वेद : सायणामाष्यसहित ( पुना )
- (२) यजुर्वेद : दयानन्दमाष्य ( अजमेर )
- (३) अथर्ववेद : सातवर्णिक कृत हिन्दी अनु० ( स्वाध्यायमण्डल, पारडी )
- (४) शतपथब्राह्मण : श्वरसम्पादित ( चौरबम्बा )
- (५) ऐतरेय ब्राह्मण : निणयिसागर संस्करण
- (६) वैमिनीयौपनिषद् ब्राह्मण : निणयिसागर संस्करण
- (७) पारस्कर गृह्यसूत्रम् : हरिहरमाष्योद्गीतम् ( लक्ष्मीविक्रंटे बर प्रेस, बम्बई )
- (८) निरुक्त : दुर्गावृत्ति सहित ( पुना )
- (९) स्मृतिचिन्दा भाग १, २, ३ ( मन्सुखरायमौर, ५ कलाह्वरी, कलकत्ता, वाराणसी )
- (१०) अग्निपुराण : सम्पा०- बलदेव उपाध्याय ( वाराणसी )

### संस्कृत पद्यकाव्य -

- (१) वाल्मीकि : रामायण (मूल), गीता प्रेस गीरखपुर-
- (२) व्यास : महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित), गीता प्रेस गीरखपुर
- (३) अश्वघोष : बुद्धचरित ( सम्पा० )
- (४) कालिदास : रघुवंश ( संजीवनी टीका ), बैकंठेश्वर प्रेस बम्बई
- (५) ,, ,, : कुमारसम्भव
- (६) ,, ,, : मेघदूत ( सम्पा०-कार० कालिदास सम्पादित ), बुकसेल्स पब्लिशिंग कं० बम्बई
- (७) भारवि : किरातावृत्तीय ( धिंतापथ टीका ), चौरबम्बा सं०, वाराणसी
- (८) माघ : शिशुमालवध ( संजीवनी टीका ), ,, ,, ,,
- (९) अमरक : अमरशतक ( रसिकसंजीवनी टीका ), ,, ,, ,,
- (१०) गोवर्धन : आयसिप्तशती ( डा० रामाकान्त त्रिपाठी ) ,, ,,
- (११) सोमदेव : कथासरित्सागर (मूल), मोतीलाल बनारसीदास, सोनी रोड, जवाहर नगर, नई दिल्ली ।
- (१२) दामोदर : दामोदर लघुकाव्य संग्रह ( सम्पा०-डा० दामोदर शर्मा प्रकाश संस्कृत परिषद्, उस्मानिया वि० वि०, हैदराबाद ) के अन्तर्गत देशोपदेश, नर्ममाला, समयमातृका, दर्पदलन ।

- (१३) मंखक : श्रीकण्ठ चरित, निणयिसगर प्रेस, बम्बई
- (१४) कल्हण : राजतरंगिणी ( पाण्डेय रामतैजशास्त्रीकृत हिन्दी अनुवाद संहिता ),  
पण्डित पुस्तकालय, काशी
- (१५) धीधी : पवनद्वत ( सम्पा०-डा० परमानन्द शास्त्री ), प्रज्ञाप्रकाशन, आदित्यनगर,  
अलीगढ़ ।
- (१६) श्री हर्षा : नैषाधीमें चरितः ( प्रकाश टीका ), निणयिसगर प्रेस, बम्बई
- (१७) ज्येष्ठ : गौतमीविन्द ( सम्पा०-कैदारनाथ शर्मा ), चौरबम्बा विद्यामन,  
वाराणसी
- (१८) नारायणस्वामी : संस्कृत श्रुति सागर ( सं० सीताराम नरुपदी ), विक्रमपरिषद  
काशी

### संस्कृत गद्य एवं चम्पूकाव्य-

- (१) सुबन्धु : वासवदत्ता, बाणनिधिलस प्रेस, वाराणसी
- (२) दण्डी : दशकुमार चरित, निणयिसगर प्रेस
- (३) बाणभट्टः कादम्बरी ( पी०ए० वैद्य सम्पादित ) पुना
- (४) ,, ,, : हर्षचरित ( ज्ञाननाथ पाठक कृत हिन्दी अनुवाद संहिता ), चौरबम्बा  
संस्करण
- (५) त्रिविक्रमभट्टः कलनम् ( सं० कैलासपति त्रिपाठी ), चौरबम्बा सं०, वाराणसी ।
- (

### संस्कृत नाट्य ग्रन्थ-

- (१) मास : मासनाटकनक ( सम्पा०-बलदेव उपाध्याय, चौरबम्बा संस्करण )  
के अन्तर्गत संकलित सी नाटक
- (२) कालिदास : अमिज्ञानशाकुन्तल ( सम्पा०- डा० निरूपण विद्यालंकार ), साहित्य  
मण्डार, सुभाष बाजार, भरठ
- (३) ,, ,, : मालविकाग्निमित्र ( सम्पा०-एम०आर०कालि ), ए०आर०कालि एन्ड  
का०, बम्बई-२
- (४) ,, ,, : विक्रमीर्षीय ( सम्पा०-रामचन्द्र मिश्र ) चौरबम्बा, वाराणसी ।
- (५) शूद्रक : मृच्छकटिक ( सं०-महाप्रभुलाल गोस्वामी ), चौरबम्बा, वाराणसी
- (६) भवभूति : उत्तरराम चरित ( सम्पा०-डा० कृष्ण कान्त त्रिपाठी ), भारतीय  
विद्या प्रकाशन, कानपुर
- (७) विशाखदत्त : मुद्राराक्षस ( सत्यकृत सिंह ), चौरबम्बा वाराणसी
- (८) हर्षचरित : रत्नावली ( सं०- रामचन्द्र मिश्र ) चौरबम्बा वाराणसी
- (९) भट्टनारायणः वैष्णवीसंहार ( राम देव फा ) ,, ,,

- १०- धूर्तवृत्तसंवाद : | श्रीगारहाट ( सं०- डा० वारुदेव शर्मा अग्रवाल )  
 ११- पादताडितक : | और भीती लाल भेनारिया, प्रका०- हिन्दी-  
 १२- उमयामिकाः : | ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई -४  
 १३- <sup>पद्मप्रभु</sup>श्रीमत्सर्वस्व : |  
 १४- मोहन्द्रविक्रम वर्मा: मत्तविलास प्रहसन ( सं०-कपिलदेव गिरि ), चौखम्बा,  
 वाराणसी  
 १५- काशीपति : सुकुन्दानन्दभाषा ( सं०- दुर्गा प्रसाद एवं काशीनाथ पांडुरंग  
 परब ) निर्णय नागर प्रेस बम्बई ।

अन्य संस्कृत ग्रन्थ-  
 कज्जकवर्धकवर्धकव

( १६-२४ ) उथशास्त्र, कामसूत्र, शुक्रनीति, पंचतन्त्र, द्वितीपदश, शुक्रवृत्ति, बैताल  
 पंचविशति, सिद्धासन द्वात्रिंशत्युत्तिका ।

### प्राकृत काव्य -

- ( १ ) हाल : - गायसदशती ( सं०-डा० परमानन्द शास्त्री ), प्रकाशन  
 प्रतिष्ठान भरत  
 ( २ ) विमलभूरि : पद्मचरित ( सं०-हर्षन जगदीश ), प्राकृत ग्रन्थ परिषद,  
 वाराणसी ।  
 ( ३ ) राजेश्वर : कम्पूर मंजरी ( सं०-स्टैनकीनॉ ) हार्वर्ड यूनिवर्सिटी संस्करण

### अलंकार शास्त्रीय ग्रन्थ- ००००००००००००००००००००

- ( १ ) भरतमुनि : नाट्यशास्त्र ( सं०-बलदेव उपाध्याय ) काशी ग्रन्थ माला  
 में प्रकाशित ।  
 ( २ ) अभिनवगुप्त : अभिनवभारती, गायकवाड़ औ०सी० में बड़ौदा से प्रकाशित  
 ( ३ ) सागरनन्दी : नाट्यकला रत्नकोश ( सं०- बाबू लाल शुक्ला ) चौखम्बा  
 वाराणसी ।  
 ( ४ ) दण्डी : काव्यादेश ( सं० राम चन्द्र मिश्र ) चौखम्बा वाराणसी  
 ( ५ ) रुद्रट : काव्यालंकार ( सं० - रामदेवशुक्ल ) ,, ,,  
 ( ६ ) आनन्दवर्धन : ध्वन्यलोक ( सं०- रामनागर निपाठी )  
 ( ७ ) हर्षचन्द्र : काव्यानुशासन, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई  
 ( ८ ) मम्मट : काव्यप्रकाश ( यामनाचरण मल्लिकार्जुन की टीका सहित )  
 निर्णयनागर प्रेस

- (६) राजशेखर : काव्यमीमांसा ( सं०-डा० गंगासागर राय ) चौखम्बा वाराणसी
- (१०) रायक : अलंकारसर्वस्व ( सं०-रैवाप्रसाद ) ,,
- (११) महकदार : वृत्तरत्नाकर ( सं०-वरानन्द शास्त्री, मीती लाल बानारसी दास ) क० दिल्ली ।
- (१२) विश्वनाथ : साहित्यदर्पण ( सं०-शालिग्राम शास्त्री ) ,, ,,

### तन्त्र-मन्त्रग्रन्थ -

- (१) : इन्द्रजालविद्यासंग्रह, जीवनानन्द विद्यासागर, कलकत्ता ।
- (२) श्रीरामशर्मा : वैदिक मन्त्र विद्या, संस्कृति संस्थान, बीरजी ।
- (३) ,, ,, : मन्त्रमहाविज्ञान ,, ,, ,,

### व्याकरण एवं जीश ग्रन्थ-

- (१) पतन्जलि : व्याकरण महाभाष्य ( कीलकान्त संस्करण )
- (२) वामन-अथादित्यः काशिका ( सं० शीमित मिश्र ), चौखम्बा वाराणसी
- (३) अमर सिंह : अमरकोश ( रामाश्रमी टीका ), चौखम्बा वाराणसी
- (४) अमचन्द्र : देशी नाममात्रा ( सं०-रिवहंपिशिल )
- (५) रिवहंपिशिल : प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण ( हिन्दी अनु०-अमचन्द्र जीश ) बिहार राष्ट्रीयभाषा परिषद, पटना ।
- (६) सूर्यकान्त : वैदिकजीश, हिन्दुविश्वविद्यालय, काशी
- (७) आर्प्टे, वी०एस्० : संस्कृत - अंग्रेजी जीश, मीतीलाल बनारसीदास, क० दिल्ली ।

### इतिहास -समालोचनादिग्रन्थ-

- (१) अग्रवाल आ० सी : प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास ए० च० एन्ड क० दिल्ली ।
- (२) अग्रवाल वसुदेवशरण : कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा वाराणसी
- (३) ,, ,, : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् पटना
- (४) ,, ,, : प्राचीन भारतीय लोक धर्म, ज्ञानादित्य ट्रस्ट, अहमदाबाद
- (५) उपाध्याय, बलदेव : भारतीय साहित्य शास्त्र, नन्दकिशोर एन्ड सं०, वाराणसी ।

- (६) उपाध्याय, माणवतशरणा : गुहाकाल का सांस्कृतिक इतिहास, सूचना प्रकाशन विभाग, भारतसरकार
- (७) कृष्णचैतन्य : संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास (हिन्दी अनु० विनयकुमार राय,
- (८) कीथ, ए०जी० : संस्कृत नाटक ( हिन्दी अनु० डा० उदयमानसिंह), मोती लाल बनारसीदास, नई दिल्ली ।
- (९) कीर्थन, ए० बी० : वैदिक धर्म एवं दर्शन ( हिन्दी अनु० डा० सूर्यकान्त) मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली ।
- (१०) काणे, पी०वी० : धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग) हिन्दी अनु० जगन् नारायण कश्यप हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ ।
- (११) कात्रि, एस०एम० : प्राकृत भाषाएँ और भारतीय संस्कृति में उनका अवदान, राजस्थान हिन्दी अकादमी, जयपुर ।
- (१२) मैरीला, माचस्पति : संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास, चौखम्बा वाराणसी ।
- (१३) बरौ टी० : संस्कृत भाषा ( हिन्दी अनु० डा० मोला शंकर व्यास), चौखम्बा वाराणसी ।
- (१४) मङ्गमदार, रमेश चन्द्र : प्राचीन भारत ( हिन्दी अनुवाद )
- (१५) मिश्र, शिवशैलवर : भारतीय संस्कृति में अर्थतरांश, हिन्दी विभाग, लखनऊ वि० वि०
- (१६) व्यास, मोलाशंकर : संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन, चौखम्बा वाराणसी
- (१७) शर्मा, देवीदास : कालिदास की कला और संस्कृति, साहित्य मण्डार भैरठ
- (१८) शर्मा, वीरबाला : संस्कृत में एकांकी रूपक, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भीमाल।
- (१९) शास्त्री, नैमिचन्द्र : प्राकृत भाषा और साहित्य का बालीवनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी

### विभिन्न शीघ्र ग्रन्थ-

- (१) कर्माने लाल : - संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, कैलाश प्रकाशन लखनऊ ।
- (२) अग्निहोत्रीराजीव लीचनः बौद्धखण्ड के संस्कृत काव्य, चौखम्बा वाराणसी
- (३) अग्रवाल बासुदेव शरणा : पाणिनिकालीन भारतवर्षी, चौखम्बा वाराणसी
- (४) दीक्षात, सुरेन्द्र नाथ : भारत और भारतीय नाट्यकला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
- (५) द्विवेदी, माचस्पति : कथासाहित्य-एक सांस्कृतिक अध्ययन, प्रका० सुशील कुमार द्विवेदी, मुरारका २० का० पटना ।
- (६) मिश्र, श्रीनिवास : संस्कृत साहित्य में भाषा, साहित्य मण्डार भैरठ



- (७) मिश्र, शिवशरमर : मानसोल्लास-एक सांस्कृतिक अध्ययन,  
चौखम्बा वाराणसी ।
- (८) राघवन, वी० : मीन वृत्त शृंगार प्रकाश(अंग्रेजी), पुनर्मुद्रित  
प्रकाशन, मद्रास
- (९) शास्त्री, परमानन्द : संस्कृत गीतिकाव्य का विकास, प्रकाशन  
प्रतिष्ठान मेरठ
- (१०) शुक्ल, रमेश चन्द्र : नाट्य संस्कृति सुधा, संस्कृत परिषद, अलीगढ़

### विभिन्न हिन्दी ग्रन्थ-

- (१) उपाध्याय, कृष्णदेव : लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन,  
प्रा० लि० इलाहाबाद
- (२) ,, ,, : हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास १६ वां  
भाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी ।
- (३) द्विवेदी, हजारी प्रसाद : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार  
राष्ट्र भाषा परिषद पटना
- (४) नहाटा, अगरचन्द्र : प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, भारतीय  
विद्या मन्दिर शीघ्र प्रतिष्ठान वीरगंज
- (५) परमार, श्याम : लोकधर्मी नाट्य परम्परा, हिन्दी प्रचारक  
पुस्तकालय, वाराणसी
- (६) सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, शिवलाल अग्रवाल  
एण्ड कौ०, अग्रा ।
- (७) ,, : मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लौकतात्त्विक  
अध्ययन, विनोद पुस्तक मन्दिर अग्रा ।

### हिन्दी पत्रिकाएँ -

सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक		
,, ,, कला विशेषांक		हिन्दी साहित्य सम्मेलन
तथा ४०। २, ४०। ३, ४१। २ एवं ४२। ३ अंक		प्रयाग

English books.

- (1) Agarwal, V.S. : Ancient Indian Folk cults,  
Prithvi Prakashan, Varanasi.
- (2) Chakravarti, Chandra, : Sex life in ancient India,  
Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta.
- (3) Cox, G.W. : Introduction to the Science of comparative  
Mythology and folklore (London)
- (4) Dange, S.A. : Legends in the Mahabharat.  
Motilal Benarsidass, New Delhi.
- " So many articles published in different journals.
- (5) Devasthali, G.V. : Religion and Mythology of the Brahmanas.  
University of Poona.
- (6) De, S.K. & Dasgupta, S.N. : A History of Sanskrit Literature Vol. I  
University of Calcutta.
- (7) Om Prakash : Food and drinks in Ancient India.  
Munshi Ram Manohar Ram, Delhi.
- (8) Sarkar, V.K. : The folk element in Hindu Culture.  
Oriental books reprint corporation New Delhi. 55.
- (9) Winternitze, : History of Indian Literature (English Tr. Subhadra  
Jha)  
Moti Lal Benarsi Dass New Delhi.